भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप

(निबन्ध-संग्रह)

राष्ट्रियपण्डित श्री वज्रवल्लभ द्विवेदी
निदेशक, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठान

प्रकाशक
शैवभारती-शोध प्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - 221 001

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला — २८

भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप

(निबन्ध-संग्रह)

लेखक

राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

निदेशक, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशक

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७ जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथम संस्करण, २००२ ई.

मूल्य : सजिल्द रु० ३५०
अजिल्द रु० ३००

अक्षर संयोजन :
आकार क्रियेशन,
ई. ८ फेज-२ प्रेमचन्द कालोनी, पाण्डेयपुर,
वाराणसी - २२१ ००२

मुद्रक :
मित्तल आफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series—28

BHĀRATĪYA SAMSKṚTI
KĀ SAMAGRA SVARŪPA

By

R. PT. VRAJAVALLABHA DWIVEDI
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-52-1 (Hb)
81-86768-53-X (Pb)

First Published - 2002

Price : Rs. 350 (Hb) Rs. 300 (Pb)

Laser Typeset :
Akar Kriation
E-8, Phase-2, Premchand Colony, Pandeyapur,
Varanasi-221 002

Printed at :
Mittal Offset
Sunderpur, Varanasi-221 001

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक

श्रीकाशीविश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु
डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का

शुभाशीर्वचन

पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी तन्त्रागमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं एवं संस्कृत सारस्वत-लोक के गिने-चुने विद्वानों में एक हैं। इनके द्वारा हिन्दी और संस्कृत भाषा में विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थों के रचना हुई है। उनमें तन्त्रागमशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ अधिक हैं। पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने चन्द्रज्ञान, मुकुट, सूक्ष्म, कारण, पारमेश्वर आदि अनेक आगमों का हिन्दी भाषा में सुन्दर ढंग से अनुवाद भी किया है। काशी तथा अन्यत्र आयोजित अनेक गोष्ठियों में प्रस्तुत करने के लिए, विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए इनके द्वारा विभिन्न विषयों पर आधारित निबन्ध भी लिखे गये हैं। इनमें हिन्दी भाषा में लिखित निबन्धों का संग्रह ही यह ग्रन्थ है।

वस्तुतः इनके निबन्ध-संग्रहो के चार ग्रन्थ पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें दो संस्कृत निबन्धों के संग्रह हैं और दो हिन्दी निबन्धों के। ''तन्त्रयात्रा'' तथा ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' नाम के दो संस्कृत निबन्धों के संग्रह एवं ''आगम और तन्त्रशास्त्र'' तथा ''निगमागम संस्कृति'' नाम के दो ग्रन्थ हिन्दी निबन्धों के संग्रह हैं। इनमें से ''निगमागम संस्कृति'' और ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' ये दोनों ग्रन्थ हमारे जंगमवाड़ी मठ के वीरशैव अनुसन्धान संस्थान एवं शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित हैं। इस शृंखला में ''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' नामक यह ग्रन्थ भी पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के द्वारा लिखित हिन्दी निबन्धों का संग्रह है। इसमें नैगमिक एवं आगमिक दृष्टि, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विश्लेषण, जीवन-वृत्त तथा ग्रन्थ-समीक्षा नाम के चार प्रमुख विभाग बनाकर उन विषयों से सम्बद्ध लेखों को रखा गया है।

इस प्रपंच में अनेक संस्कृतियाँ हैं। उनमें भारतीय संस्कृति का अपना अलग ही महत्त्व है। भारतीय संस्कृति किसी अन्य संस्कृति से द्वेष नहीं करती, बल्कि

गुणों के आधार पर सबको अपनाती है। भारत में अनेक धर्म और दर्शनों का प्रचार होने का यही कारण है । भारतीय संस्कृति भगवत्प्राप्ति के किसी भी उत्तम मार्ग का विरोध नहीं करती, अपितु विभिन्न रुचियों के कारण मार्गों में विविधता होने की बात को स्वीकार करती है। इस बात की पुष्टि के लिए "रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव" पुष्पदन्त की इस उक्ति को प्रमाण के रूप में देख सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह कदापि नहीं होना चाहिए कि जो कोई आए, जैसे भी रहे, कुछ भी करे, तो भी भारतीय संस्कृति उन सबको कायर की भाँति देखते हुए मौन रहती है। यह संस्कृति अपने ऊपर अन्याय-पूर्वक आक्रमण करने वालों को सदा सबक सिखाती आयी है। तभी तो अब तक यह जीवित है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति सहनशील भी है और अन्याय के प्रतिरोध में सक्षम भी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को प्रकाशित करने वाले अपने निबन्धों का संग्रह किया है। पं. श्री द्विवेदी जी की, वृद्धावस्था को प्राप्त करने के बावजूद ग्रन्थ और निबन्धों के लेखन तथा उनके प्रकाशन कार्य के प्रति जो उत्साह और कार्यक्षमता है, निःसन्देह वह श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है। हम प्रकृत ग्रन्थ के लेखक पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की कामना करते हुए इस शुभाशीर्वचन को पूर्ण करते हैं।

अपनी बात

अब तक हमारे चार निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से दो संस्कृत-निबन्धों के तथा दो हिन्दी निबन्धों के हैं। सन् १९७२ तक लिखित संस्कृत निबन्धों का पहला संग्रह **"तन्त्रयात्रा"** के नाम से सन् १९८२ में उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी (संस्थान) की आर्थिक सहायता से प्रकाशित हुआ। चुने हुए हिन्दी निबन्धों का प्रथम संग्रह **"आगम और तन्त्रशास्त्र"** के नाम से दिल्ली के परिमल पब्लिकेशंस के द्वारा सन् १९८४ में प्रकाशित किया गया। इसके दर्शन खंड में १३ और संस्कृति खंड में भी तेरह—इस तरह कुल २६ निबन्ध प्रकाशित हुए। हिन्दी निबन्धों का दूसरा संग्रह **"निगमागम संस्कृति"** के नाम से काशी के जंगमवाड़ी मठ के वीरशैव अनुसन्धान संस्थान द्वारा सन् १९९२ में प्रकाशित कराया गया। इसी तरह सन् १९७२ से १९८४ ई. पर्यन्त लिखित संस्कृत निबन्धों का द्वितीय संग्रह **"निगमागमीयं संस्कृति-दर्शनम्"** के नाम से वाराणसी के जंगमवाड़ी मठ में नवस्थापित शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से सन् १९९५ में छपा।

इन सभी संग्रहों की कुछ चुनी हुई सामग्री के साथ भारतीय संस्कृति सम्बन्धी नवीन विचारों का समावेश कर **"भारतीय संस्कृति के नये आयाम"** शीर्षक से पाँच परिच्छेदों वाला एक ग्रन्थ सन् १९९७ में नई दिल्ली स्थित श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) से प्रकाशित हुआ। इसमें भारतीय संस्कृति के क्रमिक विकास को परिभाषित किया गया था। इन सभी ग्रन्थों का आवश्यक परिचय प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारंभ में दे दिया गया है।

इसी सातत्य में अब यह सन् १९९२ से २००१ ई. के मध्य भाग तक लिखित विभिन्न विषयों के हिन्दी निबन्धों का तृतीय संग्रह विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ नैगमिक एवं आगमिक दृष्टि से संबद्ध १०, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विश्लेषण से संबद्ध २३, जीवन-वृत्त संबन्धी दो तथा ग्रन्थ-समीक्षा से संबद्ध तीन—कुल ३८ निबन्ध एवं टिप्पणियाँ संगृहीत हैं।

एक हजार वर्ष तक एक साथ रहने पर भी हम इस्लाम की क्रूरता, हठवादिता और असहिष्णुता जैसे कुसंस्कारों को दूर न कर सके और उनके चिरप्रचारित भाईचारे के संदेश को भी इस्लामिक घरौंदे से बाहर नहीं निकाल सके। उलटे हम भी इन दूषणों से घिरते चले जा रहे हैं। वैदिक, जैन, बौद्ध, आगमिक, तान्त्रिक,

पौराणिक, स्मार्त—इन सभी भारतीय शास्त्रों का देश और काल की पृष्ठभूमि में सामूहिक अनुशीलन किया जाय, यह अपेक्षित है। तभी इस देश में भावात्मक एकता के माध्यम से अखण्ड भारतीय संस्कृति की स्थापना हो सकती है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों के द्वारा भारतीय धर्मों को ही नहीं, उज्ज्वल भारतीय संस्कृति को भी विकृत रूप में प्रचारित किया गया है। उन मिथ्या आक्षेपों का निराकरण कर भारत में बसने वाली समस्त प्रजा के लिये—चाहे वह वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, सिक्ख, पारसी, इस्लाम या ख्रीष्ट धर्मों में भले ही विभक्त हो, उनमें बोये गये वैमनस्य के बीजों को सौमनस्य रूपी भाड़ में भूँज कर एक विश्वसंस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया जा सकता है। हमारी दृष्टि में इसके लिये निम्न लक्ष्यों की प्राप्ति आवश्यक है—

१. भारत में वैदिक, जैन, बौद्ध, आगमिक, तान्त्रिक, पौराणिक, स्मार्त, सिक्ख—इन सभी धर्मों की धाराओं के पावन जल को ग्रहण कर भारतीय संस्कृति-गंगा अनवरत बह रही है। आवश्यक है कि हम इन सबके प्रति समान आदर-दृष्टि रखें।

२. अभिनवगुप्त के द्वारा प्रदत्त आगम की परिभाषा में हम जेन्दावेस्ता, ओल्ड टेस्टामेंट, न्यू टेस्टामेंट (बाइबिल), कुरान जैसे विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों का समावेश कर सकते हैं और इन धर्मों के प्रवर्तकों को भी राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर के समान आदर दे सकते हैं। इन धर्मों की धाराओं में प्रवर्तमान विचार-वारि का भी हम भारतीय संस्कृत-गंगा में समावेश कर इसमें नूतन उज्ज्वलता का आधान कर सकते हैं।

३. त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय— इन चार मजबूत पायों पर भारतीय संस्कृति का प्रासाद खड़ा हुआ है। इनमें किसी प्रकार की विकृति न आने पावे, इसके लिये हमें पूरी तरह से सावधान रहना होगा। चार वर्ण, चार आश्रम, चार पुरुषार्थ और चतुर्व्यूह शास्त्र भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं। वर्णों में परस्पर में उद्भूत ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव को हमें छोड़ देना चाहिये। इसके लिये वर्ण, आश्रम, धन, विद्या, कुल आदि की अपेक्षा चरित्र की श्रेष्ठता को स्वीकार करना होगा। आगम-तन्त्रशास्त्र एवं पौराणिक वाङ्मय की, पूरे भारत में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से फैले सन्त-साहित्य की, अरबी भाषा में हुए भारतीय शास्त्रों

के अनुवाद ग्रन्थों की, अरब यात्री अलबेरुनी और दाराशिकोह जैसे उदासचेता इस्लामिक विद्वानों के विचारों की सहायता से यह संभव हो सकता है।

४. वैदिक कर्मकाण्ड का प्रचार अब विरल हो गया है। इस्लामिक आतंकवाद के शमन के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ शस्त्र-संघर्ष के स्थान पर वैचारिक संघर्ष को चला सकता है। उपनिषदों से लेकर चार्वाक दर्शन तक का भारतीय साहित्य इसमें महत्त्व की भूमिका अदा कर सकता है। तान्त्रिक कर्मकाण्ड और उसके रहस्यवाद को हटाकर, तन्त्रशास्त्र में परिवर्जित जाति आदि के दुराग्रहों को दूर कर, सभी धर्मों के कालातीत तत्वों को किनारे कर सर्वत्र सौमनस्य बढ़ाया जा सकता है। भारतवर्ष में प्रथमतः कृतान्तपंचक के रूप में, ततः पंचायतन अथवा षडायतन पूजा के रूप में स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा के माध्यम से यह कार्य हो चुका है। उसी पद्धति से भारत में वर्तमान-काल में प्रचलित अन्य धर्मों के साथ भी सामंजस्य स्थापित कर इन सबके प्रति समान आदरदृष्टि का विकास किया जा सकता है।

५. वेदान्त दर्शन की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र एवं वीरशैव दर्शन आज हमारे लिये अधिक उपयोगी हो सकते हैं। वैष्णव, शैव आदि आगमों का, सिद्धों, नाथों और गुरुओं की वाणी के साथ सूफीमत का भी प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के आधार पर किया गया अनुशीलन आज की मानवता के लिये अधिक उपयोगी होगा।

६. 'सेक्युलर' शब्द का 'धर्म-निरपेक्ष' अनुवाद भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि के विपरीत है। लोकजीवन के लिये चार पुरुषार्थों में धर्म का विशिष्ट स्थान है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन का ही शास्त्रों में विधान है। इसको हम आधुनिक नैतिकता से समरस कर सकते हैं। कुछ आधुनिक आचार्य धर्मनिरपेक्षता से प्रभावित होकर केवल अर्थ और काम पर ही अपने विचारों को केन्द्रित करना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति अनुचित है। प्राचीन काल में राजा के दर्शन के रूप में लोकायत (चार्वाक) दृष्टि को मान्यता मिली हुई थी। उसी दृष्टि का हमें अनुकरण करना चाहिये। तदनुसार 'सेक्युलर स्टेट' का अनुवाद 'लोक-राज्य' किया जा

सकता है। अंग्रेजी के एक शब्द 'सेक्युलर' का 'धर्म-निरपेक्ष', 'पन्थ-निरपेक्ष' जैसे दो शब्दों में अनुवाद करना भी भारतीय भाषाओं का उपहास करने के समान ही है। धर्म-निरपेक्षता-वादियों का हजयात्रियों को आर्थिक सहायता देना भी कहाँ तक उचित है। अतिवादी धर्म-निरपेक्ष दृष्टि ने भारत के सामने सार्वजनिक आत्मदाह (आत्महत्या) की नई समस्या पैदा कर दी है। ऐसी दृष्टियों से देश को सावधान रहना होगा।

७. कुछ राजनेता अपने स्वार्थ को सिद्धि के लिये ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे वैवर्तिक शब्दों को प्रचारित करते हैं। छद्म-धर्मनिरपेक्षता, भारतीय सहिष्णुता का क्षरण, प्रगतिशील-प्रतिगामी जैसे शब्द भी बहुधा प्रचारित हैं। मुकुटसंहिता की प्रस्तावना में हमने भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप पर प्रकाश डाला है। प्रस्तुत संग्रह में भी भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप पर विचार किया गया है। उसके माध्यम से हम इस तरह के शब्दों की वैवर्तिकता को भी स्पष्ट कर चुके हैं।

८. जनतन्त्र में पक्ष-विपक्ष की स्थिति आवश्यक है। पाश्चात्य देशों में ऐसा है भी, किन्तु भारतीय राजनीति पक्ष और विपक्ष के स्थान पर शत्रु और मित्र के रूप में बँट गई है। कुछ राजनीतिक दलों की दृष्टि भारतीय संस्कारों से नितान्त शून्य है और ये भारतीयता को पूरी तरह से नष्ट कर देना चाहते हैं। कुछ वरिष्ठ पत्रकार-बन्धु भी इनका साथ पकड़ लेते हैं। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय ज्ञान-विज्ञान से ये बहुधा अपरिचित हैं। ऐसा क्यों है? ब्रिटिश कूटनीति तथा पाश्चात्य प्रचार-तन्त्र की इसमें कैसी भूमिका है? इसकी परीक्षा के साथ इस दृष्टिदोष का उपचार भी अपेक्षित है। हीनग्रन्थि से मुक्त होकर ही हम यह कार्य कर सकते हैं।

९. दि. १५ नवम्बर, सन् १९९७ के दैनिक जागरण में इमाम-ए-हरम मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह अल सुहैल का बाबरी मस्जिद से संबद्ध एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ था। कमेटी के संयोजक जफरयाब जिलानी ने उस पर अपनी स्वीकृति भी दी थी। उसके अनुसार गुजरात के सिद्धपुर में स्थित रुद्रमहालय का उद्धार हो जाना चाहिये था।

१०. हिन्दु और मुसलमान शब्दों की स्थिति 'श्रमण-ब्राह्मण' की दृष्टि से बहुत भिन्न नहीं है। हिन्दु शब्द हमारा अपना नहीं है। यह हमारे ऊपर थोपा

गया है। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में 'हिन्दु' शब्द की कोई स्थिति नहीं थी। हिन्दुत्व की अपेक्षा हमें भारतीयता पर अधिक जोर देना चाहिये। तभी हम पूरी भारतीय प्रजा में सामंजस्य स्थापित कर सकेंगे।

११. हिन्दूकरण, भगवाकरण जैसे शब्दों के स्थान पर हमें भारतीयकरण की प्रक्रिया को स्वीकार करना चाहिये। इसी तरह धर्मनिरपेक्षता के स्थान पर हमें संस्कृति-सापेक्ष बनना होगा। धर्म और संस्कृति के अन्तर को हम तालाब के बँधे पानी और नदी के बहते पानी के रूप में कर सकते हैं। आर्य-द्रविड़, सिन्धु-सभ्यता जैसे विवाद भारतीयता को नष्ट करने के लिये उभाड़े गये हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हमारी प्रतिभा का तीव्र क्षरण हुआ है। पाँच हजार वर्ष ही सही, इस काल में विकसित पूरी भारतीयता को हमें आदरदृष्टि देनी होगी, अन्यथा अपसंस्कृतियों के आक्रमणों को हम झेल नहीं सकेंगे। खंडहरों पर खड़ा होना सेमेटिक स्वभाव है, भारतीय नहीं।

यहाँ चर्चित इन सभी विषयों का विशद विवेचन हम प्रस्तुत संग्रह के अतिरिक्त उन पाँच ग्रन्थों में भी कर चुके हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया जा चुका है। प्रस्तुत संग्रह में पहला निबन्ध 'वेदों में रामावतार' है। आधुनिक इतिहासज्ञ इससे सहमत नहीं होंगे। प्रत्येक आधुनिक अथवा प्राचीन देशों में भावना से संबद्ध कुछ प्रसंग विद्यमान हैं, जहाँ इतिहास की मान्यता बौनी हो जाती है। इनमें से किसी को सही और अन्य को गलत मान लेना उचित नहीं है। रामचरित की विशेषता यह है कि यहाँ कुटुम्ब में विभक्त पूरी मानवता को सुख-शान्ति से जीने का मार्ग दिखाया गया है। स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों के दुःख को दूर करना, यही इसकी शिक्षा है। भगवान् बुद्ध ने भी तो इसी मार्ग का अनुसरण किया था। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि इस संसार में एक भी जीव के दुःखी रहते मैं निर्वाण-पदवी में प्रविष्ट नहीं होऊँगा। अहिंसा धर्म के प्रतिष्ठापक जैन धर्म के ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर जैसे तीर्थंकरों ने भी इसी मार्ग को प्रशस्त किया था। आज आतंकवाद से ग्रस्त मानवता को यही दृष्टि उबार सकती है।

भारत का नवनिर्माण पं. जवाहरलाल नेहरू की भौतिक एवं आर्थिक दृष्टि के आधार पर हुआ, महात्मा गांधी की धार्मिक एवं सनातन आध्यात्मिक दृष्टि की

इसमें उपेक्षा कर दी गई। इसकी परिणति आर्थिक भ्रष्टाचार के रूप में हुई। उसका परिणाम यह है कि आर्थिक दृष्टि से तो देश पिछड़ा है ही, भ्रष्टाचारी देशों में भी इसका ऊँचा नाम है। अपनी आध्यात्मिक धरोहर के आधार पर यह विश्व में अपना अग्रणी स्थान बना सकता था, किन्तु आज के अधिकांश राजनीतिज्ञ और उनके पुछल्ले बुद्धिजीवी सेमेटिक धर्मों से एवं पाश्चात्य चिन्तनधारा से प्रभावित बुद्धिजीवियों के आगे अपने को बौना मानते हैं। अध्यात्मशून्य भारतीय कितना अर्थदास हो गया है, इसके उदाहरण के रूप में हम वकीलों और डाक्टरों को पेश कर सकते हैं।

"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" इस वैदिक उपदेश के स्मारक 'वन्दे मातरम्' का उद्घोष हमें नहीं सुहाता। वाग्देवी की वन्दना से हम बिदक चुके हैं। उपनिषदों की गूंज से भरे महात्मा गांधी के प्रिय भजन "वैष्णव जन तो" में वैष्णव शब्द को सुनकर हमने उसे सांप्रदायिक करार दिया है। धार्मिक-स्थल विधेयक को हमने भीगी बिल्ली बनकर मान लिया है। क्रान्तिकारियों को हमने आतंकवादी और आतंकवादियों को जेहादी मान लिया है। देश-विभाजन के बाद भी हम इस्लाम की घुड़की के आगे थर-थर कांपने लगते हैं। वे अब भी अपने को इस देश का शासक ही मानते हैं। इनकी धौसपट्टी में कोई कमी नहीं आई है। आगरा की प्रेसवार्ता में आपने मुशर्रफ साहब का तमतमाया चेहरा देखा होगा। इनके आतंक के आगे पुलिस अपराधियों को गिरफ्तार नहीं कर पाती और गिरफ्तार कर लेने पर कुछ सिरफिरे थानों पर आक्रमण कर इनको छुड़ा लेते हैं। कानपुर की घटना अभी बहुत पुरानी नहीं हुई है। भारत में कुछ इस्लामिक स्थलों को एकता का प्रतीक माना जाता है, किन्तु ऐसे ही अन्य ऐतिहासिक स्थलों के प्रति यह दृष्टि नहीं पनप पाती। क्या यह उचित है? ताजमहल के आगे आबू (देलवाड़ा) के जैन मन्दिरों को भुला दिया गया है।

भारत में अनेक अल्पसंख्यक समुदाय हैं। उन सबकी ओर से उस समुदाय को बोलने का कोई हक नहीं हैं, जिसने इस देश का विभाजन करा दिया। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि इस देश के विभाजन में जिनकी अग्रणी भूमिका रही है, वे ही आज भी पुनः देश-विभाजन का खतरा दिखाने से बाज नहीं आते। भारत में आज भी मुस्लिम-संघटन आक्रामक तथा अन्य रक्षापरक हैं। इस स्थिति की समीक्षा अपेक्षित है।

"सैटनिक वर्सेज" जैसी पुस्तकों पर तो हम प्रतिबन्ध लगा देते हैं, किन्तु सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन के माध्यम से परोसे जाने वाले अभद्र दृश्यों पर हम प्रतिबन्ध नहीं लगा पाते। संस्कृत काव्यों में हम देखते हैं कि युवराज पद पर अभिषेक हो जाने के उपरान्त वह भावी जीवन किस प्रकार व्यतीत करे, इसके लिये उसे राजनीति और व्यवहारशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। आज के लोकसभा और विधानसभा के सदस्यों के लिये भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये।

दो व्यक्ति एक साथ कृषि या सेवा करते हैं। इनमें से एक को सफलता मिलती है, दूसरे को नहीं। शास्त्रों में इसके लिये अदृष्ट को कारण माना गया है। यह शास्त्रों की भाग्यवादी व्यवस्था है। भारत में योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों और नीतिशास्त्र में पुरुषार्थ की श्रेष्ठता बताई गई है। एक की फलसिद्धि और दूसरे की असिद्धि में पूरी तरह से अदृष्ट ही कारण है या उसमें कुछ साधक-बाधक दृष्ट कारण भी विद्यमान हैं, इसकी परीक्षा अपेक्षित है। किसी दुष्ट व्यक्ति ने दुश्मनी निकालने के लिये खलिहान में आग लगा दी है, तो यहाँ भी भाग्यवाद के सहारे बैठा नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में पुरुषकार का सहारा लेना ही होगा। भारत में आजकल भाग्यवाद का बहुत बड़ा सहायक कलियुग बन गया है। नेत्रतन्त्र में बताया गया है कि शिव के सांनिध्य में कलियुग आदि की व्यवस्था नहीं चल पाती। मार्कण्डेय मुनि अपने पौरुष के सहारे ही अल्पायु से चिरायु बन गये थे।

एक से लेकर परार्ध पर्यन्त दशगुणित संख्याओं के लेखन की पद्धति भारतवर्ष में आविष्कृत हुई। अरब देशों के माध्यम से यह यूरोप पहुँची। यह पद्धति 'हिन्दस्का' के नाम से प्रसिद्ध है। हमने भारतीय अंकों को भी विकृत होने दिया है। सन् २००० में ही हमने २१ वीं सदी का प्रारंभ मान लिया। भारतीय दृष्टि में तो विक्रम संवत् के रूप में इसका प्रारंभ आज से ५८ वर्ष पहले ही हो गया था। भारत में भारतीय पंचांग भी उपेक्षित होता जारहा है। हममें से कितने लोग जानते हैं कि तिथि-परिवर्तन सूर्योदय के साथ होता है, आधी रात से नहीं। जन्म और मृत्यु की भी तिथि को छोड़कर तारीख को वरीयता दी जाने लगी है। बाबरी ढाँचे के ढहने की घटना का उल्लेख हम अंग्रेजी तारीख और नब्बे के दशक में करते हैं। यह भी गलत है। एक से दस, ग्यारह से बीस—इस तरह से भारतीय गणना चलती है; दस से उन्नीस, बीस से उन्तीस····· नब्बे से निन्यानवे—यह क्रम अभारतीय है। एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या के धनी इस देश में आजकल हम

करोड़ से आगे नहीं बढ़ पाते। आगे की संख्या का बोध एक हजार करोड़, एक लाख करोड़ जैसे शब्दों से कराया जाता है। भारतीय पद्धति की याद दिलाने वालों को आजकल भगवाकरण की गाली से नवाजा जाता है। इस विषय की चर्चा ऊपर भी आ चुकी है।

आज संस्कृतज्ञों में भी अखिल भारतीय दृष्टि का लोप होता जा रहा है। इसके संबन्ध में हमने संस्कृत में एक निबन्ध लिखा था—"प्रादेशिकतापिशाचीग्रस्ता प्राच्यवाणी"। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का प्रचलन आग में घी डालने का काम कर रहा है। इस पर यथासंभव शीघ्र रोक लगनी चाहिये। यदि यह न हुआ, तो इसी के माध्यम से रूसी गणराज्य की तरह यह भारतदेश भी कभी खंडित होने लगेगा, जो पाश्चात्य देशों को अभीष्ट है। कलकत्ता का कोलकाता नाम रखना एक अशुभ संकेत है। यहाँ नाम-परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल बंगाली उच्चारण को मान्यता मिल गई है। बंगाल से विश्व की प्राचीनतम भाषा संस्कृत को उखाड़ फेंकने का यह एक घिनौना प्रयास है। वस्तुतः इस देश में जनतन्त्र की सुदृढ़ता के लिये ब्रिटेन, अमेरिका जैसे देशों की तरह दो या तीन अखिल भारतीय दलों की ही सत्ता रहनी चाहिये। इनमें कांग्रेस और भारतीय जनता दल के अतिरिक्त इन दोनों दलों से नफरत करने वाले सभी दलों का समावेश किया जा सकता है। इनमें पक्ष-विपक्ष की भावना अपेक्षित है, शत्रु-मित्र भाव की नहीं। कुछ बुद्धिजीवी भारतीय जनता दल के विरोध में समस्त धर्मनिरपेक्ष ताकतों की एकजुटता पर बल देते हैं। उनको शत्रुभाव से मुक्त तीसरे दल के गठन के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। भारतीय पत्रकारिता को भी इसी भाव से इस शुभ-कार्य के लिये प्रवृत्त होना चाहिये। परेशानी यह है कि अनेक भारतीय बुद्धिजीवी और पत्रकार भी किसी न किसी राजनीतिक दल से जुड़ गये हैं। "गर्व से कहो हम भारतीय हैं" का नारा देने वाले वर्तमान प्रधानमंत्री माननीय श्री वाजपेयी जी को भी सांप्रदायिक कहने से ये नहीं चूकते। खुशवन्त सिंह और कुलदीप नैयर जैसे अतिप्रसिद्ध स्तंभकारों को भी १०वीं शताब्दी से पहले के भारत का कोई परिचय नहीं है।

पूरे देश में एक सांस्कृतिक दृष्टि का विकास हो, यह अपेक्षित है। ईसाई मिशनरी इस दृष्टि के विपरीत कार्य कर रहे हैं। मणिपुरी और कथकली नृत्य पूरे भारत की धरोहर हैं। मणिपुर के साथ विष्णुपुरिया नाम जुड़ा हुआ है। पूरे असम प्रदेश में कभी वैष्णव मत का व्यापक प्रचार था। धर्मान्तरण के माध्यम से ईसाई

मिशनरियों ने आदिवासी जातियों और जन-जातियों के नाम से प्रसिद्ध भारती प्रजा में भारतीयता के प्रति हीनभावना भर दी है। भारत में भावात्मक एकता की प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक है कि धर्मान्तरण पर अविलम्ब रोक लगा दी जाय। अब तो श्रीलंका से आयातित बौद्ध धर्म भी इस दुष्कृत्य में प्रवृत्त हो चुका है। श्रीलंका में विवाद का विषय तमिल-सिंहली नहीं, हिन्दु और बौद्ध है। श्रीलंका का बौद्ध भी इस्लामिक असहिष्णुता से घिरता जा रहा है। बौद्धों के साथ हिन्दु शब्द का प्रयोग न कर शैव, वैष्णव, शाक्त जैसे शब्द प्रयुक्त होने चाहिये और इनकी समीक्षा दक्षिण भारत में सम्पन्न वैष्णव, शैव और जैन आन्दोलनों से की जानी चाहिये।

कांग्रेसी नेताओं ने अपना नेता एक अनबूझ विदेशी महिला को चुना है। क्या यह काशी के जयचन्द्र और बंगाल के नवाब के इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं हो रही है? ख्वाजा मुइनुद्दीन चिस्ती का नाम कबीर, नामदेव, रैदास आदि की कोटि में नहीं रखा जा सकता। ऐसा हुआ भी नहीं है। हमें यह देखना होगा कि पृथ्वीराज की पराजय में ख्वाजा साहब की क्या कोई भूमिका रही है? इधर एक के बाद दूसरे कांग्रेसी वरिष्ठ नेताओं की असामयिक मृत्यु होती रही है। इसकी भी समीक्षा हमें करनी होगी।

यहाँ जिन-जिन समस्याओं की चर्चा हमने की है, उन सबका समाधान तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन की सहायता से किया जा सकता है। हमने तन्त्रागमशास्त्र को छः विभागों में बाँटा है—वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त। कुछ व्यक्तियों का कहना है कि तन्त्रागमशास्त्र के अध्येता इसके महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। यह उक्ति सही नहीं है। बौद्ध और जैन धर्म की प्रारंभिक दृष्टि वैदिक दृष्टि से बहुत भिन्न नहीं है। तन्त्रागमशास्त्र की परिधि में आकर इन सभी दृष्टियों में परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन को दिखाने के लिये हमने "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" नामक ग्रन्थ की रचना की। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की अवधारणा यहाँ आकर समाप्त हो गई और एक समन्वित दृष्टि का विकास हुआ, जिसको इस ग्रन्थ में स्पष्ट देखा जा सकता है। तन्त्रागमशास्त्र एवं तदनुप्राणित सन्तों के उपदेशों पर आधारित भारतीय संस्कृति की कुछ विशेषताओं पर विद्वान् पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर हम इस वक्तव्य को पूरा करना चाहते हैं।

तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस उक्ति का भी यही अभिप्राय है। सेमेटिक धर्म तो जन्मान्तर को स्वीकार ही नहीं करते। एक ही जन्म में मुक्ति का यह सिद्धान्त सेमेटिक धर्मों के साथ भारतीय संस्कृति की समरसता में सहायक हो सकता है। जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त भी इससे भिन्न नहीं है। तन्त्रागमशास्त्र की जीवन्मुक्ति की विशेषता यह है कि इसके लिये कर्मसाम्य की अपेक्षा है। शुभ और अशुभ सभी कर्मों से ऊपर उठकर ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। यहाँ मानव के सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं। वह इनके पीछे नहीं भागता। ऐसा व्यक्ति मानव-कल्याण के लिये केवल कर्तव्य का पालन करता है और उन कर्तव्यों के फल की आकांक्षा से भी ऊपर उठ जाता है। यही है जीवन्मुक्त की वास्तविक स्थिति।

मनुष्य को सबसे ज्यादा परेशान करने वाली स्वयं उसकी आदत है। अशान्त मन जब वाणी पर नियन्त्रण नहीं रख पाता, तो वह दूसरों को भी दुःखी बना देता है। "आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि" शीर्षक निबन्ध में हमने मानवाधिकार आदि की समीक्षा कर व्यक्ति इसी जीवन में मोक्षावस्था में प्रवेश पा सकता है, यह बताते हुए मोक्ष के स्वरूप पर विचार किया है। इस अवस्था में पहुंचे व्यक्ति का मानव-कल्याण ही एकमात्र कर्तव्य बचा रहता है और इस स्थिति तक प्रयत्न करने पर प्रत्येक व्यक्ति पहुँच सकता है। "न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् । कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।" यहाँ यही भावना तो व्यक्त की गई है। भगवान् बुद्ध ने भी तो इसी अभिप्राय से निर्वाण में प्रवेश नहीं किया। पूरी मानवजाति इस स्थिति तक पहुँचकर "मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्" इस शुभ संकल्प से ओतप्रोत हो सकती है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति-लक्षण धर्म का शास्त्रों में विधान है। मानवजाति अपनी प्रकृति के अनुकूल इनका यथेच्छ आचरण कर सकती है। प्रवृत्ति धर्म पर चलकर भी व्यक्ति उसी स्थिति तक पहुँच सकता है, जहाँ वह निवृत्ति मार्ग पर चलकर पहुँचेगा। इस स्थिति में वह अपने अभीष्ट मार्ग पर चलता हुआ स्व-पर की भावना से ऊपर उठ जाता है; पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक जैसी द्वैध स्थितियों से ऊपर उठकर इसी जीवन में मुक्तावस्था का अनुभव करने लगता है। इतिशम् ।।

विषय सूची

सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विश्लेषण

जीवन-वृत्त

ग्रन्थ-समीक्षा

परिशिष्ट भाग

वेदों में रामावतार

आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों में बताया जाता है कि भगवान् विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह आदि अवतारों का तो उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है, किन्तु रामावतार की चर्चा कहीं भी देखने को नहीं मिलती। मन्त्ररामायण के लेखक महाभारत की नीलकण्ठी टीका के रचयिता नीलकण्ठ चतुर्धर ने आधुनिक दृष्टि से वैदिक वाङ्मय की सबसे प्राचीन रचना माने जाने वाले ऋग्वेद के आधार पर आज से लगभग ४०० वर्ष पहले ही यह सिद्ध कर दिया था कि यहाँ श्रीराम, दशरथ, सीता, जनक आदि से संबद्ध अनेक आख्यानों की चर्चा हुई है। महाराष्ट्रीय विद्वान् नीलकण्ठ चतुर्धर ने महाभारत पर भारतभावप्रदीप नामक टीका की रचना सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में की थी। मोटे तौर पर उनका स्थितिकाल १६५०-१७०० ई. माना गया है। यह टीका आज नीलकण्ठी के नाम से प्रसिद्ध है।

इससे पहले भी महाभारत पर अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं और उनमें से कुछ का आंशिक रूप से प्रकाशन भी हुआ है, किन्तु इस विषय का विशाल साहित्य ग्रन्थालयों में उपेक्षित पड़ा हुआ है। किसको फुरसत है इस तरफ ध्यान देने की? नीलकण्ठ ने अपनी रचना में उस समय उपलब्ध अनेक टीकाओं से सहायता ली थी। इसी विद्वान् ने मन्त्ररामायण और मन्त्रभागवत की रचना कर राम और कृष्ण अवतार की वैदिकता वैदिक मन्त्रों को उद्धृत कर और उनकी व्याख्या कर सप्रमाण स्थापित की है।

मन्त्ररामायण का प्रकाशन अनेक वर्ष पहले वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से हुआ था। इसका एक नया संस्करण अभी हाल में प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना के साथ काशी से हुआ है। इस ग्रन्थ में नीलकण्ठ चतुर्धर ने ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों से १५७ मन्त्रों को संकलित कर उन पर अपनी व्याख्या लिखी है।

ऋग्वेद का दो प्रकार का विभाजन प्राचीन आचार्यों ने किया है-- एक मण्डल विभाग और दूसरा अष्टक विभाग। मण्डल विभाग के अनुसार ऋग्वेद में १० मण्डल हैं। इसीलिये ऋग्वेद की संहिता का अपर नाम दाशतयी प्रसिद्ध है। आचार्य सायण का भाष्य मण्डल विभाग पर आधृत है और आजकल के विद्वानों ने इसी विभाग को मान्यता दी है, किन्तु अष्टक विभाग भी उतना ही प्रसिद्ध रहा है। इसके अनुसार पूरा ऋग्वेद आठ अष्टकों में विभक्त है और प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। सायणाचार्य से प्राचीन आचार्य वेंकटमाधव और भट्ट गोविन्द ने इसी विभाग के अनुसार अपने-अपने भाष्य लिखे थे।

इसी विभाग के प्रसंग में यह विषय भी अवधेय है कि इस अष्टाष्टक विभाग का तन्त्रशास्त्र में भी उल्लेख हुआ है। असितांग आदि आठ भैरवों और ब्राह्मी आदि आठ मातृकाओं में से प्रत्येक के आठ-आठ विभाग होकर ६४ भैरवों, ६४ योगिनियों और ६४ भैरवागमों की उद्भावना हुई है। अष्टाष्टक के नाम से ही यहाँ यामलभाव से भैरवों और योगिनियों की उपासना की जाती है। अस्तु, अब हम मूल विषय पर आते हैं।

मन्त्ररामायण में मन्त्रों का संकलन ऋग्वेदीय क्रम से न कर रामायण की कथा के क्रम से किया गया है। ग्रन्थ-सम्पादक ने इनकी क्रमसंख्या दे दी है। यहाँ प्रथमतः दसवें मण्डल के ९९ वें सूक्त के पाँच मन्त्रों में वानरों की सहायता से समुद्र पर सेतु बनाने, रावण का वध कर सीता को साथ लेकर अयोध्या में वापस आने और लव-कुश के द्वारा रामायण के गान का उल्लेख है। आगे नवम मण्डल के ७३ वें सूक्त के ५-९ मन्त्रों में मुनि वाल्मीकि के द्वारा व्याध को शाप देने, रामायण की रचना करने, हनुमान् द्वारा रामचरित के गान की तथा रामायण की महिमा का वर्णन है। इस प्रकार बिना किसी क्रम के ऋग्वेद के मन्त्रों को उद्धृत करते हुए राम की स्तुति, ईश्वर के रामावतार ग्रहण करने, बाललीला करने, राक्षसों का वध करने और उपमन्यु आदि भक्तों के द्वारा विष्णु की स्तुति करने जैसी कथाएँ यहाँ दी गई हैं। एक मन्त्र (१०.१६४.१०) में कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा नाम की माताओं और जन्मदाता दशरथ, उपनयनकर्ता वसिष्ठ और विद्यादाता विश्वामित्र का वर्णन है। अन्य मन्त्र (१०.५४.४) में रावण आदि राक्षसों के नाश के लिये राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नामक चार स्वरूपों के धारण करने का वर्णन है।

आगे राजा दशरथ के दान से सन्तुष्ट रोमश-दम्पती का संवाद है। बैल-जुती गाड़ी, लकड़ी के रथ और सहस्र गायों के दान से सन्तुष्ट कक्षीवान् ऋषि दशरथ को पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं। दशरथ के यज्ञ में उपस्थित कक्षीवान् ऋषि सपत्नीक दशरथ को उपदेश देते हैं। आगे कुछ मन्त्रों में ऋषि विश्वामित्र द्वारा अपने यज्ञ की रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को अपने साथ ले जाने, उनके द्वारा यज्ञ की रक्षा करने, इन्द्र के पास हवि के निर्विघ्न पहुँचने, ताटका राक्षसी का वध, विश्वामित्र द्वारा इनको बला और अतिबला विद्या का उपदेश करने, गौतम के आश्रम में अहिल्या का उद्धार करने, जनक के स्वयंवर में इनके उपस्थित होने, सीता की उत्पत्ति की कथा, धनुषभंग, स्वयंवर में सीता के द्वारा राम का वरण, इनका पाणिग्रहण, भग-अर्यमा-सविता आदि देवताओं का इनको गृहस्थ धर्म का उपदेश, परशुराम पर विजय, वसिष्ठ और विश्वामित्र की विशेषताओं का वर्णन जैसे अनेक विषय चर्चित हैं।

ऋग्वेद के १० वें मण्डल के एक मन्त्र में अयोध्या का राज्य राम के स्थान पर भरत को दिये जाने के कैकेयी के आग्रह का उल्लेख है और राम-लक्ष्मण के वनगमन के साथ दशरथ के स्वर्गवास का भी वर्णन है। एक मन्त्र में भरत के पावन चरित्र की चर्चा है। अन्य मन्त्र में विश्वामित्र नदी से प्रार्थना करते हैं कि वह राम के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करे। चित्रकूट पर राम और भरत के संवाद को भी वहाँ उजागर किया गया है और बताया गया है कि राम की आज्ञा से कठिन व्रत करते हुए भरत नन्दिग्राम में रहते हुए राज्य का संचालन करते हैं।

आठवें मण्डल के तीन मन्त्रों (३३.१६-१८) में शूर्पणखा की कथा चर्चित है और चौथे मन्त्र में विघ्न की आशंका से विचलित सीता को राम ढाढस बंधाते हैं। आगे के दो मन्त्रों में खर-दूषण के साथ राम के युद्ध की और तृतीय मन्त्र में शूर्पणखा के विकृत स्वरूप को देखकर रावण के द्वारा सीता के हरण के संकल्प की चर्चा है। मारीच के वध की, रावण के द्वारा सीता के हरण के समय सीता की प्रार्थना पर अग्निदेव द्वारा छाया-सीता के निर्माण की और रावण के द्वारा उसीके अपहरण की कथा भी यहाँ दी गई है। कूर्मपुराण (२.३३.११२-१४२) में भी इस कथा का उल्लेख मिलता है। जटायु के द्वारा सीता की रक्षा के लिये रावण के साथ किये गये युद्ध का भी मन्त्ररामायण में वर्णन है।

वानरों की उत्पत्ति, सेतुबन्धन आदि में उनकी सहायता, सुग्रीव की मित्रता, कबन्ध का वध, राम-सुग्रीव की परस्पर सहायता की प्रतिज्ञा का वर्णन करते हुए सुग्रीव को सकाम और हनुमान् को निष्काम भक्त बताया गया है। सुग्रीव के कार्य बालिवध को करने के बाद राम वानरों के रूप में अवतरित देवताओं के द्वारा सीता की खोज कराते हैं और इस कार्य की सिद्धि के लिये हनुमान् का आवाहन करते हैं। श्रीराम हनुमान् की महिमा बताते हैं। हनुमान् राम का गुप्त संदेश लेकर सीता की खोज में निकल पड़ते हैं। नवें मण्डल के एक (६९.१) मन्त्र में हनुमान् के लिये कहा गया है कि जिस प्रकार धनुष से छोड़ा बाण अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है, जैसे बछड़ा दुग्धपान के लिये दौड़ पड़ता है, उसी तरह से वे सीता की खोज में निकल पड़े। सीता माता के पास जाकर हनुमान् उनको राम का प्रिय संदेश सुनाते हैं। राम मुझे कैसे प्राप्त कर सकेंगे? इस विषय में सीता और हनुमान् का संवाद अतीव मनोहारी है। रावण के शापग्रस्त होने की भी यहाँ चर्चा है। हनुमान् ने सीता की मानसिक स्थिति का हृदयहारी वर्णन किया है। क्रमभेद से यहाँ वानरों के द्वारा सोम राजा की स्तुति, उनका बिलप्रवेश, पक्षिराज सम्पाति से साक्षात्कार और उसके द्वारा वानरों का मार्गदर्शन जैसे विषय भी समाविष्ट हैं।

हनुमान् के विशाल स्वरूप धारण करने, मैनाक पर्वत पर विश्राम करने और लंका-प्रवेश के अवसर पर लघु रूप धारण करने की यहाँ चर्चा है। एक मन्त्र में लंकादहन का उल्लेख कर रामभद्र के अभिज्ञान अंगूठी को सीता माता को देते हुए हनुमान् का भी वर्णन है। वे सीता के सामने राम की विरहाकुल स्थिति का उल्लेख करते हुए उनको ढाढस बंधाते हैं कि राम शीघ्र ही वानर सेना के साथ आपका उद्धार कराने के लिए यहाँ आवेंगे। वे यह भी बताते हैं कि पक्षिराज सम्पाति ने दिव्य दृष्टि से देखकर आपके यहाँ रहने की सूचना हमें दी थी। सीता हनुमान् के सामने अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन करती है। सीता और हनुमान् का यह संवाद आगे के कुछ मन्त्रों में भी देखने को मिलता है। लंकादहन से रावण के चिन्तित होने, हनुमान् के ब्रह्मपाश में बाँधे जाने, हनुमान् के द्वारा ब्रह्मपाश का संमान करने का भी यहाँ उल्लेख है। हनुमान् की पूँछ में आग लगी देख सीता माता उनकी रक्षा के लिये अग्नि से प्रार्थना करती हैं। यह प्रार्थना यहाँ चार मन्त्रों (१०४-१०७) में संगृहीत है।

लंका को जलाकर हनुमान् वानरों के साथ राम के पास आ जाते हैं। नवें मण्डल के ७२ वें सूक्त के पाँच मन्त्रों में हनुमान् अपनी उपलब्धि की और सीता की विषम स्थिति की सूचना देते हैं। आगे समुद्र पर सेतु का निर्माण, रावण की पत्नियों की दुश्चिन्ता का वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि रावण प्रदोष वेला में सीता के पास आता है। सीता के द्वारा अपमानित होकर वह हनुमान् के द्वारा अपने पुत्र अक्षय के वध से चिन्तित हो उठता है। तब भी वह अपने हितचिन्तकों की विशेषकर विभीषण की उचित सलाह को नहीं मानता और अभिमानवश अपनी छाती फुलाकर कहता है कि मैं किसी से डरता नहीं। सभासदों की प्रार्थना को भी वह अस्वीकार कर देता है। रावण के द्वारा तिरस्कृत होकर विभीषण राम की शरण में चले जाते हैं। यहाँ एक मन्त्र में (१०.८५.२३) विभीषण के पुरोहित उसका स्वस्त्ययन करते हैं और विभीषण सीता को आश्वस्त कर राम के पास चले जाते हैं।

विभीषण के शरण में आ जाने के बाद राम पुल बना कर समुद्र को पार करते हैं और युद्ध में रावण की राक्षसी माया को नष्ट कर देते हैं। यहाँ राक्षसों और वानरों के युद्ध का कई मन्त्रों में वर्णन है। राम रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। यहाँ दण्डकारण्य में सीता की प्रार्थना पर आये अग्निदेव के द्वारा असली सीता राम को समर्पित की जाती है। आगे के मन्त्रों में देवताओं के द्वारा सीता को निर्दोष सिद्ध करने और उनको सादर स्वीकार करने की राम से प्रार्थना करने की चर्चा है। राम पृथ्वी के राज्य को विभीषण, सुग्रीव आदि में बाँट देते हैं और सिन्धु(नदी)-सागर आदि को रावण के भय से मुक्त कर देते हैं।

१४०वीं क्रमसंख्या के मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि समुद्र के समान गंभीर राम के पास नदी के समान सीता आई। सीता की इच्छा करने वाला रावण मारा गया। हे राम! आपकी गृह नगरी अयोध्या में सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ निवास करती हैं। हम अपने हृदयाकाश में आपका दर्शन करें। यहाँ रुद्रस्वरूप हनुमान् की भी स्तुति की गई है। साथ ही राम और सीता की महिमा का गान कर हनुमान् एवं जाम्बवान् आदि के पराक्रमों का वर्णन किया गया है। सेतुबन्ध के संबन्ध में ऋचाओं में बताया गया कि जो पत्थर समुद्र पर तैर रहे थे, वह न तो पत्थर का गुण था, न समुद्र का और न ही वानरों का; यह तो श्रीराम का प्रताप था। राम के प्रति लक्ष्मण, सीता आदि की अनितर साधारण अनुरक्ति की चर्चा करते हुए श्रुति कहती है कि राम आदि चारों भाइयों के आठ पुत्र विभिन्न स्थानों के राजा हुए। अन्ततः सीता भूमि में विलीन हो गई और शेषनाग रूपी लक्ष्मण अपनी प्रकृति अनन्त में लीन हो गये। इस ग्रन्थ में संकलित अन्तिम मन्त्र (१०.५६.७) में बताया गया है कि प्रजा का कल्याण करने वाले, पृथ्वी को जीत कर प्रजा को नानाविध संकटों से पार कराने वाले, महान् कर्म करने वाले श्रीराम अपनी महिमा से अपनी प्रजा को उसी प्रकार ब्रह्मलोक में ले जायेंगे, जैसे नौका के द्वारा महानदी को पार किया जाता है।

नीलकण्ठ चतुर्धर द्वारा मन्त्ररामायण में संकलित मन्त्रों की यह संक्षिप्त रूपरेखा है। विस्तार की इच्छावाले महानुभावों को स्वयं ग्रन्थकार द्वारा की गई इन मन्त्रों की व्याख्या देखनी चाहिये। यहाँ संकलित प्रत्येक मन्त्र का स्थान-निर्देश प्रस्तुत संकरण में उपलब्ध है। उनके आधार पर मन्त्रों के सायण आदि के भाष्य भी देखे जा सकते हैं।

आज राम-जन्मभूमि को लेकर श्रीराम के संबन्ध में नाना प्रकार की धारणाएं प्रकट की जा रही हैं। "तुष्यतु" न्याय से इन सबको एक बारगी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी रामायण में वर्णित रामचरित की तुलना में संसार के किसी भी आख्यान को खड़ा नहीं किया जा सकता। यहाँ का प्रत्येक पात्र मानव-मानस में अपनी छाप छोड़ता है। महात्मा गांधी को श्रीराम का यही रूप भाया था और उन्होंने श्रीराम-राज्य के रूप में एक आदर्श राज्य की कल्पना को साकार करने का अपने जीवन में अथक प्रयास किया था। रामचरित के जिन अंशों की आज समालोचना की जाती है, वह भी भारतीय आचार्यों और साहित्यकारों के मुख से बहुत पहले मुखरित हो चुकी है। प्राचीनकाल में रामचरित को धूमिल करने वाले सारे प्रयत्न स्वयं धूलिधूसरित हो चुके हैं और वर्तमान में किये गये अथवा किये जा रहे प्रयत्नों की भी वही गति होगी। काश, महाभारत के पात्रों का अनुसरण न कर मानव-समाज रामचरित को अपने जीवन में उतारने का शतांश भी प्रयत्न करता! आधुनिक आतंकवाद से दुनिया को छुटकारा दिलाने का एक ही उपाय है कि रामायण में वर्णित कौटुम्बिक सौहार्द का विस्तार पूरी मानवजाति में किया जाय।

शाक्त तन्त्र और वेद

भारतीय तन्त्रशास्त्र पर इधर पर्याप्त साहित्य प्रकाश में आया है और इसकी विभिन्न शाखाओं पर इतिहास-प्रधान ग्रन्थों की रचना भी हुई है। इस शास्त्र पर देश और विदेश में विभिन्न स्थानों पर विचार-गोष्ठियों एवं कार्यशालाओं का आयोजन हुआ है और उनका विवरण भी प्रकाशित हुआ है। इन सबकी हमारे विचारों पर जो छाप पड़ी है, उसकी पृष्ठभूमि में हम अपना यह निबन्ध प्रस्तुत करना चाहते हैं।

"आगम और तन्त्रशास्त्र" नामक अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में हमने आगम-तन्त्रशास्त्र की सुनिश्चित परिभाषा देने का प्रयत्न किया है (पृ. १-२६)। हालैण्ड के यशस्वी विद्वान् स्वर्गीय डॉ. जे. गोण्डा ने लिखा है कि दक्षिणभारत में विकसित शास्त्र आगम और उत्तरभारत में प्रादुर्भूत शास्त्र तन्त्र के नाम से जाना जाता है। इसमें कुछ सचाई हो सकती है। इसी आधार पर आजकल आगम और तन्त्रशास्त्र पर अलग-अलग ग्रन्थों की रचना की जा रही है और तन्त्रशास्त्र को पंचमकार की उपासना तक सीमित कर दिया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है नहीं। त्रिलोचन शिवाचार्य दक्षिण-भारत के लेखक माने जाते हैं। इनके सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ पर अनन्तशंभु ने अपनी विस्तृत टीका लिखी है। इसमें उद्धृत शैवागमों के वचनों में २८ सिद्धान्त शैवागमों की नामावलियों के साथ तन्त्र, आगम और संहिता तीनों पदों का बेरोकटोक प्रयोग हुआ है। यही स्थिति हयशीर्ष-पंचरात्र की वैष्णवागमों की नामावली की भी है। तन्त्रशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध उसकी सभी शाखाओं में पंचमकार की उपासना का समावेश है भी नहीं।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।
इति भारतमाख्यानं कृपया परया जगौ ।।

महाभारत के संबन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है। वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियों की चर्चा अनेक स्थलों पर मिलती है। त्रैवर्णिकविषय और सर्ववर्णविषय श्रुतियों का भी उल्लेख मिलता है। भगवद्गीता का कथन है— "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्" इस वचन की भी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की जाती है। इस पृष्ठभूमि में हम यहाँ मूलतः दो तत्त्वों को लेकर आगम-तन्त्रशास्त्र की समीक्षा करना चाहते हैं।

इनमें से पहला तत्त्व है मारण-मोहन आदि अथवा शान्तिक-पौष्टिक आदि षट्कर्मों का तथा दूसरा है पंचमकार वाला। षट्कर्मों की प्रवृत्ति के बीज हमें ऋग्वेद में भी मिल जाते हैं। अथर्ववेद और उससे संबद्ध श्रौतसूत्रों में एवं उसके परिशिष्टों में इनका स्पष्ट विवरण मिलता है। उसकी अनुस्यूति तन्त्रशास्त्र में भी हुई, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है, पंचमकार वाला पक्ष विचार-कोटि में लाया जा सकता है।

मन्त्रयान या तन्त्रवाद में रहस्यवाद के प्रवेश के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वलिंगी मुद्राएं मिलती हैं। पूना की "एनल्स ऑफ भाण्डारकर इंस्टीट्यूट"[1] नामक पत्रिका में इनका सचित्र विवरण मिलता है। नेत्रतन्त्र के १३ वें अधिकार में ऊर्ध्वलिंगी विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। पाशुपत मत की नई शाखा के प्रवर्तक लकुटधारी लकुलीश की मूर्तियों में उनको ऊर्ध्वलिंगी अंकित किया गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार लकुलीश के मत में मनुष्य के शरीर के सभी देवता निवास करते हैं। लकुलीश का आविर्भाव-काल डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ई. दूसरी शताब्दी बताते हैं और कौल सम्प्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का समय इनके अनुसार पाँचवीं-छठी शताब्दी है। हम मान सकते हैं कि कायपूजा का सिद्धान्त लकुलीश सम्प्रदाय में इदम्प्रथमतया प्रवृत्त हुआ हो।

वैदिक वाङ्मय में भी हमें हिंसाप्रधान यज्ञों के साथ ही सौत्रामणी याग में सुरापान का विधान भी मिलता है। ऋग्वेद (७.२१.५, १०.९९.३) में शिश्नदेवों का उल्लेख है। "न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम्" (२.१३.२) यह छान्दोग्य उपनिषत् का वाक्य है। "यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपम्। तस्मात् तस्मान्न बीभत्सेत" (२.३.७) यह ऐतरेयारण्यक का वाक्य है। "न पद्माङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजा। लिङ्गाङ्का च भगाङ्का च तस्मान्माहेश्वरी प्रजा।।" यह महाभारत के अनुशासन पर्व का कथन है, जहाँ पाशुपत मत विवृत है।

डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने भी ऊपर की छान्दोग्यश्रुति को उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहाँ "कामयमानाम्" विशेषण जोड़ते हैं (बोधिचर्यावतारभूमिका, पृ. १५)। (यहीं पृ. १४-२६) शास्त्री जी ने बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास पर विचार किया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी "पुरातत्त्व निबन्धावली" में संगृहीत "वज्रयान और चौरासी सिद्ध" (पृ. १०९-१३०) शीर्षक लेख में वज्रयान की उत्पत्ति के प्रसंग में नीलपट-दर्शन की चर्चा की है (पृ. ११८)। यशस्तिलकचम्पू के कर्ता सोमदेव नीलपट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं (भा. २, पृ. २५२)। डॉ. कृष्णकान्त हाण्डीकी "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" (पृ. ४४१) में सदुक्तिकर्णामृत में संगृहीत नीलपट के दूसरे श्लोक का उदाहरण देते हैं। वहीं वे भर्तृहरि के श्लोक को भी उद्धृत करते हैं। इन सबका अभिप्राय एक-सरीखा है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के दिये गये कथानक का घटनाकाल वहाँ ५१५-५२५ ई. बताया गया है। कूर्मपुराण के वचन (२.२२.३५, २.३३.६०) नील और रक्त पट धारण करने वाले ब्राह्मण की निन्दा करते हैं।

---

१. भाग ३९. अंक ३-४. पृ. २८९-३६४. सन् १९५८

इन सबकी चर्चा करने का हमारा अभिप्राय यह है कि संस्कृत साहित्य में कापालिक मत का जो खाका खींचा गया है, उसके पर्याप्त बीज इनमें खोजे जा सकते हैं और हमें लगता है कि इसीका अगला विकास कौल मत में हुआ, जिसका प्रभाव परवर्ती काल में आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं पर अप्रतिहत रूप में देखा जा सकता है। इसीकी यह चरम परिणति है कि रामभक्ति में भी रसिक सम्प्रदाय की प्रवृत्ति हो गई। तन्त्रशास्त्र की केवल एक यही शाखा पंचमकार के पक्ष को स्वीकार करती है। इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया है और कहा जा सकता है।

इस सामान्य विश्लेषण के साथ हम शाक्त तन्त्रों पर एक विहंगम दृष्टि डालें। शाक्त तन्त्रों को हम मुख्यतः कौल और क्रम सम्प्रदाय में विभक्त कर सकते हैं। दोनों ही शक्तिपारम्य पक्ष को स्वीकारते हैं, किन्तु कौल तन्त्रों का उपदेश शिव ने शक्ति को तथा क्रम तन्त्रों का उपदेश शक्ति ने शिव को किया है। आगम और निगम शब्द से इनका परिचय देने का रिवाज पड़ गया है, लेकिन अभिनवगुप्त तक के ग्रन्थों में ऐसा कोई विभाजन नहीं मिलता, यह बात हम अनेक स्थलों पर सप्रमाण बता चुके हैं। कुल और क्रम मत का परिचय देकर इस निबन्ध को लंबा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय तथा उनके शिष्य डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने इनके संबन्ध में संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में पर्याप्त सामग्री हमारे सामने प्रस्तुत कर दी है।

सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग प्रस्तुत निबन्ध में अनादि काल से गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान के अर्थ में किया गया है। तदनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय की प्रवृत्ति अनादि काल से मानी जाती है। इसके विपरीत आधुनिक विचारकों की स्थापना है कि शाक्त तन्त्रों की प्रवृत्ति छठी शताब्दी के बाद हुई। इस पर अभी इतना ही कहा जा सकता है कि मनसा देवी की प्रतिमा ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी की उपलब्ध हो चुकी है। राजस्थान में चित्तौड़गढ़ के पास छोटी-सादड़ी के भ्रमराम्बा मन्दिर में पाँचवीं शताब्दी का शिलालेख उपलब्ध हुआ है। इसके पहले श्लोक में सिंहवाहना भगवती भ्रमराम्बा की स्तुति की गई है। इसी सातत्य में हम दुर्गासप्तशती में शाकंभरी देवी के साथ भ्रामरी देवी की संक्षिप्त तथा देवीभागवत में विस्तृत चर्चा देख सकते हैं। स्पष्ट है कि ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित समय-सीमा से पहले भी भारतवर्ष में शक्ति की उपासना के संकेत मिलते हैं।

वर्तमान समय में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में, दस महाविद्याओं के रूप में तथा अन्य कुब्जिका, तारा, पद्मावती आदि नानाविध देवियों की उपासना के रूप में यह मत प्रचलित है। कौल एवं क्रम मत की पद्धति से अथवा समय मत की पद्धति से इनकी उपासना की जाती है। आजकल दक्ष और वाम पद्धति के

रूप में यह प्रसिद्ध है, यद्यपि अभिनवगुप्त पर्यन्त सभी आचार्यों ने इन शब्दों का प्रयोग भगवान् शिव के दक्षिण मुख से निःसृत भैरव तन्त्रों और वाम मुख से निर्गत शाक्त तन्त्रों के लिये किया है। दक्षिणावर्त और वामावर्त पूजा के अतिरिक्त इनके उपादान द्रव्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। काली, तारा और त्रिपुरा से संबद्ध विशाल साहित्य उपलब्ध है।

सभी तरह के चिन्तन को वेदों से जोड़ने की भारतीय परम्परा रही है, यद्यपि आगम-तन्त्रशास्त्र के अभिनवगुप्त पर्यन्त अनेक विद्वान् इससे सहमत नहीं थे। "सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम्" इस तरह के अनेक वचन प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। द्विविध श्रुति वाला पक्ष भी इसीका समर्थक है। किन्तु जब आचार्य शंकर ने वेदों के अतिरिक्त अन्य सभी मतों का अप्रामाण्य सिद्ध कर दिया, तो प्रत्येक मत के आचार्य अपने-अपने मतों को वेदानुवर्ती बताने के लिये प्रयत्नशील हो उठे और इसके लिये उनको कल्पित श्रुतियों और इतिहास-पुराणों के कल्पित वचनों के अतिरिक्त नूतन उपनिषदों का भी सहारा लेना पड़ा। वैदिकीकरण की यह प्रक्रिया महान् तान्त्रिकाचार्य भास्करराय के समय तक निरन्तर चलती रही। इन्होंने अनेक शाक्त उपनिषदों पर अपने व्याख्या-ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं। इधर डॉ. वुडरफ जैसे विद्वानों ने इसी पद्धति का सहारा लिया और शांकर दृष्टि का अनुसरण करते हुए भारतरत्न म.म.पी.वी. काणे ने उनका खण्डन किया।

अपना सारा रोष डॉ. पी.वी. काणे बौद्ध तन्त्रों पर निकालते हैं। वे बौद्ध षडंग योग को इसके लिये दोषी मानते हैं, जिसमें यमों और नियमों का परित्याग कर दिया गया है। अत्यन्त नवीन महानिर्वाण तन्त्र को भी वे हिन्दू तन्त्रों का प्रतिनिधि मानकर प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जब कि स्वयं इस तन्त्र में हिन्दू शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। यह तो स्पष्ट ही शाक्त तन्त्र का ग्रन्थ है। वहाँ शाक्त, शैव, वैष्णव, सौर और गाणपत्य तन्त्रों का उल्लेख अवश्य मिलता है, जिनकी परम्परा प्रपंचसार और शारदातिलक जैसे स्मार्त तन्त्रों से जुड़ी है। तन्त्र की इन सभी शाखाओं में ही नहीं, भगवद्गीता के भास्कर-भाष्य में और अनेक उपनिषदों में भी षडंग योग निरूपित है। ऐसी स्थिति में हिन्दु तन्त्रों का उद्भव पहले हुआ या बौद्ध तन्त्रों का, उनका यह प्रश्न ही निरर्थक है, क्योंकि इस प्रश्न में तन्त्रशास्त्र को केवल पंचमकार की पद्धति तक ही सीमित कर दिया गया है। उनके प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि भारतीय तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं में पंचमकार का प्रवेश कापालिक और कौल मत की पृष्ठभूमि में एक साथ हुआ होगा।

पंचमकार के उपयोग के लिये वैदिक मन्त्रों का प्रयोग, ऊर्ध्वरेतस्त्व का सिद्धान्त, चक्रपूजा, पंचमकार की आध्यात्मिक व्याख्या जैसे विषयों की उनके द्वारा की

गई समालोचना अवश्य अवधेय है। शक्तिसंगम तन्त्र के उपोद्घात के अन्तिम भाग में हमने भी इस विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं। हम कह सकते हैं कि इस असामाजिकता के कारण बौद्ध धर्म के साथ तान्त्रिक धर्म भी भारत में उपेक्षा का पात्र बन गया या उसने दंभ से भरे पाषण्ड का सर्वत्र प्रसार कर दिया। आज भी हम यत्र-तत्र-सर्वत्र इसके दर्शन कर सकते हैं।

इसके साथ ही सर्ववर्णविषयक आगम-तन्त्रशास्त्र ने जो सामाजिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक मूल्य स्थापित किये, भारत की विभिन्न भाषाओं के माध्यम से सन्त-परम्परा ने जिन उत्कृष्ट अवदानों को उजागर किया, वे इन इन्द्रियप्रीणन द्रव्यों के आगे निष्प्रभ हो गये। आज का भारतीय समाज वैदिक एवं तान्त्रिक उभयविध दोषों से ग्रस्त है और इन दोनों महनीय शास्त्रों के उत्कृष्ट मूल्यों को हम भुला बैठे हैं।

आज भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आगम-तन्त्र की सभी शाखाएं, यहाँ तक कि बौद्ध तन्त्र भी मन्त्र-पुरश्चरण, अग्नि-कार्य से संबद्ध भूमिसंस्कार, कुण्डसंस्कार, अग्निसंस्कार, आज्य(घृत)संस्कार आदि के प्रसंग में पूरी तरह से वैदिक विधियों का अनुवर्तन करते हैं। वैष्णव, शैव और बौद्ध तन्त्रों की मण्डलाराधन-विधि एक सी है। दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मुद्रा, न्यास, पीठ, चक्र आदि विषयों की विवेचना और उनकी अनुष्ठान पद्धति भी सर्वत्र एक सरीखी है। आगे इस विषय पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

कुछ आधुनिक विचारक भारतीय-परतन्त्रता की अवधि को एक हजार वर्ष से बढ़ा कर डेढ़ हजार या ढाई हजार वर्ष तक ले जाना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति भारत को आगम-तन्त्रशास्त्र, पुराण एवं सन्त साहित्य के ही नहीं, बुद्ध और महावीर के अवदानों से भी दूर रखना चाहते हैं। केवल बुद्ध के कुछ उपदेशों को अपने तरीके से मान्यता देकर कुछ आधुनिक पाश्चात्य विचारक और उनके मानसपुत्र भी तो यही करना चाहते हैं। पूरे भारतीय वाङ्मय का सचेत अनुशीलन कर एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण से ही अब इस देश को पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

तन्त्रों पर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव

उपक्रम

"आगम आणि तन्त्रशास्त्र"[1] शीर्षक निबन्ध में संहिता, आगम और तन्त्र शब्दों पर विचार करते हुए हम बता चुके हैं कि आगम और तन्त्र पर्यायवाची शब्द हैं। इधर हमने त्रिलोचन शिवाचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि का अनन्तशंभु की संस्कृत टीका की सहायता से भाषानुवाद किया है। इससे हमारी उक्त बात की पुष्टि ही नहीं होती, प्रत्युत यह भी पता चलता है कि [2]शैवागमों के लिये आगम और तन्त्र शब्द के साथ संहिता शब्द का भी निर्बाध प्रयोग होता रहा है। तदनुरूप हमने प्रस्तुत निबन्ध के शीर्षक में वैष्णव संहिता, शैव आगम एवं शाक्त और बौद्ध तन्त्रों के लिये भी केवल तन्त्र शब्द का ही प्रयोग किया है। निबन्ध में आगम शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

निगम (वेद) और आगम (तन्त्र) शास्त्र, विशेष कर वेद एवं बौद्ध-जैन शास्त्र परस्पर विरोधी हैं, प्रायः ऐसी मान्यता है। वेदों को त्रैवर्णिक-विषय और आगमों को सर्ववर्ण-विषय माना जाता है। वेदों को ब्राह्मणशास्त्र एवं बौद्ध-जैन परम्परा को श्रमणशास्त्र भी कहा जाता है और बताया जाता है कि इनमें शाश्वत[3] शत्रुता है। जैन परम्परा का हमारा ज्ञान नहीं के बराबर होने से उसके विषय में कुछ न कहकर बाकी की परम्पराओं पर हम यहाँ विचार करेंगे। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के विश्वविख्यात सरस्वती भवन पुस्तकालय के ग्रन्थाध्यक्ष रहे स्वर्गीय पण्डित श्री

---

१. वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, पूना के द्वारा सन् १९७८ में प्रकाशित ग्रन्थ "प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन" (पृ. १८१-१९६) में यह निबन्ध छपा है।

२. शैवागमों के लिये सि. सा. की टीका में उद्धृत कारणागम के — "किरणं वातुलं चैतास्त्वष्टाविंशतिसंहिताः" (पृ. २८३), "प्रोद्गीताद्यष्टतन्त्राणि" (पृ. २८४) इन वचनों में संहिता और तन्त्र शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। "तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे" (१६.२०) इस वचन में मतंगपारमेश्वरागम अपने को तन्त्र कहता है।

३. "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२.४.९) इसके उदाहरण के रूप में "श्रमणब्राह्मणम्" यह उदाहरण दिया जाता है। इसमें दो बातें विचारणीय हैं — एक तो यह कि यह पाणिनि का सूत्र है, कात्यायन का वार्त्तिक नहीं; दूसरा यह कि पातंजल महाभाष्य, काशिकावृत्ति और सिद्धान्तकौमुदी में भी उक्त उदाहरण नहीं मिलता। किस वैयाकरण द्वारा यह उदाहरण सर्वप्रथम प्रस्तुत हुआ, इसकी खोज होनी चाहिये। अभी काशिकावृत्ति की पदमंजरी टीका में यह उपलब्ध है।

विभूतिभूषण भट्टाचार्य[४] जी का कहना था कि आजकल वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में जिन विपरीत दृष्टिकोणों की व्याख्या की जाती है, वस्तुतः पालि वाङ्मय में उसके बहुत कम दर्शन होते हैं, प्रत्युत अनेक स्थलों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रशंसा के स्रोत फूट पड़े हैं। स्वर्गीय पण्डित श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी जी का भी यह मन्तव्य था कि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन पर औपनिषद एवं साख्य-योग दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था। इस विषय को हम तज्ज्ञ विद्वानों के लिये छोड़ देते हैं और मूल विषय पर आते हैं, जिसकी सूचना इस निबन्ध के शीर्षक के द्वारा दी गई है।

वैष्णव तन्त्र की वैखानस शाखा और शैव तन्त्र की सिद्धान्त शाखा वैदिक विचारधारा के बहुत नजदीक मानी जाती है। गौतम धर्मसूत्र (स्मृति) के अष्टम अध्याय में [५]वर्णित ४८ संस्कारों में से इक्कीस संस्कार पूरी तरह से वेदों में प्रतिपादित सात पाकसंस्थाओं, सात हविःसंस्थाओं और सात सोमसंस्थाओं के अन्तर्गत आते हैं। ४८ संस्कारों का उल्लेख शैव-शाक्त तन्त्रों में ही नहीं, विभिन्न पुराणों में भी मिलता है। दीक्षा, पुरश्चरण, षट्कर्मसाधन आदि के प्रसंग में होम की अनिवार्यता सर्वत्र स्वीकृत है। अभी कुछ वर्ष पहले वीरशैव सम्प्रदाय के एक उत्सव में नांदेड (महाराष्ट्र) जाना हुआ था। वहाँ धार्मिक उत्सव के साथ एक यज्ञ का भी आयोजन किया गया था। इसके विरोध में वहाँ खूब पर्चेबाजी हुई। विरोधियों का कहना था कि वीरशैव मत में इस तरह के आयोजनों का कोई स्थान नहीं है। आधुनिक बौद्ध मतावलम्बियों का भी यही दृष्टिकोण है। यह सारा विधि-विधान त्रैवर्णिक-विषय शास्त्रों तक ही सीमित है, ऐसा इन लोगों का कहना है। इस भ्रान्ति के निवारण के लिये उन-उन शास्त्रों से कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत किये जायँगे।

सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना चाहिये कि बुद्ध और महावीर ने वैदिक हिंसा का विरोध किया था, पूरे कर्मकाण्ड का नहीं। यों वैदिक कर्मकाण्ड की निःसारता की चर्चा तो उपनिषदों में, सांख्यदर्शन और गीता में भी यत्र-तत्र मिलती है, आचार्य शंकर

---

४. श्री विभूतिभूषण भट्टाचार्य जी का काशी की विद्वन्मण्डली में विशिष्ट स्थान रहा है। न्याय-विद्या तो उनको आनुवंशिकी रूप में प्राप्त हुई थी। वे अच्छे संस्कृत गीतकार और संस्कृत नाटकों के प्रखर अभिनेता थे। भारतीय एवं पाश्चात्य गणितशास्त्र में उनका समान अधिकार था। भारतीय संगीत में स्वीकृत २२ श्रुतियों की सूक्ष्म तरंगों को व्यक्त करने के लिये उन्होंने एक नूतन वाद्य-यन्त्र का आविष्कार किया था। दुर्भाग्य से योग्यता के अनुरूप उनको संमान न मिल सका। संस्कृत समाज की इस शोचनीय स्थिति की चर्चा हमने — "प्रादेशिकतापिशाचीग्रस्ता प्राच्यवाणी" शीर्षक निबन्ध में की थी। दुर्भाग्य से संस्कृत समाज का नेतृत्व आधुनिक राजनेताओं के सहोदर संस्कृत विद्वानों के हाथों में चला गया है।

५. इन अड़तालीस संस्कारों का वर्णन अभिनवगुप्त के तन्त्रसार की पृ. १४८-१५४ तक फैली टिप्पणी में विस्तार से किया गया है।

के मत में भी कर्मकाण्ड की उपयोगिता चित्तशुद्धि तक ही सीमित मानी गई है, मोक्ष का प्रधान साधन उन्होंने ज्ञान को ही माना है; तो भी शंकर के पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती अनेक वेदान्ताचार्यों ने ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को स्वीकार किया है। वैष्णव तन्त्रों एवं श्रीमद्भागवत जैसे वैष्णव पुराणों में तो कर्म की भी साक्षात् मोक्ष-साधनता मानी गई है। यही कारण है कि आगम-तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में अग्निकार्य के प्रसंग में पूरी वैदिक पद्धति को उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

ऊपर चर्चित त्रिलोचन शिवाचार्य का सिद्धान्तसारावलि नामक ग्रन्थ अनन्तशंभु की संस्कृत टीका पर आधृत भाषानुवाद के साथ काशी के जंगमवाड़ी मठ से प्रकाशित हो चुका है। टीकाकार (पृ. २५८) ने सूचित किया है कि [६]चोलदेश के नृपति राजेन्द्र चोल गंगास्नान के लिये जब उत्तरभारत आये, तो वे अपनी वापसी यात्रा में यहाँ के शैवाचार्यों को अपने साथ ले गये। त्रिलोचन शिवाचार्य उन्हींमें से एक थे। इन्होंने अपने किसी ग्रन्थ की काशी में रहकर रचना की थी, ऐसी भी सूचना मिलती है। इन शैवाचार्यों का अत्यल्प साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है, जब कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि छठी से बारहवीं शताब्दी तक के मध्यभारत के अनेक शासकों के ये राजगुरु रहे हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थ के दीक्षा प्रकरण में अग्निकार्य-विधि का, अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा, अधिक विस्तार से विवरण दिया है और टीकाकार ने इस विषय को अनेक शास्त्रों का प्रमाण देते हुए और भी अधिक स्पष्ट किया है। अतः प्रथमतः उसीके आधार पर यहाँ के विषयों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

शैवागम

इस विषय का वर्णन उन्होंने अपने ग्रन्थ के क्रियापाद के २६-२९ तथा ३३-४२ श्लोकों में किया है। प्रथमतः यहाँ (पृ. १३७-१४७) दीक्षा के प्रसंग में दी जाने वाली आहुतियों की पद्धति को बताने के लिये कुण्ड-संस्कार आदि विषयों का वर्णन किया गया है। टीकाकार के द्वारा यहाँ सर्वप्रथम नेमि (मेखला) और नाभि (कुण्डयोनि) आदि कुण्ड के विविध अवयवों के निर्माण की पद्धति को

---

६. "राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूमौ महीमवन्। गङ्गास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैववरांस्तदा।। स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः सन् तान् समादाय शैवकान्। स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्तथा।। काञ्चीमध्ये चोलभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तराः।।" इन श्लोकों को "हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया" (पृ. ३८, टि.२) के लेखक डॉ. वी.एस. पाठक ने सिद्धान्तसारावलि के नाम से उद्धृत किया है। ये श्लोक सि. सा. की टीका में उद्धृत हैं। डॉ. पाठक ने जिस स्रोत के आधार पर यह टिप्पणी की है, वहाँ भी टीकाकार का ही उल्लेख है।

बताकर कुण्ड के निरीक्षण, प्रोक्षण आदि अठारह संस्कारों का स्वरूप निरूपित है। कुछ [७]आचार्य अक्षपाट नामक संस्कार की भी चर्चा करते हैं। टीकाकार ने इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है और बताया है कि यह संस्कार कुण्ड का नहीं, मण्डप का है। कुण्ड के इन संस्कारों को बताने के बाद उसमें वागीश्वरी और वागीश्वर का आवाहन किया जाता है। तब अरणि से अथवा सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न; द्विज (श्रोत्रिय) के घर से अथवा अपने घर से मृत्पात्र अथवा ताम्रपात्र में रखकर लाई गई अग्नि को कुण्ड में स्थापित किया जाता है। यहाँ कारणागम के प्रमाण से बताया गया है कि सूर्यकान्त मणि से उत्पन्न की गई अग्नि श्रेष्ठ, काष्ठज (अरणिज) अग्नि मध्यम एवं श्रोत्रिय के घर से लाई गई वह्नि कनिष्ठ मानी जाती है। स्पष्ट है कि इन तीनों प्रकार की अग्नियों के अनुपलब्ध होने पर अपने घर से अग्नि लाई जाती है।

इस प्रकार सविधि कुण्ड में स्थापित वह्नि की नाभिकुण्ड में स्थित वह्नि से अभेद-भावना की जाती है। कुण्ड में स्थापित वह्नि में यह भी भावना की जाती है कि इसकी उत्पत्ति वागीशी के गर्भ से हुई है। यद्यपि यह विधान वैदिक विधि में नहीं मिलता, किन्तु इससे अग्नि के गर्भाधान आदि संस्कारों की सूचना मिलती ही है। टीकाकार ने विस्तार से इन संस्कारों का स्वरूप बताया है। इस अग्नि को पंचवक्त्र शिव से अभिन्न मानकर उनकी अड़तीस कलाओं का न्यास भी इसमें किया जाता है और इस अग्नि को शिवाग्नि[८] नाम दिया जाता हैं। पंचवक्त्र शिव के विभिन्न वक्त्रों में कामना के भेद से आहुतियाँ दी जाती है। इस प्रसंग में वक्त्राभिघारण, वक्त्रसन्धान और वक्त्रैकीकरण की प्रक्रिया का वैदिक अनुष्ठान से कोई संबन्ध न रहने पर भी वैदिक [९]व्याघारण-विधि से समरूपता विशेष रूप से अवलोकनीय है।

---

७. इस विषय की चर्चा सि.सा. के टीकाकार ने विस्तार से की है। देखिये -- पृ. १३९-१४०; नेत्रतन्त्र (३.४५) और स्वच्छन्दतन्त्र (२.२०१) में भी यह विषय चर्चित है। वहाँ अक्षवाट शब्द प्रयुक्त है और कुण्ड के संस्कारों में ही इसकी गणना की गई है। टीकाकार क्षेमराज ने इस शब्द का अर्थ यवनिका (तिरस्करिणी शाटी) किया है। सि.सा. के टीकाकार ने बताया है कि यह मण्डप का संस्कार है, कुण्ड का नहीं।

८. चन्द्रज्ञानागम (१.११.४७-५७), मकुटागम (१.२.२४-३३), पारमेश्वरागम (४.१-४३) आदि में भी इसी पद्धति से शिवाग्नि के सम्पादन आदि का विवरण मिलता है। शिवाग्नि का यह स्वरूप शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वरसंहिता (१८.६२-६७) में भी बताया गया है।

९. "व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते" (१७.१२) माध्यन्दिनसंहिता के वेदार्थपारिजात-भाष्य में व्याघारण का यह लक्षण दिया गया है। व्याघारण और अभिघारण पर्यायवाची शब्द हैं। प्रस्तुत स्थल पर वक्त्राभिघारण की प्रक्रिया शिव के पंचमुखों में इसी पद्धति से की जाती है। घृत के पाँच बार ग्रहण करने की सार्थकता शिव के पाँच मुखों के आधार पर मानी जायगी।

कुण्ड एवं अग्नि के संस्कारों को बताने के बाद यहाँ घृत के अठारह संस्कारों को तथा स्रुक् में शक्ति का और स्रुवा में शिव का न्यास कर पूर्णाहुति की प्रक्रिया को भी बताया गया है और अन्त में अनेक प्रकार के काम्य-फलों की प्राप्ति के लिये काम्य होम का विधान इस प्रकार वर्णित है—

> स्वर्णाप्त्यै मधुना च गव्यपयसा गोसिद्धये सर्पिषा
> लक्ष्म्यै शर्करया जुहोतु यशसे दध्ना च सर्वर्धये ।
> अन्नैरन्नसमृद्धये च सतिलैर्द्रव्याप्तये तण्डुलै-
> र्लाजैः सद्यशसे कुसुम्भकुसुमैः साश्वारिजैर्वाससे ।।
> पद्मैर्भूपतिमुत्पलैर्नृपवधूस्तन्मन्त्रिणः कैरवै-
> रश्वत्थादिसमिद्भिरग्रजमुखान् वर्णान् वधूः पिष्टजैः ।
> पुत्तल्यादिभिरन्वहं च वशयेज्जम्भं त्वनावृष्टये
> लोणैर्वृष्टिसमृद्धये च जुहुयान्मन्त्री पुनर्वेतसैः ।।

इन श्लोकों को यहाँ इसलिये उद्धृत किया गया है कि प्रायः सभी तन्त्रों में विविध कामनाओं के लिये समान रूप से इन द्रव्यों का विधान मिलता है।

पूर्णाहुति का यहाँ प्रदर्शित क्रम विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वह इस प्रकार है— स्रुवा की सहायता से स्रुक्पात्र को घृत से भर कर ऊपर मुख वाले स्रुक्पात्र को पकड़कर उसके मुख के ऊपर अधोमुख स्रुवा को रखकर स्रुक् के अग्र भाग में पुष्प को रखकर शंख के समान मुद्रा से युक्त दोनों हाथों से स्रुक् और स्रुवा के मूल भागों को पकड़ कर दाहिने हाथ से मूल के ऊपर के भाग और बायें हाथ से मूल के पश्चात् भाग को एक साथ पकड़ कर दोनों पैरों को बराबर रखकर उठे। तब सीधा तन कर खड़ा होकर अपनी नाभि से स्रुक् और स्रुवा के मूल को थोड़ा तिरछा करके स्रुक् के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर कर मूल मन्त्र के अन्त में वौषट् पद को जोड़ कर मन्त्र का प्लुत स्वर से उच्चारण करता हुआ धीरे-धीरे स्रुक् और स्रुवा के मूल को अपने बायें स्तन तक ऊपर उठाकर घृतधारा में बिन्दु-स्थान से निकल रही अमृतधारा का ध्यान कर यव के प्रमाण की पतली अविच्छिन्न धारा से सारे घृत की अग्नि में आहुति दे दे। पूर्णाहुति की यही विधि शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

> घृतेन स्रुचमापूर्य निधायाधोमुखं स्रुवम् ।
> तदग्रे पुष्पमारोप्य शङ्खसंनिभमुद्रया ।।
> हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवौ धृत्वा तन्मूलं नाभिमध्यगम् ।
> कृत्वा चोत्थाय संतिष्ठेद् ऋजुकायः समाहितः ।।

मूलमन्त्रमतिस्पष्टं वौषडन्तं समुच्चरन्।
बिन्दोरुद्गीर्णपीयूषैर्नासारन्ध्रविनिर्गतैः ।
स्रुवमापूरयन् सर्पिः पूर्णां दद्याच्छिवानले।।

इन वचनों में पूर्णाहुति की ऊपर बताई गई विधि को ही स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार हम यहाँ हम देखते हैं कि यह पूरा प्रकरण वैदिक विधि के अनुरूप है, स्थान-स्थान पर आगमिक यजन को इसके साथ अवश्य जोड़ा गया है। अग्निकार्य की यह सारी विधि बौद्ध तन्त्रों में भी इसी पद्धति से वर्णित है। आगे इस विषय पर प्रकाश डाला जायगा।

अग्निकार्य के लिये मण्डप, कुण्ड इत्यादि के निर्माण की विधि को जानना भी जरूरी है। अतः आगे (पृ. १५७-१७८) दीक्षाविधि की सम्पन्नता के लिये बनाये जाने वाले मण्डपों का लक्षण बताया गया है। इन मण्डपों को भी अठारह प्रकार के संस्कारों से संस्कृत किया जाता है। इसी प्रसंग में वेदिका का विस्तार और उसका लक्षण बताते हुए चतुष्कोण आदि विविध आकार वाले कुण्डों में सामान्य लक्षणों को बताकर आगे (श्लो. ३६-३९) योनि, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, षडश्र, पद्म और अष्टकोण नामक कुण्डों का स्वरूप और इन कुण्डों में संपाद्य विविध काम्य कर्मों का उल्लेख किया गया है। इन अष्टविध कुण्डों के नाम तो बौद्ध आदि तन्त्रों में भी मिलते हैं, किन्तु इनके निर्माण की पद्धति आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में हमें सर्वप्रथम यहीं देखने को मिली। स्रुक् और स्रुवा नामक हवन-साधनों का तथा विष्टर, परिधि, इध्म, समिधा, ज्ञानखड्ग आदि यागोपकरणों का यहाँ प्रदर्शित स्वरूप भी पूरी तरह से वैदिक विधान का अनुसरण करता है। टीकाकार ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्रुक् और स्रुवा का निर्माण एक ही काष्ठ-खण्ड से किया जाता है।

यागधाम का अर्थ यज्ञशाला है। उसके लिये भूमि का निर्धारण हो जाने के उपरान्त उसके शल्योद्धार आदि संस्कार किये जाते हैं। यहाँ गृहाग्रमण्डप, हर्म्याग्र (आलयाग्र) मण्डप, द्वारोत्सेध आदि का निर्माण भी किया जाता है। यहाँ बताया गया है कि एक हस्त का प्रमाण चौबीस अंगुल का होता है और इनका निर्धारण आचार्य के हस्त एवं अंगुल के आधार पर किया जाता है। इन सारे विषयों का वर्णन टीका में अतिविस्तार से किया गया है और प्रमाण के रूप में विभिन्न शैवागमों को ही उद्धृत किया गया है। इन सबसे यह पता चलता है कि शैव आगमों में दीक्षा के प्रसंग में अग्निकार्य-विधि का पूरा प्रकरण वैदिक विधि-विधानों का सर्वात्मना अनुसरण करता है।

बौद्ध तन्त्र

बौद्ध तन्त्रों में कालचक्रतन्त्र एवं उसकी विमलप्रभा[१०] टीका का विशेष स्थान है। यहाँ भी हमें अग्निकार्य के विषय में वैदिक कर्मकाण्ड का प्रभाव दृष्टिगत होता है। त्रिविध अथवा पंचविध अग्नियों का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलता है। यहाँ भी दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय नामक त्रिविध वह्नियाँ वर्णित हैं, किन्तु उनकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। द्वितीय अध्यात्म पटल के ३६ वें श्लोक में बताया गया है कि हृदय, कण्ठ और नाभि में क्रमशः वे तीनों वह्नियाँ स्थित हैं। हृदयस्थित अर्धचन्द्राकार विद्युदग्नि ही दक्षिणाग्नि है। कण्ठकमल में वृत्ताकार सूर्याग्नि ही गार्हपत्याग्नि और नाभिस्थान में चतुरस्राकार क्रव्यादाग्नि ही आहवनीयाग्नि है। इन सबके ऊपर सत्य नामक चतुर्थ ज्ञानाग्नि विद्यमान है। यहाँ चन्द्र-सूर्य आदि की कोई सत्ता नहीं है। आगे भी अभिषेक पटल (३.७४-७५) में होमविधि के प्रसंग में त्रिविध वैश्वानर के रूप में इन्हींका वर्णन मिलता है। आनन्दस्वभाव सत्य नामक चतुर्थ अग्नि का यहाँ भी उल्लेख है और बताया गया है कि सभी प्रकार का होम इसीमें करना चाहिये। यहाँ "क्रव्यादमग्निम्" इत्यादि ऋग्वेद (१०.१६.९) का पूरा मन्त्र उद्धृत किया गया है और कहा गया है कि प्रस्तुत स्थल में भी क्रव्याद अग्नि का यही अर्थ गृहीत है। सूर्याग्नि की सात जिह्वाओं का भी यहाँ (भा.२, पृ. ७५) उल्लेख है, किन्तु जिह्वा के रूप में यहाँ साल वारों की चर्चा है, अग्नि की लेलिहाना[११] आदि जिह्वाओं का नहीं।

विमलप्रभाकार ने आहवनीयाग्नि को ही क्रव्यादाग्नि माना है। ऊपर उद्धृत ऋग्वेद का मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद (३५.१९) में भी उपलब्ध है। पितृमेध प्रकरण का यह मन्त्र है। वहाँ क्रव्यादाग्नि का अर्थ श्मशानाग्नि है। इस मन्त्र के भाष्यकारों ने भी क्रव्यादाग्नि से भिन्न ज्ञानाग्नि का उल्लेख किया है। उसका यह अभिप्राय हो सकता है कि अग्निहोत्री का शरीर ज्ञानाग्नि को समर्पित किया जाता है, न कि सामान्य व्यक्ति

---

१०. शैव तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक एवं उसकी जयरथ-कृत टीका के समान ही बौद्ध तन्त्रों में इसकी मान्यता है। 'धीः' के २२ वें अंक में प्रकाशित "कालचक्रतन्त्र-विमलप्रभा समीक्षा" शीर्षक निबन्ध में हमने इन दोनों ग्रन्थों का विस्तृत परिचय दिया है। बौद्ध तन्त्रशास्त्र में वर्णित प्रायः सभी विषयों का यहाँ प्रतिपादन हुआ है, तो भी यह ध्यान देने की बात है कि तन्त्रालोक के छठे और सातवें आह्निक के प्राणचार के प्रसंग में क्षण से लेकर महाकल्प पर्यन्त कालचक्र की कालोदय और चक्रोदय के रूप में भी जो आन्तर प्रक्रिया वर्णित है, वह विमलप्रभा में देखने को नहीं मिलती।

११. यहाँ आगे अग्नि की सात जिह्वाओं के नाम विभिन्न तन्त्रों के आधार पर दिये गये हैं। अमरकोश (१.१.५६) की टीका और आपटे की डिक्शनरी में भी अग्निजिह्वा शब्द पर इनके नाम मिलते है। इन सबमें कोई समानता दृष्टिगोचर नहीं होती।

की तरह क्रव्यादाग्नि को। इस विवरण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अग्निचतुष्टय का यह व्याख्यान पूरी तरह से वैदिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया है। यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि आहवनीयाग्नि का क्रव्यादाग्नि से क्या संबन्ध है?

सिद्धान्तसारावलि में वर्णित अष्टविध कुण्डों की ऊपर चर्चा की गई है। यहाँ भी अध्यात्म पटल के अन्त (श्लो. १५७-१५८) में शान्तिक कुण्ड, शान्तिक होम आदि की संक्षिप्त चर्चा कर आगे (२.११, ७०; २.६५) अष्टविध कुण्डों का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त सार्वकर्मिक नामक नवम कुण्ड का भी यहाँ (२.७०-७२) विधान मिलता है। इन कुण्डों के नाम वर्तुल (वृत्त), चतुरस्र, धनुषाकार (अर्धचन्द्र), पंचकोण, सप्तकोण, त्रिकोण, षट्कोण और अष्टकोण[१२] दिये गये हैं (२.१२; ३.६५)। अभिषेक पटल (३.६-१८) में भूपरीक्षा, शान्ति आदि कर्मों के लिये उपयुक्त भूमि की परीक्षा, दिग्-विभाग, तदुपयोगी कुण्ड एवं वेदि आदि का प्रमाण, तदुपयोगी समय, विविध कर्मों के लिये उपयुक्त होने वाली समिधाएँ तथा क्षीर, दूर्वा आदि द्रव्य, देवता एवं आसन आदि का निरूपण किया गया है। यही विषय आगे (२.७०-७६; २.६५) भी पुनः वर्णित है। अष्टविध कुण्डों का लक्षण, स्वभाव, होमविधि, अग्नि का आहरण आदि के साथ समिधा, आहुति देने के साधन श्रुवक और पात्री आदि की भी यहाँ चर्चा हुई है। इनके अभाव में वरद[१३] हस्त से आहुतिदान का भी विधान है। आजकल आहुतिदान की यही विधि विशेष रूप से प्रचलित है। यहाँ (२.१६) पात्री को श्रुवक का पर्याय बताकर स्रुक् और श्रुवक का लक्षण भी बताया गया है। इतना सब होते हुए भी इनका विशद स्वरूप जानने की जिज्ञासा बनी ही रह जाती है, जो सिद्धान्तसारावलि के सहारे ही दूर हो पाती है।

मन्त्र-पुरश्चरण (पूर्वसेवा) के प्रसंग में दशांश होम का विधान सभी भारतीय शास्त्रों में मिलता है। यहाँ भी अभिषेक पटल (३.४३) में कोटिजाप के उपरान्त दशलक्ष होम का विधान बताया गया है। चक्री, कुण्डल, कण्ठिका, रुचक, मेखला और [१४]भस्म-यज्ञोपवीत नामक छः मुद्राओं का विवेचन यद्यपि कापालिक मत एवं बौद्ध तन्त्रों में ही मिलता है, तथापि यहाँ (१.१८६) भस्म-यज्ञोपवीत नामक छठी मुद्रा का समावेश

१२. यहाँ और आगे भी कुण्डों के नामों में थोड़ा-बहुत अन्तर मिलता है।

१३. दाहिने हाथ की अंगुलियों को विशेष स्थिति में रखकर शुष्क द्रव्य या खीर आदि की आहुति दी जा सकती है। घृत की आहुति के लिये आजकल यज्ञीय वृक्षों के पत्र का चमस के रूप में उपयोग किया जाता है।

१४. यहाँ निर्दिष्ट चक्री मुद्रा को छोड़कर तथा भस्म और यज्ञोपवीत की अलग-अलग गणना कर मुद्राओं की संख्या कापालिक मत और बौद्ध मत में भी छः मानी गई है। हेवज्रतन्त्र (१.३.१४) में चक्री को स्वीकार कर तथा भस्म और यज्ञोपवीत का परिहार कर पंचमुद्रा-पक्ष गृहीत है। स्पष्ट है कि विमलप्रभाकार पुण्डरीक ने उक्त मत को स्वीकार नहीं किया। 'धीः' का प्रथम अंक (पृ. १०३) भी देखिये।

कापालिक मत में तो स्वाभाविक माना जा सकता है, किन्तु आजकल के नव बौद्धों के लिये यह आश्चर्य की ही बात हो सकती है, क्योंकि भस्म को पाशुपत आदि शैव मतों तक और यज्ञोपवीत को त्रैवर्णिक-विषय शास्त्रों तक ही सीमित माना जाता है। इसी तरह त्रिकाल सन्ध्या की उपासना वैदिक विधि-विधान का ही अंग है। मध्यरात्रि की भी सन्ध्या के रूप में कल्पना कर चार सन्ध्याओं का विधान योग एवं तन्त्रशास्त्र में मान्य हो गया। इन चतुर्विध सन्ध्याओं का उल्लेख यहाँ अनेक स्थलों पर (१.७४, १०५, १८२, २१०; २.२७, ७५; ३.१७, २०, ३४, १०४, ११२, ११७) विविध रूपों में हुआ है। विस्तार के भय से इन सबका विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। पंचम ज्ञान पटल में निरूपित चतुर्थ सन्ध्या का आन्तर स्वरूप विशेष रूप से दर्शनार्ह है। स्पष्ट है कि इन बौद्ध तान्त्रिकों की दृष्टि उतनी संकीर्ण नहीं थी, जितनी श्रीलंका से पुनरुद्धार के रूप में लाये गये बौद्ध धर्म के अनुयायियों की आज है।

वैष्णवागम

"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति ते त्रिविधो मखः" इस अभिप्राय के वचन वैष्णव आगमों एवं पुराणों में भी मिलते हैं। इनमें वैखानस को वैदिक, पांचरात्र को तान्त्रिक एवं भागवत को मिश्र मार्ग से भगवान् की आराधना करने वाला माना गया है। 'मख' शब्द याग का पयार्य है और सात्वतसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने याग और होम की परिभाषा इस प्रकार दी है— "यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्" (पृ. १९-२०), अर्थात् बिम्ब (मूर्ति) आदि में भगवान् की उपासना याग और अग्नि में आहुतिदान होम कहलाता है। स्पष्ट है कि वैष्णव उपासना में वह्नि-सन्तर्पण भी समाविष्ट है। हमने अभी हाल में प्रकाशित अपने ग्रन्थ "वैष्णवागमविमर्शः" (पृ. १०-११, १३-१५) में सप्रमाण स्पष्ट किया है कि वैखानसागम वैदिक कर्मकाण्ड का किस प्रकार साक्षात् अथवा कुछ परिवर्तित रूप में अनुसरण करता है। पांचरात्रागम में भगवदर्चा के समय आगमिक मन्त्रों के साथ वैदिक मन्त्रों का भी प्रयोग किया जाता है। पांचरात्र संहिताओं में प्रतीक रूप में उपलब्ध ऐसे शताधिक मन्त्रों का संग्रह स्थान-निर्देश पूर्वक अभी हाल में किसी अनुसन्धाता ने किया है। भागवत सम्प्रदाय को तो स्पष्ट ही मिश्र सम्प्रदाय माना गया है, अर्थात् यहाँ वैदिक, तान्त्रिक एवं स्मार्त-पौराणिक पद्धति को मिलाकर भगवदर्चा की जाती है। श्रीमद्भागवतपुराण में वर्णित भगवदर्चा-पद्धति को इस विभाग में रखा जा सकता है, जिसको वल्लभाचार्य जी ने चतुर्थ प्रस्थान के रूप में मान्यता दी है। हम कह सकते हैं कि इस सम्प्रदाय में भक्ति मार्ग का उत्कर्ष हुआ और "भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते" इस तरह के वचनों को मान्यता मिली। इस विषय का अधिक विस्तार न कर हम सात्वतसंहिता में वर्णित होमविधि को ही संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

अग्नि-सन्तर्पण का प्रसंग यहाँ षष्ठ परिच्छेद (श्लो. ७५-१६२) में आया है। यहाँ कुण्ड का लक्षण, कुण्ड के संस्कार, कुण्ड की आठ दिशाओं में आठ कलशों की स्थापना, विदिशाओं में चतुर्मूर्ति-समाराधन, [१५]आरण्य आदि भेद वाली अग्नि का आनयन, कालवैश्वानर रूप विष्वक्सेन मूर्ति का ध्यान, अग्नि के परिसमूहन आदि संस्कार, पात्रासादन, आज्यसंस्कार, स्रुक् और स्रुवा का संस्कार, पवित्रधारण, होम, [१६]आहवनीय-सभ्य-गार्हपत्य-ओदनम्पचन नाम वाली अग्नियों की चारों दिशाओं में स्थापना, अग्नियों के मध्य में भगवान् का आवाहन, इध्म-समिधा आदि का विधान, [१७]सात प्रकार की समिधाओं के प्रदान के अवसर पर अन्न नामक समिधा के प्रदान का विशेष प्रकार, यज्ञकुण्ड की भस्म का [१८]तिलक धारण जैसे वे सभी विषय अपनी विशेष प्रक्रिया के साथ यहाँ वर्णित हैं, जिनकी आवश्यकता वह्निसन्तर्पण के प्रसंग में सर्वत्र प्रदर्शित है।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र

शैव प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में नेत्रतन्त्र एवं स्वच्छन्दतन्त्र का विशेष स्थान है। नेत्रतन्त्र यहाँ मृत्युंजयभट्टारक के नाम से जाना जाता है। ये दोनों ग्रन्थ क्षेमराज की महत्त्वपूर्ण उद्योत टीका के साथ कश्मीर से प्रकाशित हुए थे। दिल्ली से इनका पुनः प्रकाशन हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों में दीक्षा के प्रसंग में अग्नि-समाराधन की यह विधि वर्णित है। नेत्रतन्त्र के तृतीय अधिकार (श्लो. ३८-८२) और स्वच्छन्दतन्त्र के द्वितीय पटल (श्लो. १८३-२८९) में अग्नि-संतर्पण विधि के वे सभी विषय वर्णित हैं, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

नेत्रतन्त्र (३.४५) और स्वच्छन्दतन्त्र (२.२०१) में भी अक्षवाट संस्कार का उल्लेख है। स्वच्छन्दोद्योत में इसका अर्थ यवनिका किया है। ऐसा लगता है कि इन दोनों तन्त्रों की दृष्टि में भी यह कुण्ड का संस्कार है, क्योंकि उसीके प्रसंग में इसका उल्लेख है। सिद्धान्तसारावलि और उसके टीकाकार के मत को हम ऊपर बता चुके हैं कि यह संस्कार कुण्ड का न होकर मण्डप का है। यह भी ध्यान देने की बात है

---

१५. आरण्य का अर्थ अरणि के मन्थन से उत्पन्न अग्नि है, जंगल में लगी आग नहीं।

१६. दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय नामक तीन तथा सभ्य एवं आवसथ्य को मिलाकर पाँच अग्नियों का निरूपण वैदिक वाङ्मय में मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दक्षिणाग्नि को छोड़कर चार वह्नियाँ वर्णित हैं। ओदनम्पचन शब्द आवसथ्य, अर्थात् गृह्याग्नि का पर्याय है।

१७. सात प्रकार की समिधाओं में यहाँ (पृ. ९९) समिधा के अतिरिक्त पुष्प, धूप, मधुपर्क, बीज, चरु और घृत का समावेश है।

१८. यज्ञीय भस्म का तिलक अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार अथवा भ्रूमध्य में बिन्दु के रूप में किया जा सकता है।

कि वहाँ 'अक्षपाट' शब्द प्रयुक्त है, अक्षवाट[१९] नहीं। वागीशी के आवाहन की प्रक्रिया सि.सा. के समान इन दोनों तन्त्रों में भी प्रदर्शित है। नेत्रतन्त्र में स्रुक्, स्रुवा, वेदिका, कुण्ड आदि के निर्माण की विधि भी बताई गई है। यहाँ (३.७०) कुण्ड को क्रियाशक्ति और अग्नि को ज्ञानशक्ति माना गया है। अग्नि की नौ[२०] जिह्वाओं का यहाँ (३.७६) का उल्लेख है और उनके नाम क्षेमराज ने बताये हैं। अन्त में विभिन्न कामनाओं की सिद्धि के लिये विभिन्न द्रव्यों की आहुति का विधान किया गया है।

स्वच्छन्दतन्त्र में भी कुण्डसंस्कार, विष्टर, ध्यान, पूजन, मुद्रा-प्रदर्शन, स्रुक्-स्रुव-संस्कार, आज्यसंस्कार, वक्त्र-सन्धान, काम्याहुति आदि की विधियाँ सि.सा. की पद्धति से ही प्रदर्शित हैं। संस्कारों से संस्कृत अग्नि को यहाँ भी 'शिवाग्नि' नाम दिया गया है। भैरवसमाराधन इस तन्त्र की अपनी विशेषता है। कामनाओं के भेद से आहुतियों के लिये विशेष द्रव्यों का उपादान यहाँ भी निर्दिष्ट है। भुल्लक नामक प्राचीन आचार्य ने इस भैरव तन्त्र की सिद्धान्त शैवशास्त्र-परक व्याख्या की थी। यह व्याख्या आज उपलब्ध नहीं है। क्षेमराज ने इनके मत का बहुशः खण्डन किया है। नृपति पद की प्राप्ति के लिये यहाँ (२.२८५) फल्गुष (नृमांस) की आहुति का विधान है। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त शैवशास्त्र का ग्रन्थ नहीं हो सकता।

वीरशैव मत

वीरशैव मत की ऊपर चर्चा आई है। अभी हाल में शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से पाँच शैवागमों का प्रकाशन भाषानुवाद के साथ हुआ है। इनमें से पारमेश्वरागम मतंगपारमेश्वर से भिन्न है। म.पा. के समान पारमेश्वरागम में पाद विभाग नहीं है। इसी तरह से चन्द्रज्ञानागम, सूक्ष्मागम, मकुटागम और कारणागम भी २८ सिद्धान्तागमों में वर्णित मूल आगमों के उत्तर भाग हैं। सिद्धान्तशिखामणि[२१] में बताया गया है कि कामिक आदि आगमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत का विशेष रूप से वर्णन है। इन सभी आगमों में अग्नि-कार्य विधि के प्रसंग में वैदिक कर्मकाण्ड का स्पष्ट रूप से अनुसरण किया गया है।

---

१९. ऊपर की संख्या सात की टिप्पणी देखिये।

२०. "भावयेन्नवजिह्वं तु" (३.७६) इस वचन की व्याख्या में क्षेमराज ने— "राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका। वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका।। सर्वसिद्धिप्रदा" इस प्रकार अग्नि की नौ जिह्वाओं का परिचय दिया है। ग्रन्थ का नाम वहाँ उद्धृत नहीं है।

२१. सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते। निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्।। (५.१४) इस वचन को देखिये।

पारमेश्वरागम के चतुर्थ पटल में होमविधि निरूपित है। यहाँ की विशेषता यह है कि कुण्ड के साथ यहाँ स्थण्डिल का भी वर्णन हुआ है। यहाँ स्थण्डिल के तीन और कुण्ड के पाँच भेद बताये गये हैं। चतुरस्र, त्र्यस्र और वृत्त--ये तीन स्थण्डिल के तथा चतुरस्र, त्र्यस्र, वृत्त, अर्धचन्द्र और [२२]कमठ— ये पाँच कुण्ड के भेद प्रदर्शित हैं। अग्नि के आहरण के प्रसंग में बताया गया है कि सूर्य की किरणों से अथवा अरणि के मन्थन से उत्पन्न अग्नि का अथवा शिवमन्दिर या शिवयोगी के गृह से लाई गई अग्नि का हवन में उपयोग किया जाता है। भूप्रदेश के वीक्षण आदि आठ संस्कार, कुण्ड में अग्नि की स्थापना और उसमें भगवान् रुद्र का ध्यान आदि करने के उपरान्त अग्नि के जातकर्म आदि संस्कार किये जाते हैं। अग्नि की [२३]सात जिह्वाएं यहाँ वर्णित हैं और इनमें विभिन्न कामनाओं की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले हवनों का विधान है। लेलिहाना, कराली, रोचिष्केशा, त्रिलोहिता, विद्युत्, प्रभा और शिवा— ये इनके नाम हैं। आगे कुण्ड की मेखला में [२४]तिरपन देवताओं के पूजन का क्रम बताकर अग्नि की शिव के रूप में प्रार्थना की जाती है। परिधि-स्थापन, यज्ञपात्र-स्थापन आदि के अनन्तर स्रुक् और स्रुवा की सहायता से पूर्णाहुति पर्यन्त किये जाने वाले होम का प्रकार भी यहाँ प्रदर्शित है।

अन्य चार आगमों में से सूक्ष्मागम में अग्निकार्य-विधि की कोई चर्चा नहीं है। शेष तीन आगमों में भी इसकी संक्षिप्त सी चर्चा मिलती है। जैसे चन्द्रज्ञानागम के क्रियापाद (११.४७-५७) में शैव संस्कार से संस्कृत शिवाग्नि में स्थालीपाक आदि का विधान बताया गया है। गार्हपत्य आदि अग्नियों को यहाँ वैतानाग्नि कहा गया है। यहाँ की टिप्पणियों में "वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु" (४.७) कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के इस पद्य में सूचित वह्नियों का परिचय दिया गया है। समिधा का प्रसंग यहाँ अधिक विस्तार से आया है। अपामार्ग, दूर्वा और कुशा की

२२. श्रीचक्र आदि की रचना के भू, कूर्म (कमठ) और मेरु नामक तीन प्रस्तार शास्त्रों में वर्णित हैं। यहाँ कमठ शब्द का प्रयोग कुण्ड के नाम के रूप में हुआ है। वस्तुतः स्थण्डिल में इसका परिगणन किया जा सकता है।

२३. ऊपर की ११ संख्या की टिप्पणी देखिये।

२४. वास्तुशास्त्र में ६४ अथवा ८१ पद के मण्डल में तिरपन देवताओं के पूजन का क्रम वर्णित है। सि.सा. (४.२५-२८) में इनके नाम दिये गये हैं। यहाँ (४.४३-५४) कुण्ड की मेखलाओं के चारों तरफ पूजनीय ५३ देवताओं की नामावली दी गई है। ये दोनों नामावलियाँ पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न हैं।

भी गणना यहाँ समिधा[२५] में की गई है। समिधा के साथ यहाँ[२६] पवित्र और वेद का लक्षण बताकर इध्म और परिधि का प्रमाण भी बताया गया है। अग्नि के विभिन्न अंगों की यहाँ कल्पना की गई है और उनमें आहुतियाँ देने से प्राप्त होने वाले फलों का भी वर्णन है।

मकुटागम के क्रियापाद (२.२४-३२) में भी संक्षेप में ही अग्निकार्य-विधि वर्णित है। यहाँ शिवाग्नि को शिव की घोर तनु बताया गया है। [२७]सुवर्णा, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरक्ता और अतिरक्ता नामक सात अग्नि-जिह्वाओं का उल्लेख कर इनकी दिशाओं और इनमें संपाद्य कर्मो का एवं शिवाग्नि का ध्यान भी यहाँ वर्णित है।

कारणागम के क्रियापाद (१.१६-२८) में मण्डप, कुण्ड एवं मण्डल की निर्माणविधि एक साथ संक्षेप में वर्णित है। "न्यग्रोधस्तस्य पूर्वस्याम्" (१.१९) इत्यादि श्लोक सि.सा. की टीका (पृ. १५८) में भी उपलब्ध है। यहाँ नौ, पाँच अथवा एक कुण्ड का विधान है। चतुरस्र, अर्धचन्द्र, त्रिकोण, वृत्त, षडश्र, पद्म और अष्टकोण नामक सात कुण्ड ही यहाँ उल्लिखित हैं। इसके बाद स्थण्डिल के निर्माण का प्रकार बताया गया है। मण्डलों में से गौरीलतालिंग नामक मण्डल का उल्लेख है। इसका लक्षण सि.सा. (पृ. १९७-१९९) में विस्तार से बताया गया है। आगे क्रियापाद (८.४-११) में ही वैदिक एवं तान्त्रिक मन्त्रों का उल्लेख कर बताया गया है कि तान्त्रिक मन्त्रों में सबका समान अधिकार है। वेदमार्गी वैदिक मन्त्रों के साथ तान्त्रिक मन्त्रों से भी शिव की उपासना कर सकता है। स्पष्ट है कि इन तीनों तन्त्रों में अग्निकार्य-विधि का निरूपण बहुत ही संक्षेप में किया गया है।

शाक्त मत

शाक्त तन्त्रों में नित्याषोडशिकार्णव का विशेष स्थान है। यहाँ दस महाविद्याओं में तृतीय स्थान पर परिगणित भगवती त्रिपुरा की उपासना-पद्धति वर्णित है। इसके पंचम पटल में जप और होम का विधान है। ऊपर बौद्ध तन्त्र के प्रसंग में दशांश होम की चर्चा आई है। यहाँ भी-- "होमं कुर्याद् दशांशेन" (५.२१) से लेकर पटल समाप्ति पर्यन्त (५.३३) संक्षेप में इसकी चर्चा है। मन्त्र के पुरश्चरण के रूप में यहाँ इसका

---

२५. ऊपर की १७ संख्या की टिप्पणी में सप्तविध समिधाओं में अपामार्ग, दूर्वा और कुशा की गणना नहीं की गई है।

२६. सि.सा. में पवित्र और वेद की कोई चर्चा नहीं मिलती। चन्द्रज्ञानागम (पृ. १२४) पर दी गई टिप्पणी में इनके लक्षण देखिये। यज्ञीय कर्मकाण्ड के ये भी आवश्यक अंग हैं।

२७. ऊपर ११ एवं २३ संख्या की टिप्पणियों पर दी गई नामावली से तुलना कीजिये।

विधान है, अग्निकार्य के रूप में नहीं। पलाश-पुष्प आदि की आहुतियाँ देकर त्रिपुरा विद्या को फलदान में समर्थ बनाया जाता है। योनि, [२८]भग, वर्तुल (वृत्त), अर्धचन्द्र, नवत्रिकोण, चतुरस्र, पद्म और अष्टपत्र नामक आठ कुण्डों का यहाँ उल्लेख मिलता है और इनमें विभिन्न द्रव्यों की आहुतियाँ देने से प्राप्त होने वाले फलों की भी चर्चा है। इस ग्रन्थ के अन्त में बताया गया है कि सविधि आहुति-दान से साधक काल, मृत्यु, यम और व्याधि से भी मुक्ति पा जाता है। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने यहाँ बताया है कि काल, मृत्यु आदि में कोई भेद नहीं है। वस्तुतः ये सब एक ही हैं, तो भी वृत्ति के भेद से एक ही तत्त्व के चार भेद हो जाते हैं।

तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं पर वैदिक कर्मकाण्ड के प्रभाव को दिखाने के लिये हमने यहाँ उदाहरण के रूप में विभिन्न ग्रन्थों को प्रस्तुत किया है। उनके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र में वैदिक अग्निकार्य-विधि का दो अवसरों पर अनुसरण किया गया है-- एक तो शिष्य की दीक्षा के अवसर पर और दूसरा मन्त्र का पुरश्चरण करते समय। ये दोनों ही प्रकार इन उदाहरणों में देखने को मिलते हैं।

कुण्ड-संख्या

कुण्डों की संख्या प्रधानतः आठ मानी गई है। विमलप्रभा में सार्वकर्मिक नवाँ कुण्ड माना गया है। सि.सा. में चतुरस्र कुण्ड को ही सार्वकर्मिक माना है और उसीको आधार मान कर अन्य कुण्डों की रचना का प्रकार बताया गया है। रचना का प्रकार अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता और उनके नामों में भी भिन्नता है। सप्तकोण, कमठ, भग जैसे नामों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि सि.सा. वैदिक विधि-विधान का अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करती है। इन कुण्डों में आकर्षण, वश्य आदि कामनाओं के भेद से जिन विविध द्रव्यों की आहुतियाँ दी जाती हैं, वे भी प्रायः सर्वत्र समान हैं। वीरशैव आगमों में पाँच प्रकार के कुण्डों और तीन प्रकार के स्थण्डिलों का वर्णन मिलता है। मिलकर संख्या आठ अवश्य हो जाती है, किन्तु कुण्ड और स्थण्डिल का रचना-प्रकार एक-सा नहीं है। कुण्ड के लिये पृथ्वी का खनन आवश्यक है, जब कि स्थण्डिल की रचना पृथ्वी के ऊपर होती है। आजकल अग्निकार्य के लिये कुण्ड की अपेक्षा स्थण्डिल का प्रयोग अधिक होता है।

---

२८. यहाँ योनि और भग नामक दो कुण्डों का स्पष्ट रूप से पृथक् वर्णन किया गया है।

पंचविध अग्नि

दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य नामक पाँच अग्नियों में से प्रथम चार श्रौत तथा अन्तिम स्मार्ताग्नि मानी जाती है। श्रौताग्नि वैतानाग्नि[२९] के नाम से प्रसिद्ध है। आवसथ्य को गृह्याग्नि भी कहा जाता है। अवसथ शब्द गृह का वाची है। अवसथ में रहने से इस अग्नि को आवसथ्याग्नि कहते हैं। गृहस्थ इससे अपने घर में पाक आदि क्रिया भी करता है, अतः इसे गृह्याग्नि भी कहा जाता है। यही अग्नि सात्वतसंहिता में ओदनम्पचन के नाम से वर्णित है। रावण के बुरे इरादे को भाँप कर सीता इसी अग्नि से अपनी रक्षा की प्रार्थना करती हैं और अग्निदेव सीता की प्रार्थना पर उनके मूल देह को अपने में समेट कर मायीय देह प्रकट कर देते हैं। रावण इसी मायीय देह का हरण करता है। अग्निपरीक्षा के अवसर पर वे मायीय देह को अपने में समेट कर पुनः उनके मूल देह को प्रकट कर देते हैं।

अग्नि के प्राकट्य के चार प्रकार

इस यज्ञीय अग्नि की उत्पत्ति के चार प्रकार यहाँ बताये गये हैं-- मणिज, अरणिज, द्विज(श्रोत्रिय)गृहज और स्वगृहज। वीरशैव मत में तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार के लिये शिवमन्दिर और शिवयोगी के गृह का ग्रहण किया गया है। विमलप्रभाकार ने आवसथ्याग्नि को क्रव्यादाग्नि बताया है। श्मशानाग्नि को क्रव्यादाग्नि कहा जाता है। विमलप्रभाकार ने ऋग्वेद के मन्त्र में वर्णित क्रव्यादाग्नि से भिन्न चतुर्थ ज्ञानाग्नि का भी वर्णन किया है।

अग्नि की जिह्वाएँ

अग्नि की सात जिह्वाएँ प्रायः सर्वत्र मान्य हैं, किन्तु इनके नामों में सर्वत्र भिन्नता मिलती है। विवाह आदि कार्यों के लिये अग्नि की अलग-अलग जिह्वाओं में आहुति-दान का विधान है और इनकी पहचान भी बताई गई है। नेत्रतन्त्र (३.७६) की टीका में क्षेमराज ने अग्नि की नौ जिह्वाओं का उल्लेख कर उनकी नामावली भी दी है। ऊपर उद्धृत अथवा हमारे परिचित तन्त्र-ग्रन्थों में इन नौ जिह्वाओं का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता, अतः इसके लिये अभी अन्य प्रमाण अपेक्षित हैं। अग्नि के विभिन्न अंगों की भी कल्पना यहाँ की गई है और उनमें आहुतियाँ देने से प्राप्त होने वाले फलों का भी निरूपण किया गया है।

---

२९. "वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु" (४.७) कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में यहाँ श्रौत अग्नियों के लिये वैतान शब्द प्रयुक्त है।

यागोपकरण

सि.सा. में स्रुक् और स्रुवा के अतिरिक्त विष्टर, इध्म और समिधा का लक्षण और प्रमाण बताया गया है। सूक्ष्मागम में समिधा में अपामार्ग, दूर्वा और कुशा का भी समावेश किया गया है और समिधा के साथ पवित्र और वेद का लक्षण भी बताकर इध्म और परिधि का भी प्रमाण बताया गया है। सात्वतसंहिता में समिधा में सात प्रकार वर्णित हैं, जिनमें समिधा के अतिरिक्त पुष्प, धूप, मधुपर्क, बीज, चरु और घृत का समावेश है। इसमें सूक्ष्मागम-निर्दिष्ट तीन प्रकार समाविष्ट नहीं हैं। इन विषयों की चर्चा हमने टिप्पणियों में कर दी है। अपनी अन्तिम बात कह कर हम इस निबन्ध को पूरा करते हैं।

उपसंहार

वेद मानव जाति के आदि-ग्रन्थ हैं, यह केवल भारतीय मान्यता ही नहीं है, आजकल के पाश्चात्य इतिहासविदों ने भी इसे सप्रमाण सिद्ध किया है। वर्तमान मानव समाज में ऋग्वेद ही प्रथम ग्रन्थ के रूप में अवतरित हुआ है। किसी धर्मविशेष का यह ग्रन्थ है, अब यहीं तक इसकी मान्यता नहीं रह गई है, किन्तु देवतावाद, नृवंशशास्त्र और भाषाविज्ञान जैसे शास्त्रों और विज्ञानों के उद्भव में भी इससे सर्वाधिक सहायता मिली है। वैदिक मतावलम्बियों ने बौद्धों और जैनों के पक्ष-विपक्ष में बहुत कुछ कहा है, किन्तु यह भी सत्य है कि पूरी भारतीय प्रजा की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों का संचालन वैदिक वाङ्मय के आधार पर ही हुआ है। सर्वधर्मविषयक शास्त्र के रूप में इसका विकास करने के लिये भारतीय मनीषियों ने आपाततः प्रतीत हो रही कुछ त्रुटियों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है और इन्हीं प्रयत्नों के आधार पर विकसित हुई भारतीय संस्कृति इसके लिये सतत क्रियाशील रही है। यह सभी प्रकार की अच्छाइयों और बुराइयों का सचेत अध्ययन कर उपादेय तत्त्वों के संग्रह और कालातीत तत्त्वों के परिहार में निरन्तर सचेष्ट रही है। ऊपर जो कुछ यहाँ लिखा गया है, उसको इसके एकांश में प्रमाण माना जा सकता है।

आज बौद्ध एवं जैन दृष्टि को वेदविरोधी माना जाता है। एक तरफ "श्रमणब्राह्मणम्", "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" जैसे उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं और दूसरी तरफ हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध न केवल दशावतारों में, अपितु ४-५ ई. शताब्दी में आविर्भूत अहिर्बुध्न्यसंहिता में ३९ विभवावतारों में भी परिगणित हैं। भागवत में वर्णित विष्णु के २४ अवतारों में आद्य जैन तीर्थंकर ऋषभदेव भी मान्य हैं। सर्वप्रथम इसके लिये हमें "श्रमणब्राह्मणम्" पद की समीक्षा करनी होगी कि पाणिनि के "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२.४.९) इस सूत्र के उदाहरण के रूप में किस वैयाकरण ने इसको सर्वप्रथम प्रस्तुत किया है। हमें बताया गया है कि श्रीलंका में अश्वघोष का बुद्धचरित नहीं पढ़ाया जाता। वर्तमान में भारत में बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान श्रीलंका की सहायता से हुआ है। इमें इस संकीर्ण दृष्टि से बचना होगा।

अभ्युदय और निःश्रेयस : सामाजिक मूल्यांकन
(भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में)

भगवान् बुद्ध ने इस स्थूल पांचभौतिक संसार में विद्यमान प्राणियों के [1]इसी जन्म में प्रत्यक्ष भोगे जा रहे दुःखों की निवृत्ति के लिये बोधि-प्राप्ति के अनन्तर प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस संसार के प्रत्येक प्राणी के दुःख का निवारण नहीं कर दूँगा, मैं स्वयं निर्वाण पद में प्रविष्ट न होकर इसी संसार में रहते हुए इसके लिये निरन्तर सचेष्ट रहूँगा।

सांख्यदर्शन कहता है कि यह संसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक त्रिविध[2] दुःखों से आक्रान्त है। इनकी निवृत्ति प्रकृति, प्राकृतिक जगत् और पुरुष का यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो जाने पर अपने आप हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि सुख, दुःख और मोह[3] के कारण पुरुष व्यामूढ रहता है और ये वास्तव में पुरुष के धर्म न होकर सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुणों वाली प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति के इन धर्मों को पुरुष अपना धर्म मान बैठता है और इसी के कारण यह सारा संसार इनसे आक्रान्त हो अपने को दुःख से घिरा हुआ मान लेता है। जब वह यह समझ जाता है कि इन सबका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह इनसे मुक्त हो जाता है।

---

१. राजकुमार सिद्धार्थ ने रुग्ण एवं जरा-जीर्ण व्यक्तियों को और मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति की शवयात्रा को देखकर इनसे मुक्ति पाने की अभिलाषा से तप आरंभ किया था। निर्वाण-प्राप्ति ही इनकी निवृत्ति का एक मात्र उपाय था। वर्तमान जन्म में व्यक्ति को इनसे मुक्ति नहीं मिल सकती। इनके अतिरिक्त दैनंदिन दुःखों की अनुभूति भी व्यक्तियों को होती रहती हैं। भगवान् बुद्ध के बोधिसत्त्व भूमि में प्रवेश का एक ही लक्ष्य था कि इसी जन्म में व्यक्ति के सर्वविध दुःख दूर हो सकें। इसी अभिप्राय से ऊपर की पंक्ति लिखी गई है।

२. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्।।
दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।। (सांख्यकारिका, १-२)

३. न्यायदर्शन (४.१.३) में राग, द्वेष और मोह के रूप में इनकी व्याख्या कर बताया गया है — "तेषां मोहः पापीयान्" (४.१.६)।

सांख्यदर्शन में सत्त्व-रज-तम नामक त्रिगुणों की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है, उसी तरह चिकित्साशास्त्र (आयुर्वेद) में वात-पित्त-कफ नामक तीन धातुओं की साम्यावस्था को प्रकृति माना गया है। जैसे तीन गुणों के विपरिणाम से, अर्थात् प्रकृति में विकार के आने से गुणों में वैषम्य आने पर सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् की सृष्टि होती है, वैसे ही वात-पित्त-कफ नामक तीन धातुओं में विकृति आने पर मनुष्य की प्रकृति (स्वस्थता) नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जाती है। धातुगत वैषम्य को दूर कर देने पर चिकित्सा के द्वारा इसमें पुनः साम्य के प्रतिष्ठित कर देने पर व्यक्ति प्रकृतिस्थ (नीरोग) हो जाता है, उसी तरह से सत्त्व-रज-तम नामक त्रिगुणों की विषमता से उत्पन्न प्रकृति के सुख-दुःख-मोहात्मक धर्मों से जब पुरुष अपने को अछूता मान लेता है, तो पुरुष के लिये वह प्रकृति साम्यावस्था में लीन हो जाती है और पुरुष अपने [1]स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। हम मान सकते हैं कि धातुओं की विषमता से शरीर ही ग्रस्त नहीं होता, किन्तु उससे पुरुष (आत्मा) भी पीड़ित हो उठता है, उसी तरह से सुख-दुःख-मोह के प्रकृति से सम्बद्ध रहने पर भी उसके सम्पर्क के कारण पुरुष अपने को इनसे संपृक्त मान बैठता है। वस्तुतः ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं, प्राकृतिक शरीर पर ही उनका प्रभाव पड़ता है, ऐसा जान लेने पर प्रबुद्ध मानव इस स्थिति तक पहुँच सकता है कि इन प्राकृतिक धर्मों का उस पर कोई प्रभाव न पड़े।

किन्तु सामान्य मनुष्य में यह स्थिति कैसे आ सकती है? मनुष्य का अन्तःकरण (मन, अहंकार और बुद्धि) तो सत्त्व-रज-तम नामक तीन गुणों से, इनके प्रख्या-व्यापार-नियमन नामक व्यापारों से आक्रान्त होकर सतत सुख–दुःख-मोहात्मक धर्मों से घिरा रहता है। ऐसी स्थिति में वह पामर प्राणी त्रिगुणात्मिका विमोहिनी प्रकृति (माया) से कैसे मुक्त हो सकता है? कोई विशेष व्यक्ति प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान के आधार पर अपने को त्रिविध दुःखों से मुक्त कर सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में पहुँचना सामान्य मनुष्य के वश की बात नहीं है। ऐसे भी अनेक दार्शनिक हैं, जो शरीर से भिन्न आत्मा की कोई स्थिति नहीं मानते। उनके लिये प्रकृति-पुरुष के विवेक का कोई अर्थ नहीं होता। इनके लिये दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही परम श्रेय है।

---

१. "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः" (योगसूत्र ४.३३)।

न्याय-वैशेषिक दर्शन इसमें धर्म-अधर्म की कारणता को मानता है। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से व्यक्ति [१]अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कर सकता है। यहाँ अभ्युदय का अर्थ ऐहलौकिक और पारलौकिक ऐश्वर्य, अर्थात् सुख की प्राप्ति तथा निःश्रेयस का अर्थ दुःख की निवृत्ति है। मोह, अर्थात् अज्ञानवश व्यक्ति अधर्म का आचरण करता है और उसके कारण वह नाना प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है। शास्त्रोपदिष्ट धर्म के आचरण से उसका अज्ञान जब नष्ट हो जाता है, तो वह अपने अभ्युदय के प्रति प्रवृत्त होता है और जब वह ऐहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय को नकार देता है, तो वह पूरी तरह से सभी प्रकार के [२]दुःखों से निवृत्त हो निःश्रेयस पदवी में प्रविष्ट हो जाता है। न्यायसूत्रकार गौतम का कहना है प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के [३]तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। वे इसका [४]अपवर्ग पद से भी उल्लेख करते हैं।

योगभाष्यकार व्यास का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र के भी चार व्यूह (लक्ष्य) हैं। [५]चिकित्साशास्त्र में जैसे रोग, रोग-हेतु, आरोग्य-प्राप्ति और उसके लिये औषधि— इन चार विषयों पर विचार किया जाता है, उसी तरह से दर्शनशास्त्र में भी संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और उसकी प्राप्ति का उपाय— इन चार विषयों पर विचार होता है। भगवान् बुद्ध ने चार आर्यसत्यों के रूप में इनकी पहचान की है। वे हैं— दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत् के नाम से भी ये व्याख्यात हैं।

इस पूरे प्रकरण पर यदि हम सावधानी से विचार करें, तो ज्ञात होगा कि सर्वत्र एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है। शारीरिक दुःखों की निवृत्ति की पद्धति से

---

१. "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वैशेषिकसूत्र १.१.२)।
२. इक्कीस प्रकार के दुःखों की निवृत्ति की बात शास्त्रों में बताई गई है।
३. "प्रमाणप्रमेय ..... निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" (न्यायसूत्र १.१.१)।
४. "दुःखजन्म ..... तदनन्तरापायादपवर्गः" (न्यायसूत्र १.१.२)।
५. "यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्--रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव। तद्यथा—संसारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हतीति हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः, उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत् सम्यग्दर्शनम्" (२.१५)।

ही मानसिक दुःखों की निवृत्ति भी संभव है। रुग्ण होने पर व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से दुःखी हो जाता है, तो यह देखना पड़ता है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? वह रोग से मुक्ति चाहता है और उसके निवारण के लिये उपयुक्त औषधि लेता है, इसी तरह से तत्त्वज्ञानी पुरुष इस संसार को दुःखबहुल जान कर दुःख के कारण की खोज करता है और उससे जब मुक्त होना चाहता है, तो उससे मुक्ति पाने के उपाय की खोज करता है। भगवान् बुद्ध ने जिन आर्यसत्यों की खोज की, उनका भी निष्कर्ष यही है। विशेषता यह है कि यहाँ संसार के स्थान पर दुःख के साथ समुदय आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि करुणामूर्ति भगवान् बोधिसत्त्व सांसारिक दुःखों के कारणों और उनसे छुटकारा पाने के उपायों की खोज कर संसार को नहीं, बल्कि इस संसार में विद्यमान सभी दुःखी प्राणियों के दुःखों को दूर करना चाहते हैं, जबकि अन्य सभी दार्शनिकों को व्यक्तिगत मुक्ति अभिप्रेत है। सभी भारतीय दर्शन इस विषय में एकमत हैं कि तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, किन्तु तत्त्वज्ञान के स्वरूप और मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष, अपवर्ग आदि पदों से परिचेय निःश्रेयस के विषय में इनमें परस्पर मतभेद हैं।

इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में हम अभ्युदय और निःश्रेयस का वर्तमान में सामाजिक मूल्यांकन करना चाहते हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयस को आगम-तन्त्रशास्त्र में भोग और मोक्ष के नाम से जाना जाता है। भोग का अभिप्राय ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के भोगों से है। संभोगकाय शब्द का प्रयोग बौद्ध महायान और मन्त्रयान में भी भगवान् बुद्ध के त्रिविध अथवा चतुर्विध कार्यों में से एक के लिये होता है। यहाँ संभोग शब्द भी भोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, आचार्य रजनीश के द्वारा प्रयुक्त अर्थ में नहीं। शैवागमों में भगवान् शिव की लय, भोग और अधिकार नामक तीन अवस्थाओं का विवेचन मिलता है। बौद्ध मन्त्रयान के ग्रन्थों में भी ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं[६]। पांचरात्र[७] वैष्णव आगमों में भी आभिमानिक, आभ्यवहारिक, औपचारिक, सांदृष्टिक, सांस्पर्शिक, लय आदि भोगों की चर्चा मिलती है। इनमें से शैवागमों में वर्णित लय, भोग और अधिकार अवस्थाओं की तुलना हम क्रमशः धर्म, संभोग एवं निर्माण कार्यों से कर सकते हैं। आगे चलकर तन्त्रशास्त्र में भोग शब्द के अर्थ में परिवर्तन हुआ, जब "भोगश्च

६. वसन्ततिलकाटीका, पृ. ५० एवं कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा (भा. २, पृ. १०६) द्रष्टव्य।
७. सात्वतसंहिताभाष्य, पृ. ८०-८१, ६६ तथा वहीं का उपोद्घात (पृ. ५२-५३) द्रष्टव्य।

मोक्षश्च करस्थ एव" जैसे वाक्य व्यवहार में आने लगे। अब तक यह सिद्धान्त मान्य था कि ऐहिक और पारलौकिक भोगों के त्याग के उपरान्त ही मोक्ष की अधिगति होगी, किन्तु अब उसको तिलांजलि दे दी गयी। "संभोग से समाधि" जैसे शीर्षक भी उसी की उपज हैं। इसका खण्डन करने वाले भी उस व्याधि से बच नहीं पाये हैं।

भारतीय दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ प्रमुख आधार रहे हैं। धर्म[८] से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन पाता है। "धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।।" इस नीति-वाक्य में प्रकारान्तर से धर्मार्थ वित्तसंग्रह को भी निषिद्ध घोषित किया गया था, किन्तु आज तो इसको सामाजिक मान्यता मिल गई है। कोढ में खाज की तरह काम ने भी धर्म के क्षेत्र में प्रवेश पा लिया है। इससे अनर्थ तो होता ही था। गनीमत इतनी ही थी कि अब भी इस पर थोड़ा-बहुत धर्म का नियन्त्रण था। आज का तार्किक इसको अस्वीकार कर सकता है। वह कह सकता है कि यह एक प्रकार का सामाजिक ढोंग है। बाह्य अपसंकृतियाँ उसको ऐसा सोचने के लिये बाध्य भी कर रही हैं। आजकल का बुद्धिजीवी अपने को धर्मनिरपेक्ष कहलाने के गौरव की अनुभूति करता है।

धर्म को ढोंग बता देने के बाद क्या अर्थ और काम में परिशुद्धि आई? इसके विपरीत देखने में यह आ रहा है कि अनियन्त्रित अर्थ और काम समाज को तीव्रता से विपथगामी बना रहे हैं। "गाण्डीवम्" संस्कृत साप्ताहिक के यशस्वी संस्थापक और संपादक पं. श्री रामबालक शास्त्री जी ने उसके अनेक अंकों में "समालोचनार्हा भारतीया नैतिकता" शीर्षक हमारा एक निबन्ध प्रकाशित किया था। उसमें महाभारत के सभापर्व की घटनाओं की समालोचना कर कहा गया था कि आज भी सभापर्व की दुर्योधन की उद्दण्डता को अनुशासन पर्व कहा जा रहा है। उस निबन्ध को लिखे आज दो युग बीत रहे हैं। क्या आज भी अनेक राजनेताओं का चरित्र उसी उद्दण्डता का प्रदर्शन नहीं कर रहा है? धर्मनिरपेक्ष भारत क्या नैतिकताविहीन, अर्थदास और असांस्कृतिक नहीं होता चला जा रहा है? भारतीय संस्कारों को तो हम छोड़ते चले जा रहे हैं, किन्तु क्या हम गणतन्त्र-राज्य के सिद्धान्तों को हृदयंगम कर सके हैं? क्या

---

८. धर्म का मनुस्मृति में यह लक्षण बताया गया है —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। (६.९२)।

विदुरनीति का यह वचन भी हमारे लिये अवलोकनीय है— "इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं दया क्षमा। अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।। तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते। उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति।।" पुरुषार्थ के अंग के रूप में मान्य धर्म का यही स्वरूप भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है।

राजनीति में खेल की भावना प्रविष्ट हो पाई है? एक राजनीतिक दल दूसरे को अपना शत्रु घोषित कर रहा है। यह किस गणतन्त्र का सिद्धान्त है? क्या आज का भारतीय गणतन्त्र इस श्लोक की परिधि में आबद्ध नहीं हो गया है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्व्यक्तमवसीदति।।

इन दोषों से यदि हमें मुक्त होना है, तो अभ्युदय और निःश्रेयस की हमें आज की नूतन सामाजिक पृष्ठभूमि में दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करनी पड़ेगी। आगम-तन्त्रशास्त्र हमें यह दृष्टि प्रदान कर सकता है। यहाँ माना गया है कि मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर सकता है। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह वचन भी इसीकी पुष्टि करता है। जब हम इसी जन्म में मुक्त हो सकते हैं, तो हमें पुरुषार्थ-चतुष्टय की ऐसी व्याख्या करनी होगी कि हमारे इस लक्ष्य की पूर्ति में ये सहायक हों। इसके लिये हमें सबसे पहले धर्मनिरपेक्षता से छुटकारा पाना होगा, "सेक्युलर स्टेट" का नया अनुवाद खोजना होगा। धर्म (अभ्युदय) शब्द की ही नहीं, मोक्ष (निःश्रेयस) शब्द की भी पूरे भारतीय वाङ्मय की पृष्ठभूमि में नूतन व्याख्या करनी होगी, जिससे हम इसी जन्म में सर्वविध अभ्युदय की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति में समर्थ हो सकें। चार्वाक दर्शन की पृष्ठभूमि में हमें स्वर्ग-सुख (जन्नत) की अभिलाषा से और नरक (दोजख) के भय से भी मुक्त होना पड़ेगा। इन दोनों से मुक्त होने के उपरान्त ही हम क्षणिक सुख और दुःख की अनुभूति करते हुए भी इसी जन्म में शाश्वत शान्ति की अनुभूति करने में समर्थ हो सकते हैं।

आगम-तन्त्रशास्त्र का साधक इसी जन्म में बुद्धत्व अथवा शिवत्व को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी में यह शक्ति छिपी हुई है। गुरु की कृपा से, शास्त्र के अध्ययन से और स्वयं अपने प्रयत्न से भी व्यक्ति इस शक्ति को जगा सकता है। कर्मसाम्य इसका सबसे सरल उपाय है। सुन्द-उपसुन्द न्याय से जब इसके पाप और पुण्य आपस में टकरा कर नष्ट हो जाते हैं, तो उस स्थिति को कर्मसाम्य अवस्था कहा जाता है। इस स्थिति में उसको न स्वर्ग की कामना रहती है और न नरक का भय। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" जैसी फलश्रुतियों का भी यही अभिप्राय है। इसके लिये "मुच्यते सर्वपापेभ्यः" जैसे अर्थवाद-वाक्यों के सहारे कलुषित जीवन जीने वालों की सामाजिक मान्यता शिथिल हो, यह आवश्यक है। भ्रष्टाचार का वट-वृक्ष तभी सूख सकता है। इसके लिये हमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को नहीं, "परस्परदेवो भव" जैसे आदर्श वाक्यों को सामाजिक प्रतिष्ठा देने की आवश्यकता है। तभी हम—

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

इस वचन में निहित और इस निबन्ध के प्रारंभ में चर्चित भगवान् बुद्ध की अभिलाषा को अपने जीवन में उतार सकते हैं, इसी लोक में सभी प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिला सकते हैं, इसी जन्म में अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करा सकते हैं।

भोग एवं मोक्ष

माया से आवृत, मलिन, अणुपरिमाण वाला सकल जीव अपने कर्मों के अनुसार कला से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तीस तत्त्वों के समष्टि-स्वरूप सूक्ष्मशरीर के सहारे इस संसार में घूमता हुआ तब तक भोगों को भोगता रहता है, जब तक कि भगवान् की तिरोधान शक्ति उसको छोड़ नहीं देती। कर्म का परिपाक होने पर शक्तिपात के सामर्थ्य से कर्मसाम्य की स्थिति आने पर उसमें अनुग्रह शक्ति जब प्रकट होती है, तो वह तिरोधान शक्ति निवृत्त हो जाती है। इस स्थिति में भोगों से विरक्त हुआ जीव मोक्ष प्राप्त करने की कामना करता है।

मोक्षविषयक विचार

शास्त्रों में मोक्ष को अपवर्ग, निर्वाण, निःश्रेयस, परमव्योम, महाविभूति, मुक्ति आदि नामों से भी जाना जाता है। भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं में इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। यहाँ कुमारदेव का कहना है कि शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधियों के न रहने पर शिवस्वभाव जीवात्मा परमेश्वर शिव में उसी तरह से विलीन हो जाता है, जैसे घटाकाश की उपाधि घट के नष्ट हो जाने पर वह परमाकाश में विलीन हो जाता है (पृ. ११)। वे अन्यत्र (पृ. १५) महासुख को अपवर्ग मानते हैं। प्रीति और आनन्द शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे प्रश्न करते हैं कि यदि शिव को आनन्दमय माना जायगा, तो सत्त्व गुण के धर्म प्रीति से युक्त होने से सगुणता के आधार पर इसमें परिणामिता आदि दोषों की भी प्रसक्ति आवेगी। इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि प्रीति और आनन्द ये दोनों भिन्न अर्थ के प्रतिपादक शब्द हैं। प्रीति शब्द से विषय के साथ इन्द्रियों के संपर्क से पैदा होने वाले सातिशय सुख का बोध होता है, जबकि निरन्तर एकरस, नित्य, निरतिशय, स्वात्मस्वरूप सुख आनन्द कहलाता है। इससे उक्त दोष का परिहार हो जाता है। अन्य मत के अनुसार विशुद्ध सत्त्वगुण की निर्मलावस्था में पुण्योदय के कारण विषय और इन्द्रिय के संयोग से विशेष रूप से परिणत हुआ नित्य सुख ही उसमें प्रतिबिम्बित हो उठता है। इसे ही प्रीति शब्द से शास्त्रों में कहा जाता है। "एतस्यैवानन्दस्य" (बृ. उ. ४.३.३२) यह श्रुति इसमें प्रमाण है। वास्तव में सत्त्व गुण में सुखात्मकता औपाधिक है, सुख का प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही उसमें सुख की प्रतीति होती है (पृ. ६)। कुमार की इस व्याख्या में अघोरशिव के इस आक्षेप की पुष्टि होती है कि अद्वैत दर्शन की वासना से आविष्ट व्यक्तियो ने तत्त्वप्रकाश की गलत व्याख्या की है।

कुमारदेव ने अन्यत्र (पृ. १०८-११०) कहा है कि दिगम्बर जैन अहिंस्य (नित्य) देह आदि की उत्पत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। अन्य आर्हत शरीर-परिमित आत्मा की

शरीर के नाश हो जाने के उपरान्त नक्षत्र आदि की तरह की स्थिति को ही निःश्रेयस कहते हैं। शुद्ध चित्तसन्तति की उत्पत्ति ही सौगत मत में अपवर्ग है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी बौद्धों का यही मत है। शून्यतावादी बौद्धों के मत में तो इस शुद्ध चित्तसन्तति का भी विनाश हो जाता है। भाट्ट मत में मोक्षदशा में शरीर, इन्द्रिय आदि के अभाव में भी आत्मा के गुण नित्यसुख से संबद्ध बुद्धि-सन्तति निरन्तर चलती रहती है (पृ. ६३)। निर्वाण पद की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं— जिसका कभी अपक्षय (क्षरण) अथवा विनाश नहीं होता, उसे निर्वाण कहते हैं। सतत एकरस रहने से इसमें कभी न्यूनता नहीं आने पाती (पृ.७)। चार्वाक के मत को प्रस्तुत करते हुए कुमार कहते हैं कि इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा प्राप्त प्रीति ही पुरुषार्थ है और वह काम ही है। इससे भिन्न मोक्ष की कोई स्थिति नहीं है (पृ. १०७)। इस चार्वाक मत का खण्डन कर कुमार मोक्ष की परम पुरुषार्थता को स्थापित करते हैं। उसका स्वरूप क्या है? इस विषय पर विचार करते समय वे कहते हैं कि नित्य आनन्द की अनुभूति ही मुक्ति है, मोक्ष चिदानन्द स्वरूप है। शिवसमानता रूप मोक्ष की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि शिव से समानता का अर्थ है शिव से निर्विशेषता, उससे अभिन्नता ही शिवसमानता है, अर्थात् इस स्थिति में वह शिव में विलीन हो जाता है। उनकी ये सारी बातें अद्वैतवाद का ही अनुसरण करती हैं, सिद्धान्तदर्शन-संमत द्वैतवाद का नहीं। इसके विपरीत अघोरशिव कहते हैं कि शिवभक्त शिवसाम्यरूपी मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अर्थात् वे शिव के समान हो जाते हैं, शिव के साथ एकात्मता का अनुभव नहीं करते, क्योंकि इस मत में अद्वैत दृष्टि का कोई स्थान नहीं है (पृ. १९६)। स्पष्ट है कि अघोरशिव अद्वैतवाद का खण्डन करते हैं।

अष्टप्रकरण के ग्रन्थों में क्लेशमुक्त प्रसन्नात्मा को मुक्त माना गया है। मुक्तात्मा भी शिव के समान हैं, ये शिव की समानता को प्राप्त कर लेते हैं। तत्त्वसंग्रह (श्लो. ५१) के प्रमाण से विद्या, विद्येश आदि पदों की प्राप्ति को अपरमुक्ति और शिवसमता को परमुक्ति बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विद्या, विद्येश आदि पद परमुक्ति की अपेक्षा यद्यपि अवर हैं, तो भी इस परमोत्तीर्ण निर्मल पद में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद फिर जीव को संसार में नहीं आना पड़ता। इसलिये इसको अपरमुक्ति कहा गया है। वस्तुतः शिवसाम्य ही मोक्ष है, तो भी मन्त्र, मन्त्रेश आदि भी परमुक्ति की योग्यता से सम्पन्न होने के कारण मुक्त कहलाते हैं। प्रवाहेश्वरवादियों के अनुसार मुक्त में शिव के ऐश्वर्य की उत्पत्ति हो जाती है। तत्त्वसंग्रहकार का कहना है कि मुक्त जीवों में शिव के प्रसाद आदि, मध्य और अन्त से रहित शिवगुणों की अभिव्यक्ति हो उठती है। अघोरशिव के अनुसार यह मुक्त ही अमल कहलाता है। मोक्षपद की व्याख्या शिवसाम्य और सदाशिव आदि पदों की प्राप्ति भी की जाती है। इससे भी पर और

अपर नामक द्विविध मोक्ष की स्थिति स्पष्ट होती है। मतंगपारमेश्वर के योगपाद में सप्तविध मोक्ष प्रतिपादित है।

अघोरशिव शिवसाम्यरूप मुक्ति को गोत्व आदि जाति के समान एक नहीं मानते, उनके अनुसार प्रत्येक पुरुष की इसमें भिन्न-भिन्न स्थिति है। सादृश्य के अतिरिक्त वे नैयायिक-संमत जाति[1] को भी स्वीकार नहीं करते। मुक्तिदशा में नैयायिकों के समान ये [2]संवित् (ज्ञान) के अभाव को भी नहीं मानते। जबकि वैशेषिक दर्शन के अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म और अधर्म नामक आत्मा के विशेष गुणों के अत्यन्त विमोक्ष को ही अपवर्ग माना गया है। सिद्धान्त दर्शन में मुक्त जीव मल आदि पाशों से मुक्त हो जाता है और उसमें सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण अभिव्यक्त हो उठते हैं। मोक्षकारिका (श्लो. ४४) में यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है। सर्वज्ञत्व आदि शिव के छः गुणों के रूप में जीव में शिवत्व की अभिव्यक्ति हो जाने से शिवसाम्यरूप मोक्ष की ही अनुग्रहरूपता यहाँ मानी गई है।

अघोरशिव ने मुक्ति पद की दर्शनान्तर-संमत मोक्षपरक व्याख्या भी की है। परमव्योम की इन्होंने परबिन्दुपरक व्याख्या की है। आगमों के जानकारों के अनुसार अविनश्वर अपराकाशरूप आतिशयिक पद ही परमव्योम है। नादकारिका की व्याख्या में नाद के ज्ञान से ही जब परमुक्ति प्राप्त हो जाती है, तो स्वायंभुव आदि आगमों में दीक्षा से ही मुक्ति की बात कैसे मानी गई है (पृ. २२४), ऐसी आशंका उठा कर ज्ञान की भी दीक्षा के अंग के रूप में उपयोगिता मानी गई है (पृ. २२४), ऐसा कहते हुए उसका समाधान किया गया है। वेदान्ती और सांख्यमत वाले केवल ज्ञान से मुक्ति मानते हैं। अघोरशिव इन दोनों मतों की समीक्षा करते हैं और बताते हैं कि मल की

---

१. तत्त्वसंग्रह की व्याख्या (पृ. १३४) में अघोरशिव ने जाति को अस्वीकार कर दिया है। अपोहवाद या सादृश्य का सहारा लेकर अन्य दार्शनिक भी नैयायिकों के द्वारा स्वीकृत जातिवाद को नहीं मानते।

२. "परमानन्दसंविद् देवी, संविदानन्दो देव इति।··· देवता परमानन्दसंविदत्रोपदिश्यते··· बोधस्वरूपवाची संवित् प्रोक्ता च देवता गुरुभिः" (पृ. ८-९) यहाँ कुमारदेव ने संविदद्वयवाद की स्थापना की है। शैव मुक्तिदशा में चिदानन्दात्मक स्थिति को मानते हैं, नैयायिकों की तरह ज्ञानादिशून्य पाषाणकल्प स्थिति को नहीं। इस संविदद्वयवाद का रत्नत्रय (श्लो. २०२-२३३) में विस्तार से खण्डन किया गया है। द्वैतवादी सिद्धान्तशैव चिदद्वयवाद को स्वीकार नहीं करते। संवित् (ज्ञान) और सुख की परस्पर और आत्मा से नैयायिक-संमत भिन्नता को स्वीकार करते हुए भी वे मोक्षदशा में संवित् और सुख के अभाव को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में मोक्षदशा में दृक्क्रियात्मक ऐश्वर्य अभिव्यक्त हो उठता है। रत्नत्रयकार (श्लो. २६२-२६४) संवित्पद की शक्तिपरक व्याख्या करते हैं और इनके मत में शक्ति और शक्तिमान् में भी भेद ही अंगीकृत है।

निवृत्ति दीक्षा नामक व्यापार से ही संभव है, अतः दीक्षा ही मोक्ष का प्रमुख कारण है। मोक्ष की प्राप्ति में ईश्वर की कोई कारणता नहीं है, इस मत का खण्डन कर वे कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति शिव की कृपा से ही हो सकती है।

शिवसाम्यविषयक चतुर्विध मत

सिद्धान्तदर्शन में मोक्ष का स्वरूप परशिव का साम्य है। परशिव के साथ समता चार प्रकार से प्राप्त होती है— समुत्पत्ति से, संक्रान्ति से, आवेश से तथा अभिव्यक्ति से। चतुर्विध शैवों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। इनमें से महाव्रती (कालामुख) जीव में शिवसाम्य की उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि मुक्तिदशा में जीव में सर्वज्ञत्व आदि के रूप में शिवसाम्य की समुत्पत्ति होती है। अतः इनके मत में शिव के जैसे गुणों की उत्पत्ति से जीव में शिवसमानता आती है। पाशुपत [1]संक्रान्ति से शिवसाम्य की उपपत्ति करते हैं। कपड़ों के बीच में रखी कस्तूरी की सुगन्ध से जैसे सारे वस्त्र सुवासित हो जाते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में ईश्वर के सर्वज्ञत्व आदि धर्म संक्रान्त हो जाते हैं, अतः इस मत में शिव के गुणों की संक्रान्ति के कारण जीव शिव के समान हो जाता है। कापालिक समावेश के कारण साम्य मानते हैं। जैसे ग्रह पुरुषों में आविष्ट होते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में ईश्वर के गुण आविष्ट हो जाते हैं। इस तरह शिव के गुणों के समावेश के कारण यहाँ शिवसाम्य माना जाता है। सिद्धान्त शैवदर्शन में शिवसाम्य की अभिव्यक्ति होती है। शिव के समान ही जीवों में भी सर्वज्ञता आदि गुण पहले से ही विद्यमान हैं। संसार दशा में वे मल से आवृत होने के कारण प्रकाशित नहीं होने पाते। मुक्तिदशा में मल के हट जाने से वे अभिव्यक्त हो उठते हैं। अतः अपने ही गुणों की अभिव्यक्ति के कारण इनमें शिवसाम्य प्रकट हो उठता है। शैवपरिभाषा (पृ. १५६-१५७) में ये चारों पक्ष वर्णित हैं। इनमें अन्तिम पक्ष सिद्धान्तशैवों का है। इन सभी मतों में मोक्षदशा में भी जीव और शिव की पृथक् स्थिति मानी जाती है। अतः मोक्षदशा में भी शिव और जीव की पृथक् सत्ता रहने से ये सब [2]द्वैतवादी दर्शन हैं।

---

१. सिद्धान्तशैव संक्रान्ति पक्ष को स्वीकार नहीं करते। यहाँ पूर्वपक्षी का कहना है कि गुरु अपने ज्ञान की संक्रान्ति उपदेश द्वारा शिष्य में करता है। स्वायम्भुव-वचन को भी यहाँ उद्धृत किया जाता है। योगसूत्रभाष्य (१.७) में भी स्पष्ट कहा गया है कि अपने बोध की अन्यत्र संक्रान्ति के लिये शब्द से सहायता ली जाती है। परमोक्षनिरासकारिका (श्लो.१५-१६) में सद्योज्योति शिवाचार्य ने स्वयं ही इसका उत्तर दे दिया है।

२. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैवदर्शनबिन्दु (पृ. २५) में तथा हमने आगममीमांसा (पृ. ४०, ५१-५२) में इस विषय को स्पष्ट किया है।

जीवात्मा जब मलपरिपाक और कर्मसाम्य से संयुक्त हो जाता है, तब उस पर परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति का पात होता है। इसीको आगमों में शक्तिपात कहा गया है। कर्मसाम्य का अर्थ है एक साथ जुड़े हुए और विरुद्ध बल देने वाले पुण्यरूप, अपुण्यरूप अथवा उभयरूप कर्मों का एक साथ [1]फलदान के प्रति उन्मुख हो उठना। यह कर्मसाम्य ही तिरोधान शक्ति को हटा कर अनुग्रह शक्ति के पात में प्रमुख कारण माना गया है। संसार के प्रति विद्वेष, मुक्त होने की इच्छा, शिव के प्रति भक्ति--ये शक्तिपात के [2]चिह्न हैं। इन चिह्नों से संयुक्त, शक्तिपात से सम्पन्न शिष्य को देखकर गुरु उसको दीक्षा देते हैं, अर्थात् षडध्वशुद्धि[3] आदि क्रियाकलापों से उसके मल का शोधन कर देते हैं।

दीक्षा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्तशैवों का मत है। अघोरशिव की पद्धति से इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। शैव और वैष्णव आगमों में भी कर्म की और कर्मसाम्य की [4]मोक्षसाधनता मानी गई है। आचार्य और शिष्य के परस्पर संबन्ध को जोड़ने वाला है मन्त्र। यह मन्त्र शिव का सकल स्वरूप माना जाता है। शक्तिपात से युक्त शिष्य अपने दीक्षागुरु (देशिक) के पास जाकर दीक्षा के द्वारा अपने पापों का क्षय कर निर्मल हो शिवसाम्य को प्राप्त कर लेता है। शिव के समान जीवों में भी सर्वज्ञता आदि गुण पहले से ही विद्यमान हैं, किन्तु संसारदशा में मल के कारण अवरुद्ध हुए ये गुण प्रकाशित नहीं हो पाते। मुक्तिदशा में मल का अपगम होने से वे प्रकट हो उठते हैं। इस तरह से अपने ही गुणों की अभिव्यक्ति होने से शिवसाम्य की प्राप्ति होती है, ऐसा सिद्धान्तशैवों का मत है।

मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका और इनके व्याख्यानों में शिवसाम्य में उत्पत्ति, संक्रान्ति, आवेश, विलय जैसे पक्षों का खण्डन किया गया है। इनमें उत्पत्तिपक्ष कालामुखों को, संक्रान्तिपक्ष पाशुपतों को और आवेशपक्ष कापालिकों को मान्य है।

---

१. "तत्र कर्मसाम्यं नाम समवेतयोर्विरुद्धफलयोः पुण्यरूपयोरपुण्यरूपयोः पुण्यापुण्यरूपयोर्वा युगवत् फलौन्मुख्यम्" (पृ. १३४) शैवपरिभाषा में कर्मसाम्य का यह लक्षण बताया गया है। अघोरशिव इस मत का खण्डन कर इसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं (अष्ट., पृ. २००-२०१)।

२. शक्तिपात के चिह्न शक्तिपात प्रकरण (लु. उ., पृ. १५५-५७) में वर्णित हैं।

३. षडध्वशुद्धि की प्रक्रिया सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. ३८) में तथा तन्त्रयात्रा (पृ. १४-३४) में मुद्रित "वैष्णवेषु तदितरेषु चागमेषु षडध्वविमर्शः" में एवं विज्ञानभैरव में ५५ वें श्लोक की व्याख्या में वैष्णव, शैव, शाक्त आगमों के अनुसार बताई गई है।

४. वैष्णवागमों में कर्म की भी मोक्षसाधनता प्रतिपादित है। "सत्यपि कर्मणि तत्साम्यान्मुक्तेराम्नातत्वात्" (पृ. १८५) इस मृगेन्द्रवृत्ति विद्यापाद के वचन के अनुसार कर्मसाम्य की भी मुक्तिसाधनता मानी गई है।

परमोक्षनिरासकारिका में तारामण्डल में नक्षत्रों के बीच में स्थिति को मोक्ष मानने वालों के मत की आलोचना की गई है। कुमारदेव के अनुसार किन्हीं [१]आर्हतों का यह सिद्धान्त है। परिणामवादी भास्कराचार्य, मायावादी शांकरदर्शन और प्रदीपनिर्वाणवादी बौद्धों का मत भी यहाँ समालोचित है। लकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र के हृदयप्रमाण ग्रन्थ की सूचना मिलती है। व्याख्याकार रामकण्ठ विलय-स्वरूप मोक्ष की विवेचना करते हुए कहते हैं कि जैसे घट आदि पदार्थों का उनके मृत्तिका आदि उपादानों में विलय हो जाता है, उसी तरह नित्य महाविभूति में सबका विलय हो जाना ही मोक्ष है (पृ. २९९)। यहाँ मोक्षविषयक अन्य मतों की भी चर्चा मिलती है। उन सब पक्षों का और उनके मानने वालों का परिचय दे पाना एक आयाससाध्य कार्य है।

आगम-तन्त्रशास्त्र की अवधारणा और भेदोपभेद

'आगम' और 'तन्त्र' शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के संबन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार और संक्षेप से लिखा गया है। हमें यहाँ केवल इतना कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखाविशेष में रूढ़ हैं, जो पहले 'आगम' और बाद में 'तन्त्र' शब्द से अभिहित हुई। प्रो. विण्टरनित्ज का कहना है— "ठीक ठीक कहा जाय, तो संहिताएँ वैष्णवों के, 'आगम' शैवों के तथा 'तन्त्र' शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं"। इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि 'आगम' शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों ही तरह के आगम-ग्रन्थों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही 'संहिता' शब्द से केवल वैष्णवागमों का ही बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण आदि से सम्बद्ध 'संहिता' नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थों की एक विशाल राशि विद्यमान है। इसीलिये आगे वे कहते हैं— "वस्तुतः इन शब्दों में कोई स्पष्ट भेद करने वाली रेखा नहीं है और 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग बहुधा इस प्रकार के सम्पूर्ण ग्रन्थों के लिये हुआ है। इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएँ हैं। ये पवित्र ग्रन्थ द्विजातियों के लिये ही नहीं, बल्कि शूद्रों और स्त्रियों के लिये भी हैं"।

प्रो. चार्ल्स ईलियट ने सन् १९२१ ई. में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में भागवतों और पाशुपतों के प्रकरण में उक्त विषय पर विचार करते हुए लिखा था कि तन्त्र, आगम और संहिताओं ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बाँटा था— ज्ञान, योग, क्रिया

---

१. "शरीरपरिमितस्यात्मनः शरीरनाशे नक्षत्रादिवदवस्थानं निःश्रेयसमित्यार्हतैकदेशीयैरुक्तम्" (पृ. १०२) तत्त्वप्रकाश की तात्पर्यदीपिका टीका देखिये।

और चर्या। बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है। यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्र संहिताएं ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु बिना पाद-विभाग के ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति और विशेषताओं वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है।

प्रो. विण्टरनित्ज यद्यपि ईलियट की उक्त परिभाषा को मानते हैं और तदनुसार संक्षेप में शैवागमों और पांचरात्र संहिताओं का परिचय भी देते हैं, तथापि आगे चलकर वे कहते हैं— "पर जब हम तन्त्रों की बात करते हैं, तब हमारा ध्यान शाक्तों के पवित्र ग्रन्थों पर जाता है"। ऐसा कहते समय वे ईलियट की इस उक्ति को भूल जाते हैं— "किन्तु मुझे यह पुनः कहना पड़ेगा कि सब मत तान्त्रिक हैं, इसका मतलब यह नहीं कि वे सब शाक्त हैं; किन्तु शाक्त मत मूलतः आनुपूर्वी से सिद्धान्त और व्यवहार में विशुद्ध तान्त्रिक है"। इसके बाद इस शास्त्र का परिचय वे उन ग्रन्थों के आधार पर देते हैं, जिनका आविर्भाव-काल नितान्त परवर्ती है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुराणों और तन्त्रों का अध्ययन कोई आनन्ददायक कार्य नहीं है। यह बात तन्त्रों के बारे में अधिक सही है। ये सारे के सारे हीन कोटि के लेखकों की कृतियाँ हैं और प्रायः असंस्कृत और व्याकरण के नियमों से अछूती भाषा में लिखे गये हैं। तन्त्रशास्त्र पर किये गये इस तरह के आक्षेपों का प्रतिवाद भारतरत्न म.म.पी.वी. काणे महोदय ने किया है।

किन्तु भारतरत्न म.म.पी.वी. काणे जब लिखते हैं कि लोग तन्त्रों से तात्पर्य लगाते हैं— शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएँ, मन्त्र, मण्डल, पंचमकार, दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग एवं ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी तरह से शक्तिवाद और तन्त्रों के उद्भव के विषय में जानकारी देते हुए वे जब कहते हैं कि उन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियों और व्यवहारों (आचारों) को प्रभावित किया, तब वे तन्त्र शब्द का प्रयोग विण्टरनित्ज के इसी संकुचित अर्थ में करते हैं, यद्यपि वे इस प्रसंग में जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, प्रपंचसार, शारदातिलक, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति जैसे वैष्णवागम एवं शैवागम के ग्रन्थों को भी प्रमाण-रूप में उद्धृत करते हैं, जो इन शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते।

इसका कारण यह है कि सर चार्ल्स ईलियट की पद्धति पर इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया गया। इसके विपरीत, सर जान वुडरफ के ग्रन्थों को इस शास्त्र के अध्ययन में आवश्यकता से अधिक प्रमाण मान लिया गया है। आज भी तन्त्रशास्त्र का अध्ययन इसी ढर्रे पर हो रहा है। इस विद्वान् के द्वारा तन्त्रशास्त्र की कीगई

सेवाओं के प्रति पूर्ण संमान व्यक्त करते हुए भी हमें यह कहना पड़ता है कि इनका प्रायः सम्पूर्ण अध्ययन उन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, जिनका आविर्भाव-काल अपेक्षाकृत परवर्ती है। जब प्रो. विण्टरनित्ज कहते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बंगाल में हुआ मालूम पड़ता है, जहाँ से वे असम और नेपाल में गये तथा भारत के बाहर बौद्ध धर्म के माध्यम से वे तिब्बत और चीन में भी पहुँचे, तब वे परवर्ती काल में आविर्भूत इसी शास्त्र की ओर इंगित करते हैं, क्योंकि यह सही है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था। किन्तु यह वह साहित्य नहीं है, जो असम तथा नेपाल में और बौद्ध धर्म के माध्यम से तिब्बत तथा चीन में गया। यह निर्यातित ज्ञान अभिनवगुप्त के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आविर्भूत हुआ था। इसके विपरीत परवर्ती काल का पूरा साहित्य, इस्लाम के आक्रमण के कारण पूर्ववर्ती साहित्य के प्रायः नष्ट हो जाने के बाद नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित तन्त्रों की सहायता से पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसका मुख्य केन्द्र बंगाल था। जब कुछ विद्वान् भारतीय तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की बात करते हैं, तब उनकी बात इसी परवर्ती काल में आविर्भूत शास्त्र पर लागू होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी पूजाविधि का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" यह उसका सिद्धान्त-वाक्य था। स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्ति, पट, मन्त्र, मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता था और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरिवस्या सम्पादित करता था। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये यहाँ व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था और आन्तर वरिवस्या के लिये वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता था। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिये जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिये इनका अपना दर्शन और यौगिक पद्धति है और बाह्य वरिवस्या के लिये मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट विधियाँ इनमें वर्णित हैं। इन्हींके आधार पर प्रत्येक आगम में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या नाम के चार पादों का विधान था। शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द आदि देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी थी। इन पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव आगमों की तथा परवर्ती शाक्त तन्त्रों की ऊपर वर्णित आराधना-विधि में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय वाङ्मय में कहीं श्रुति के समकक्ष, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्रों के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

इस सम्बन्ध में प्रो. ईलियट का यह कहना एकदम सही है कि तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्मग्रन्थ हैं और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं। इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, यन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिये विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है— भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उनको रूपान्तरित करके भगवान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ संबन्ध रखते हुए विश्व के साथ भी सम्बद्ध रहता है। यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप है। इस विश्व के छोटे-बड़े सभी अंशों में वे शक्तियाँ समान रूप से कार्यरत हैं।

यह बात आगम और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाले सारे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि सर चार्ल्स ईलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन दोनों धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगमशास्त्र की एकदम से उपेक्षा कर दी है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुतः कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इससे पहले आगमशास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया। बौद्ध धर्म को हीनयान से महायान में परिवर्तित करने का श्रेय भी हम आगमशास्त्र की पांचरात्र और पाशुपत शाखा को दे सकते हैं। यह भी इसकी विशेषता है कि बौद्ध और जैन धर्म ने जब वैदिक कर्मकाण्ड को अस्वीकार कर दिया, तो आगम ने उसके साथ भी संबन्ध बनाये रखा। अन्ततः बौद्ध और जैन तन्त्रों को भी अग्निकार्य के प्रसंग में वैदिक दृष्टि का अनुसरण करना पड़ा।

वैष्णव आगमों की वैखानस, पांचरात्र और भागवत शाखाओं का साहित्य हमें मिलता है। पांचरात्र शास्त्र पर प्रथम कार्य करने वाले जर्मन विद्वान् डॉ. ओटो श्राडर ने हयशीर्षपंचरात्र में उद्धृत भागवत संहिताओं के नामों को भी पांचरात्र संहिताओं में ही गिन लिया है। इस विषय पर और इसी तरह की अन्य बातों पर हमने सभाष्य सात्वतसंहिता के संस्कृत उपोद्घात में अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रसंगवश हमें इतना कहना है कि इन संस्कृत उपोद्घातों को विदेशी विद्वान् चाव से पढ़ते हैं, जबकि

भारतीय विद्वानों की दृष्टि इस विषय में एकदम विपरीत है। अस्तु. आगे चलकर शक्तिसंगमतन्त्र में दशविध वैष्णव मतों का निरूपण हुआ है। यह परवर्ती काल में आविर्भूत तन्त्र है। हमनें शक्तिसंगमतन्त्र के संस्कृत उपोद्घात में ही तन्त्रों के प्राचीन और अर्वाचीन विभागों की सीमा निर्धारित की है। पाश्चात्य विद्वान् तो इससे सहमत हैं, किन्तु भारतीय विद्वानों की प्रतिक्रिया अभी तक हमारे पास नहीं पहुँच सकी है।

आगमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैवागमों के दस भेदों का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने श्रीकण्ठ-प्रवर्तित और लकुलीश-प्रवर्तित पाशुपत मत की भिन्नता को तन्त्रालोक के प्रमाण से स्थापित किया है। इसकी अनदेखी कर प्राच्य-पाश्चात्य विद्वान् लकुलीश से पहले पाशुपत मत की स्थिति को मानने को तैयार नहीं हैं। वे श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपत योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की पुराण आदि में वर्णित नामावली को भी कोई महत्त्व नहीं देते। इस मनोवृत्ति की समालोचना हमने लखनऊ के संस्कृत संस्थान (अकादमी) से प्रकाशित संस्कृत साहित्य के बृहद् इतिहास के तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट अपने पाशुपत मत संबन्धी निबन्ध में की है। "द्विप्रवाहमिदं शास्त्रम्" आचार्य अभिनवगुप्त की यह उक्ति और परवर्ती पाशुपत मत के साथ लकुलीश विशेषण का रहना भी इनकी भिन्नता को बताता है।

वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों के साथ सौर, स्कान्द, गाणपत्य आदि मतों का तथा कौल, यामल आदि शास्त्रों का विस्तार से परिचय संमोहनतन्त्र के आधार पर दिया गया है। इससे हमें तन्त्रशास्त्र की विशालता का परिचय मिलता है। यह संमोहनतन्त्र कम्बुज शिलालेख में उद्धृत संमोहतन्त्र से भिन्न है, इसको स्पष्ट करते हुए हमने त्रिविध संमोहनतन्त्र की चर्चा कर यह बताया है कि जिस संमोहनतन्त्र में इन शास्त्रों का वर्णन है, वह शक्तिसंगतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड से अभिन्न है। हमारा यह संस्कृत निबन्ध भी "संमोहनतन्त्रं शक्तिसंगमतन्त्रादभिन्नम्" शीर्षक से "तन्त्रयात्रा" में छप चुका है, श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के सन्दर्भ ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" से इस वाङ्मय की विशालता जानी जा सकती है। दस महाविद्या संबन्धी साहित्य का तथा स्मार्त तन्त्रों का विवरण तो अभी प्रारंभिक अवस्था में है। हालैण्ड से अभी प्रकाशित हुए तन्त्रशास्त्र और आगमशास्त्र संबन्धी दो ग्रन्थों में तथा सारनाथ एवं लखनऊ से प्रकाशित हुए ग्रन्थों में इनकी प्रारंभिक रूपरेखा देखी जा सकती है। स्मार्त तन्त्रों की विशालता की ओर हमने अपने संस्कृत निबन्ध "आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः" में कुछ इंगित किया है।

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुति का बोधक

वचन प्रसिद्ध है। विद्वानों का कहना है कि यह वचन हारीत स्मृति का है। श्रीमद्भागवत और देवीभागवत में वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र नामक विभाग मिलते हैं। मिश्र विभाग में हम ऊपर वर्णित स्मार्त तन्त्रों को रख सकते हैं, क्योंकि इनमें वैदिक और तान्त्रिक उभयविध श्रुतियों में समन्वय स्थापित कर विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रपंचसार, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, शारदातिलक, महाकालसंहिता, शक्तिसंगमतन्त्र आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। दस महाविद्या संबन्धी समय मत के प्रतिपादक शाक्त तन्त्रों की गणना भी हम इसी विभाग में कर सकते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी के माने गये विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी इसके उपादान मिलते हैं।

ऊपर हमने श्रीकण्ठ-प्रवर्तित और लकुलीश-प्रवर्तित द्विविध ज्ञानप्रवाह की चर्चा की है। अभिनवगुप्त का कहना है कि लकुलीश आदि आचार्यों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि इस मुनष्यदेह में सभी देवता निवास करते हैं। कायपूजा का सिद्धान्त यहीं से प्रवृत्त हुआ लगता है। कौल शास्त्रों की मान्यता है कि जब हम पाषाण, पट, मृत्तिका आदि जड़ पदार्थों में चैतन्य का आधान कर अपने इष्टदेव की उपासना कर सकते हैं, तो इस चेतन शरीर में इष्टदेव की बाह्य और आन्तर वरिवस्या क्यों नहीं कर सकते? अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कौल सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। यह भी मान लिया गया है कि ८४ सिद्धों की नामावली में प्रथम मीननाथ मत्स्येन्द्र से अभिन्न हैं। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्र का समय पाँचवीं-छठी शताब्दी बताया है और प्रथम सिद्ध मीननाथ का समय भी इसीके आसपास पहुंचता है। बहुत विस्तार में न जाकर हम इतना कह सकते हैं कि श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत से समय मत की और लकुलीश के "सर्वदेवमयः कायः" इस सिद्धान्त पर आधारित सिद्धान्त से कौल और नाथ मत की प्रवृत्ति हुई। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित सेकयोग और हठयोग को भी इन्हींके साथ जोड़ा जा सकता है। पर यहाँ इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के काल में शताब्दियों का अन्तर है।

बौद्ध तन्त्रों की, विशेष कर अनुत्तर तन्त्रों की प्रकृति कौल तन्त्रों से मिलती-जुलती है, अतः उनकी प्रवृत्ति का काल भी यही माना जाना चाहिये। असंग के द्वारा प्रयुक्त आश्रय-परावृत्ति जैसे शब्दों के आधार पर गुह्यसमाजतन्त्र का काल चौथी शताब्दी और आर्यमंजुश्रीमूलकल्प का काल उससे भी पहले माना जाता है। वस्तुतः परावृत्ति शब्द का प्रयोग यहाँ योग के एक अंग प्रत्याहार के अर्थ में हुआ है। अब जापानी विद्वान् गुह्यसमाज का काल छठी शताब्दी ही मानने लगे हैं। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के तो कुछ अंश आठवीं शताब्दी तक के सिद्ध हो चुके हैं। इस ग्रन्थ में गारुड और भूत तन्त्रों का उल्लेख है, जिनका आविर्भाव सिद्धान्तशैव, वाम और दक्ष तन्त्रों के साथ पंचब्रह्म

शिव के पाँच मुखों से माना जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये वाम और दक्ष शब्द उस अर्थ को बोधित नहीं करते, जो आजकल इनसे समझा जाता है। यहाँ वाम शब्द शाक्त तन्त्रों का और दक्ष शब्द भैरव तन्त्रों का बोधक है। इनमें मात्र पूजा के क्रम में अन्तर है, उपादानों में नहीं।

जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति भी इसी काल में हुई होगी, किन्तु आजकल के जैन विद्वान् तन्त्र शब्द से इतने आतंकित हैं कि वे जैन वाङ्मय में तन्त्र की स्थिति को मानने के लिये तैयार ही नहीं है। दुर्भाग्य से तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आज इसी दृष्टि को सामने रख कर किया जाता है कि उसमें पंचमकार जैसे तत्त्व या उनके अनुकल्प अनिवार्य हैं। वस्तुतः इनका संबन्ध कौल तन्त्रों तक या उनसे प्रभावित सम्प्रदायों तक ही सीमित है। जानकारी के लिये इतना बता देना आवश्यक है कि पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्द मूलतः कौल तन्त्रों की देन हैं और इनका प्रयोग जैन आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने-अपने योगशास्त्र में चतुर्विध ध्यान के रूप में किया है। राजस्थान के जोधपुर स्थित शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक मुनि श्री जिनविजय जी महाराज त्रिपुराभारती के उपासक थे और उन्होंने सोमतिलकसूरि की टीका के साथ त्रिपुराभारतीलघुस्तव का सम्पादन किया था। लघुस्तव के कर्ता धर्माचार्य त्रिपुरा सम्प्रदाय की सिद्धौघ परम्परा के द्वितीय गुरु हैं। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में इनकी पंचस्तवी के वचन उद्धृत हैं।

कुछ विद्वान् समय मत और कौल मत को आस्तिक-नास्तिक विभागों में बाँटते हैं, किन्तु उनका यह प्रयास उचित नहीं है। कामिकागम आदि में भारतीय वाङ्मय को लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में बाँट कर पुनः उनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच विभाग किये हैं। शतरत्नसंग्रहकार उमापति शिवाचार्य का कहना है कि इन विभागों का वर्णन सर्वात्मशंभु ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तदीपिका में किया है। इस ग्रन्थ की तीन पांडुलिपियाँ हमें पाण्डिचेरी के फ्रेंच शोध संस्थान से मिल गई थी। अब यह ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक विभाग के दो या तीन-तीन उपविभागों का ही परिचय दिया गया है, किन्तु पूरे ग्रन्थ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अतिमार्ग विभाग में पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत के साथ कौल और शाक्त मत का समावेश किया गया है। पाशुपत शब्द से यहाँ लकुलीश पाशुपत का ग्रहण करना चाहिये, श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत का नहीं। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में हमने इस विभाग को भारतीय शास्त्रों का आगमाधारित विभाग बताया है। निगमाधारित शास्त्रीय विभाग महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद में देखा जा सकता है, जहाँ चतुर्दश विद्यास्थान और अष्टादश विद्यास्थान के रूप में भारतीय वाङ्मय का परिचय

दिया गया है। बौद्ध तन्त्र के ग्रन्थ वसन्ततिलक की टीका में इसको शास्त्रों का परयूथ्य विभाग बताया है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि निगम (वेद) और आगम शास्त्र की मान्यता में कोई भेद नहीं है। इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि कुल्लूक भट्ट का वचन ऊपर उद्धृत हुआ है। महाभारतकार का कहना है-- "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा"। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द कहते हैं कि त्रैवर्णिकविषय और सर्ववर्णविषय के भेद में श्रुति दो प्रकार की है। स्मृतिकारों का कहना है कि अष्टांग मैथुन का त्याग करने वाला ब्रह्मचारी है। कौल आगमों में ब्रह्मचारी उसे बताया गया है, जो तीन ओष्ठ्यान्तों का सेवन करता हो। "वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम्। सिद्धान्तादुत्तमं वामं वामाद् दक्षिणमुत्तमम्। दक्षिणादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि।।" जैसे वचन भी आगमशास्त्रों में उपलब्ध हैं। "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवता" के सिद्धान्त के अनुसार हमें इनकी व्याख्या करनी पड़ेगी। ऊपर बताये मिश्र विभाग में निगम और आगम के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है, जहाँ अनुकल्पों की व्यवस्था है। यहाँ आकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि निगम और आगम की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है।

इन शास्त्रों का अध्ययन आजकल ऊपर निर्दिष्ट विभागों की अवहेलना कर ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दु जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है। आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण, बौद्ध-हिन्दु जैसे शब्द भारतीय समाज में विग्रह के बीजों को पनपाने वाले हैं। भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में आज इन्हीं शब्दों का प्रयोग हो रहा है। हम इस बात को भूल बैठे हैं कि भारत की सर्वत्र समन्वय स्थापित करने की दृष्टि ने आगम-तन्त्रशास्त्र की और उसके आधार पर विकसित सन्त साहित्य की दृष्टि की सहायता से इन विग्रह के बीजों को भूँज दिया है। भ्रष्ट बीज में अंकुरित होने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। रामायण, महाभारत और पुराणों में वैदिक, बौद्ध, जैन और आगमिक दृष्टि को समन्वित रूप में उपस्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न हुआ है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि राम और कृष्ण के समान बुद्ध और महावीर भी इसी धरती के सपूत थे और वैदिक दृष्टि भी चार्वाकों और कुछ आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की बीभत्स उक्तियों के बावजूद इस संसार से कभी मिटने वाली नहीं है।

धर्मकीर्ति भारतीय दर्शन के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। अभिनवगुप्त का कहना है कि आगम की द्वैतदृष्टि का, विज्ञानवाद की क्षणिकता का और वेदान्त के मायावाद का परिष्कार कर प्रत्यभिज्ञादर्शन की सृष्टि हुई है। बौद्ध सिद्ध कम्बलपाद की आलोकमाला हमारे सामने शून्यवाद की नई परिभाषा प्रस्तुत करती है। अद्वयवज्र का कहना है कि वैभाषिक आदि चारों बौद्ध-नय चित्त की मलिनता को पूरी तरह से दूर नहीं कर पाते। मन्त्रनय की दृष्टि से यह कार्य किया जा सकता है। भास्कराचार्य शंकर भगवत्पाद के सिद्धान्त को बौद्ध महायान-गाथित मायावाद कहते हैं और भास्कराचार्य को शंकर के

अनुयायी अनेकान्त-पादावनत-शिरोबिम्ब मानते हैं। भट्ट कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों ने मीमांसा को चार्वाक सिद्धान्त का अनुयायी बना दिया और जब हम भट्ट प्रभाकर के सिद्धान्तों को देखते हैं, तो ऐसा लगता है कि वे आगमिक संवित्-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। महाकवि भवभूति की परात्रीशिकाव्याख्या का उल्लेख मिलता है। इन सबको उद्धृत करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि *हमें केवल आगमिक अथवा तान्त्रिक दर्शन का ही नहीं, सभी भारतीय दर्शनों में देश और काल की परिधि में विकसित हुई घात-प्रतिघातात्मक दृष्टि का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करना चाहिये। अभिनवगुप्त पर्यन्त विकसित हुई इन दृष्टियों के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिशीलन के बाद ही हम नवीन भारतीय दृष्टि का उन्मेष कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति को ही नहीं, विश्वमानवता को भी एक नया संदेश सुना सकते हैं।*

उद्घाटन भाषण[1]

अध्यक्ष महोदय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान के निदेशक आदरणीय प्रो. रिम्पोछे जी, दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के निदेशक प्रो. एस.एस. बहुलकर, संमान्य भिक्षुगण एवं उपस्थित विद्वद्वृन्द! आज हम यहाँ त्रिदिवसीय अन्तरराष्ट्रिय बौद्ध तान्त्रिक संगोष्ठी में संमिलित हुए हैं। इसमें हमें भारत और तिब्बत में विकसित हुए बौद्ध तन्त्रशास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर विचार करना है। इस संगोष्ठी के विचारणीय विषयों में निम्न छः मुद्दे निर्धारित हैं—१. संस्कृत स्रोत, २. तिब्बती स्रोत, ३. मण्डल, ४. योग एवं तान्त्रिक साधना, ५. बौद्ध तन्त्रों का दार्शनिक पक्ष और ६. बौद्ध तन्त्रों की ऐतिहासिक विवेचना। इन सभी विषयों पर विद्वद्गण अपने-अपने निबन्ध में और फिर परस्पर सामूहिक विचार-विनिमय में अपने परिपक्व विचार भी प्रस्तुत करेंगे। इस गोष्ठी के संयोजकों ने मुझे उद्घाटन भाषण करने का संमान और सुअवसर प्रदान किया है। इनके प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए इस अवसर का लाभ उठाकर मैं भी अपनी बात बहुत संक्षेप में कहना चाहता हूँ।

---

१. केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग द्वारा सन् १९९५ में "इंडो-तिब्बतन तान्त्रिक बुद्धिज्म" पर सम्पन्न हुए इंटरनेशनल सिम्पोजियम के अवसर पर।

बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन आजकल तीन शीर्षकों से होता है— हीनयान, महायान और मन्त्रयान। मन्त्रयान को भी वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान— ये तीन नाम दिये गये हैं। इन सबमें हम दार्शनिक और धार्मिक प्रक्रिया की कुछ अनुस्यूतियों के साथ पर्याप्त परिवर्तन भी देखते हैं। इसके कारणों की खोज हमें करनी होगी। बौद्ध धर्म-दर्शन में ही नहीं, वैदिक धर्म-दर्शन में भी वैदिक, आगमिक, तान्त्रिक और पौराणिक धाराओं के रूप में इस प्रक्रिया के दर्शन होते हैं और जैन धर्म में भी यह दृष्टि-परिवर्तन दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी के रूप में देखा जा सकता है। ये सभी धर्म भारत में ही पैदा हुए हैं और भारतीयों के द्वारा ही इन्हें पल्लवित और पुष्पित भी किया गया है। परस्पर के घात-प्रतिघात, खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया और शास्त्रार्थ की पद्धति से इनमें ये परिवर्तन आये हैं। कभी-कभी इनको कहीं-कहीं राज-सहयोग भी मिला है। इन सब परिस्थितियों पर बिना विचार किये तीनों मुख्य भारतीय धर्मों के एकान्त अध्ययन की दिशा निर्धारित कर दी गई है और पाणिनि के सूत्र "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'श्रमणब्राह्मणम्' में आये श्रमण और ब्राह्मण शब्दों के साथ भारतीय प्रजा में विद्वेष फैलाने वाले 'हिन्दु' शब्द को बहुत प्रचारित कर दिया गया है।

सन् १९७८ में विज्ञानभैरव का उपोद्घात लिखते समय हमने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा था कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दु आदि काल-विभागों में बाँट कर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक (देश के विभिन्न स्थानों) और कालिक (विभिन्न कालों) क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे विभाग सत्य की खोज में बाधक नहीं होने चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ आ गई हैं।

इसी पृष्ठभूमि में हम ऊपर के छः मुद्दों में से पाँच पर अपने संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं। तिब्बती स्रोत के संबन्ध में कुछ कहने का हम अपने को अधिकारी नहीं मानते। बौद्ध तन्त्रों का सर्वांगीण अनुशीलन प्रस्तुत करने के लिये हमें बौद्ध पालि वाङ्मय के साथ पूरे महायान साहित्य का तो आकलन करना ही पड़ेगा, साथ ही वैष्णव और सिद्धान्तशैव आगमों पर भी एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी। बौद्ध तन्त्रों में चतुर्ब्रह्मविहारभावना के रूप में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नामक चार भावनाओं का वर्णन मिलता है। पालि वाङ्मय में भी इनका उल्लेख है और पातंजल योगसूत्र तथा जैन तत्त्वार्थसूत्र में भी इनको देखा जा सकता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को योगसूत्रकार पंतजलि ने सार्वभौम महाव्रत की संज्ञा दी है। पूरे भारतीय वाङ्मय में इनको मान्यता मिली हुई है।

मण्डलों के प्रारंभिक स्वरूप का आकलन हम वैष्णव पांचरात्र संहिताओं की सहायता से कर सकते हैं। मण्डल पद की व्युत्पत्ति हेवज्रतन्त्र और अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में एक-सी है। त्रिकायवाद का प्रस्फुरण हम शिव की लय, भोग और अधिकार मूर्तियों में देख सकते हैं। शिव की सद्योजात, वामदेव आदि पंचब्रह्म-मूर्तियों और वैरोचन, अमिताभ आदि पांच बुद्धों से संबद्ध विमलप्रभाकार पुण्डरीक का यह वचन अवलोकनीय है— "पञ्चवक्त्राणि वा पञ्चब्रह्मलक्षणानि।····· अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (४.७०)। विमलप्रभा के परमाक्षरज्ञानसिद्धि नामक महोद्देश (भा. ३, पृ. ८९) में आणव, शाक्त, शाम्भव उपायों का एवं काम, विष, निरंजन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। इन शब्दों से सही अभिप्राय को हम कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा साहित्य की सहायता से ही समझ सकते हैं। म. म. पी. वी. काणे महोदय ने षडंग योग को बौद्ध तन्त्रों से जोड़कर उस पर टिप्पणी की है, किन्तु हम देखते हैं कि षडंग योग की प्रतिष्ठा वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों में ही नहीं, कुछ उपनिषदों और भगवद्गीता के भास्कर-रचित भाष्य में भी है।

गुह्यसिद्धि जैसे ग्रन्थों में उन्मत्तव्रत का विधान है। एकान्त साधना के लिये इसे आवश्यक माना गया है। इसकी चर्चा दुर्वासा जैसे ऋषियों के प्रसंग में महाभारत में और मार्कण्डेयपुराणा में भी मिलती है। लकुलीश के पाशुपत सूत्र में तो इस विषय को स्पष्ट करने वाले कुछ सूत्र भी उपलब्ध हैं। यह तो हम जानते ही हैं कि गुह्यसिद्धि में कालोत्तरा और निश्वाससंहिता का उल्लेख हुआ है। प्रज्ञापारमिता के समान कालोत्तरसंहिता के भी विभिन्न तेरह संस्करण उपलब्ध होते हैं।

पारमितायान के साहित्य में और भगवद्गीता में भी प्रतिपादित है कि साधक को अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद ही मुक्ति मिलती है। इसके विपरीत मन्त्रयान का कहना है— "मुक्तिरेकेन जन्मना"। यह सिद्धान्त शैव और शाक्त तन्त्रों को भी मान्य है। वज्रयानियों का कहना है कि मन्त्र के सामर्थ्य से जैसे हम पाषाण, पट, मृत्तिका आदि जड़ पदार्थों में अपने इष्टदेव को प्रतिष्ठित कर उसकी आराधना करते हैं, उसी तरह से इस चैतन्य शरीर में भी अपने इष्टदेव को प्रतिष्ठित कर उसकी उपासना हम क्यों नहीं कर सकते? इसके लिये पुष्प, गन्ध आदि से की जाने वाली बाह्य और यौगिक पद्धति से संपन्न होने वाली आन्तर उपासना के अतिरिक्त पूजा का एक तीसरा प्रकार भी यहाँ बताया गया है। इस पूजा में शारीरिक उपादानों का ही प्रधानतः उपयोग होता रहा है, किन्तु साथ ही पंचप्रदीप जैसे बाह्य द्रव्यों का उपयोग भी विहित है। कौल तन्त्रों से प्रभावित शैव-शाक्त तन्त्रों में भी हमें यही सब कुछ देखने को मिलता है। चिरकाल-संचित दुर्दम्य वासनाओं का परिष्कार (मार्गीकरण) ही इसका मुख्य प्रयोजन है, उच्छृंखलता को बढ़ाना नहीं।

शरीर स्थित नाड़ियों, वायुओं और चक्रों की प्रक्रिया भी हमें सर्वत्र देखने को मिलती है। पांचरात्र आगमों में चार ही चक्रों को मान्यता मिली है और षट्चक्रों का सिद्धान्त प्रधानतः शाक्त तन्त्रों में मिलता है। इन सब विषयों के अनुशीलन के लिये हमें हीनयान अथवा महायान साहित्य से उतनी सहायता नहीं मिल सकती, जितनी समसामयिक वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों के अध्ययन से मिलती है। मण्डल, मुद्रा, न्यास आदि का स्वरूप, योग और साधनापद्धति आदि में हमें समानता के साथ असमानता के भी दर्शन होते हैं। अतः बौद्ध तन्त्रों के गंभीर अनुशीलन के लिये संस्कृत भाषा में निबद्ध इस पूरे साहित्य-स्रोत का यथोचित उपयोग करना होगा।

हम मान सकते हैं कि हीनयान और महायान की अपेक्षा बौद्ध तन्त्रों में धर्म और साधना के पक्ष में जितना परिवर्तन हुआ है, उतना दर्शन के क्षेत्र में नहीं हुआ है, तो भी हमें बौद्ध तन्त्रों के दार्शनिक स्वरूप को सही रूप में प्रस्तुत करने के लिये अद्वयवज्र की तत्त्वरत्नावली में प्रतिपादित दृष्टि का अनुसरण करना होगा। वहाँ श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और महायान नाम के तीन यानों का तथा वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक के नाम के चार दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख कर श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान का वैभाषिक दृष्टि से समावेश किया है। उन्होंने महायान के पारमितानय और मन्त्रनय नामक दो भेद किये हैं। पारमितानय में सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक दृष्टियों की तथा मन्त्रनय में योगाचार और माध्यमिक दृष्टियों की प्रधानता मानी है। योगाचार दृष्टि को उन्होंने साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार की तथा माध्यमिक दृष्टि को मायोपमाद्वयवादी और सर्वधर्माप्रतिष्ठानवादी के भेद से दो प्रकार का माना है। निराकारवादी योगाचार के प्रसंग में वे ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य भास्कर की दृष्टि से इसकी तुलना करते हैं। यहाँ इन सब दृष्टियों की समलता को बताकर अद्वयवज्र कहते हैं कि मन्त्रनय की दृष्टि से ही मल का पूरी तरह से प्रहाण हो सकता है। इस प्रसंग में अभी हाल में प्रकाशित कम्बलपाद की आलोकमाला को भी प्रस्तुत किया जा सकता है। मन्त्रनय के इस दार्शनिक पक्ष को अभी तक सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। तिब्बती स्रोतों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

शास्त्रों की प्रवृत्ति के विषय में भारतीयों की अपनी दृष्टि है। तदनुसार तन्त्रशास्त्र की देशना भी भगवान् बुद्ध ने ही की है। शिष्यों के आशय के अनुरूप उनको विभिन्न शास्त्रों की देशना दी गई है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त यहाँ अनुमान और कहीं कहीं आगम को भी प्रमाण माना जाता है। प्रत्यक्षविरोधी अनुमान अथवा आगम को प्रमाण नहीं माना जा सकता, किन्तु जहाँ प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ

अनुमान या आगम को प्रमाण मानने की भारतीय परम्परा है। 'हाइपोथेटिक' जैसे शब्दों का प्रयोग कर इसको अन्यथा नहीं किया जा सकता। दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है— एक तो आनुमानिक और दूसरा काल्पनिक। अनुमान का तो प्रमाण में अन्तर्भाव होता है और आगम-प्रतिपादित विषय को काल्पनिक कहना औचित्य की सीमा में नहीं आ सकता। आगम और परम्परा के विरुद्ध जब तक कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, उससे पहले ही उसे अमान्य कर देना कोई सही सोच नहीं है। आद्य शंकराचार्य की जन्मतिथि ७८८ ई. मान लेना भारतीय परम्परा के विरुद्ध है। किसी भी ग्रन्थ के आविर्भाव-काल और प्रचार-काल के संबन्ध में अवश्य विचार किया जा सकता है। आश्रयपरावृत्ति शब्द को लेकर बौद्ध तन्त्रों के प्रचारकाल का निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु ऐसा इस शब्द के सही अर्थ को समझ न पाने के कारण हुआ है। कौल-प्रकृति के तन्त्रों की प्रवृत्ति हम छठी शताब्दी के आस-पास ही मान सकते हैं। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में गारुड़ आदि तन्त्रों का उल्लेख है। इन तन्त्रों की प्रवृत्ति कब हुई, पहले हमें यह निश्चित करना पड़ेगा।

अन्त में एक बात की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर हम इस वक्तव्य को पूरा करते हैं। भारतीय दर्शनों का विकास बुद्धिविलास के लिये नहीं, मुक्ति की कामना को लेकर हुआ है। भारतीय तन्त्रशास्त्र की आज क्या उपयोगिता हो सकती है? इस विषय में हालैण्ड में सम्पन्न हुई विश्व संस्कृत परिषद् की तन्त्र-संबन्धी कार्यशाला में हमने अपना निबन्ध पढ़ा था। वह वहीं से प्रकाशित हो चुका है। "त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः" यह शैव किरणागम का वाक्य है। बौद्ध तन्त्रों में 'स्वतः' के साथ 'परतः' का भी समावेश किया गया है। वसन्ततिलक की टीका, विमलप्रभा आदि में यह देखा जा सकता है। तदनुसार हम गुरु के उपदेश से, शास्त्रों के अध्ययन तथा अपने अन्य सहयोगियों के अनुभव के आधार पर दुःख-व्याधि-जराग्रस्त, राग-द्वेष-मोह में फँसे इस विश्व के त्राण के लिये समयानुकूल कोई उपाय निकाल सकते हैं। स्वत्व के संकोच के कारण मानव-मन रुग्ण है। यह स्वत्व कुटुम्ब, कबीले, जाति, धर्म, भाषा, राष्ट्र आदि के घरौदों में बँटा हुआ है। इन घरौंदों को मिटाकर क्या हम एक अखण्ड दृष्टि, एक विश्व-संस्कृति का उन्मेष कर सकते हैं? यदि हाँ, तो इसमें बौद्ध तन्त्रशास्त्र का कितना अवदान हो सकता है? इस पर भी हमें विचार करना चाहिये, अन्यथा बुद्धि के व्यायाम के अतिरिक्त इसका कुछ भी परिणाम नहीं निकल सकेगा।

तन्त्रशास्त्र की दृष्टि में कायमीमांसा

१. किशोरावस्था में उपन्यास की मनोरंजक शैली में लिखे गये गुजराती भाषा के चन्द्रकान्त नामक वेदान्त ग्रन्थ में एक कथा पढ़ी थी। एक ढोंगी साधु किसी मन्दिर में अपने सिंहासन पर निरन्तर ध्यानमग्न मुद्रा में बैठा रहता था। एक घुमन्तू साधु आया और क्षण भर के विश्राम के लिये मन्दिर के द्वार पर बैठ गया। मूर्ति की तरफ पीठ करके बैठे हुए उस साधु को देखकर ढोंगी साधु क्रुद्ध हो गया। इस पर अतिथि साधु ने उससे कहा कि तू जिसका ध्यान कर रहा है, वह तो तेरे सिंहासन के नीचे ही है। क्रुद्ध साधु ने उसे मार कर भगा दिया। उसके शिष्य को इस बात का पता चला, तो वह भी उस मन्दिर के द्वार पर आकर अपने गुरु की तरह ही बैठ गया और कहने-सुनने पर अपने गुरु की बात दुहरा दी। इस पर मन्दिर का साधु तलवार उठाकर ले आया और उस पर प्रहार करने लगा। उस साधु-शिष्य की वज्रकठोर काया पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और अन्त में उस सिंहासन के नीचे की जमीन को खुदवाने पर वहाँ गड़ी हुई अकूत सम्पत्ति मिली।

२. यह उद्धरण इस अभिप्राय से दिया गया है कि योग के अभ्यास से मानवशरीर लोहसदृश कठोर हो जाता है और फिर उस पर शस्त्रास्त्र का कोई असर नहीं होता। तन्त्रशास्त्र में आकाशगमन, बिलप्रवेश, अन्तर्धान, पादुकागमन आदि सिद्धियों का उल्लेख मिलता है। ये सब शरीर से ही संबद्ध हैं। यहाँ इन सिद्धियों के बारे में कुछ न कह कर केवल तन्त्रशास्त्र की परिधि में कायमीसांसा पर विचार किया जायगा। हमें यह समझ लेना चाहिये कि कायमीसांसा के विषय में तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का परस्पर बहुत गहरा संबन्ध है।

मानवशरीर (जननमरण-परम्परा)

३. योग एवं तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में प्रायः सबसे पहले मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति के विषय में बताया जाता है। गर्भोपनिषत् के प्रवृत्तिकाल के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, किन्तु कायोत्पत्ति का पूरा प्रकरण सर्वत्र इसीके इर्द-गिर्द घूमता है। यहाँ का प्रथम मन्त्र यह है—

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।
तत् सप्तधातु त्रिमलं त्रियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्।।

इस श्लोक की व्याख्या प्रायः उपनिषद् में ही कर दी गई है। यह शरीर पाँच भूतों से बना है। पाँच भूतों के स्वभाव को बता कर यहाँ उनके शब्द आदि गुणों और उनको ग्रहण करने वाली बुद्धीन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों तथा बुद्धि एवं मन की भी चर्चा की गई है। षडाश्रय शब्द से मधुर, अम्ल आदि छः रस गृहीत हैं। षड्ज आदि

सप्तविध शब्दों और शुक्ल आदि सप्तविध रूपों की भी चर्चा औपचारिक रूप से की गई है। सात त्वक्, असृक् आदि धातुएँ तो प्रसिद्ध ही हैं। यहाँ संक्षेप में इनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया भी बताई गई है और इसी के साथ गर्भ की कलिल आदि विभिन्न स्थितियों की चर्चा करते हुए नाना योनियों में जीव के परिभ्रमण की और गर्भ से निकलने के पहले उसके द्वारा किये गये नाना शुभ संकल्पों की चर्चा कर कहा गया है कि गर्भ से निकलने के बाद वह यह सब कुछ भूल जाता है। 'शरीर' शब्द की व्याख्या करते हुए यहाँ बताया गया है कि यह शरीर ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि का आश्रय है। उदर-स्थित अग्नि पाचन, आँख में रहने वाली वह्नि रूपदर्शन और ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मों का दर्शन कराती है। वेदोक्त तीन अग्नियों के स्थानों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि हृदय में दक्षिणाग्नि, उदर में गार्हपत्य और मुख में आहवनीय अग्नि का निवास है। हम जानते हैं कि इन तीन अग्नियों में ही सारे वैदिक कर्मकाण्ड की निष्पत्ति होती है। आगे यजमान-शरीर में पूरी यज्ञीय प्रक्रिया को घटित किया गया है और अन्त में शरीर-स्थित अस्थि आदि की संख्या तथा हृदय आदि एवं पित्त आदि का प्रमाण बताने के साथ इस उपनिषद् का परिचय पिप्पलाद मोक्षशास्त्र के रूप में दिया गया है।

४. शिवपुराण की पाँचवीं उमासंहिता के २२ वें अध्याय में भी मनुष्य-देह की उत्पत्ति वर्णित है। यहाँ देह-स्थित रस किट्ट[1] के रूप में कान, आँख आदि से निकलने वाले बारह प्रकार के मलों का निरूपण है। गर्भोपनिषत् के प्रथम श्लोक की व्याख्या के अतिरिक्त अन्य पूरी सामग्री यहाँ अधिक विस्तार से मिलती है। आगे के कुछ अध्यायों में देह की अपवित्रता, बाल आदि अवस्था, स्त्री-स्वभाव, कालज्ञान, [2]कालवंचन, शिवप्राप्ति, छायापुरुष जैसे इसी प्रकरण से संबद्ध विषयों का भी संक्षेप में वर्णन है। इन विषयों की चर्चा हम आगे करेंगे।

५. १६ वीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान बंगाली विद्वान् ब्रह्मानन्द की शाक्तानन्दतरंगिणी के प्रथम उल्लास में भी इसी पद्धति से मनुष्य-देह की उत्पत्ति के विषय में उक्त दोनों स्थलों की अपेक्षा अधिक विस्तार से कहा गया है। इसकी

---

१. कर्णाक्षिनासिकाजिह्वादन्ताः शिश्नो गुदं नखाः।
मलाश्रयाः, कफः स्वेदो विण्मूत्रा द्वादश स्मृताः।। (२२.७)

२. योग एवं आगम-तन्त्रशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में कालवंचन के विषय में कुछ न कुछ कहा जाता है। मृत्युकाल के समीप आने पर प्रकट होने वाले लक्षणों की चर्चा कर यहाँ बताया जाता है कि यदि किसी कार्यवश योगी अपने वर्तमान शरीर को छोड़ना नहीं चाहता, तो वह क्या उपाय करे।

विशेषता यह है कि यहाँ [३]पिण्ड और ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का, दस नाड़ियों और उनके स्थानों का, पाँच भूतों के पाँच-पाँच गुणों का और दशविध प्राणों का वर्णन कर बाहरी ब्रह्माण्ड में स्थित [४]पर्वत, द्वीप आदि की पिण्ड में स्थिति का भी वर्णन किया गया है। कर्मफल, महामाया, माया, विद्या, अविद्या आदि दार्शनिक विषयों की भी यहाँ चर्चा है। तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की यह विशेषता है कि यहाँ दर्शन को कभी बुद्धिविलास का विषय नहीं बनने दिया गया। उसने मानव-मन की उन्नति में सहायक स्वरूप पर ही अतिसंक्षेप में और सरल भाषा में प्रकाश डाला है।

६. मानव-शरीर का यह निरूपण उसकी सतत क्रियाशील जनन-मरण की प्रक्रिया की ओर इशारा करता है। इससे मनुष्य के मन में स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है कि इस प्रक्रिया से कैसे छुटकारा पाया जाय। इसी प्रश्न के समाधान के रूप में योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और भारतीय दर्शनशास्त्रों की भूमिका प्रारम्भ होती है। [५]जन्ममरणविचार नामक ग्रन्थ के लेखक कश्मीरी प्रत्यभिज्ञादर्शन के विद्वान् वामदेव ने इस भूमिका को स्पष्ट किया है। इनका समय ग्रन्थ के सम्पादक म.म. मुकुन्दराम शास्त्री जी ने ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित किया है। यह स्वाभाविक ही है कि इनके विचारों पर कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन का स्पष्ट प्रभाव हो।

७. यहाँ सर्वप्रथम [६]विश्वोत्तीर्ण अथवा विश्वमय तत्त्व के रूप में संवित्स्वरूप महेश्वर का निरूपण किया गया है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न विश्वोत्तीर्ण तत्त्व महेश्वर ही अपनी शक्तियों का संकोच कर अणु जीवात्मा माया शक्ति से आवृत होकर विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल नामक त्रिविध रूप धारण कर लेता है। फिर वही माया के साथ कला, विद्या, राग, काल और नियति नामक तत्त्वों से बने कंचुक को धारण कर लेता है। इस तरह से अपरिमित शक्तिसम्पन्न महेश्वर ही अणु जीवात्मा का रूप धारण कर परिमित प्रमाता बन जाता

---

३. पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता पर प्राणतोषिणी (पृ. ८४१-४४) में विस्तार से विचार किया गया है।

४. प्राणतोषिणी के उक्त स्थल पर ही एकविंशतिविध ब्रह्माण्ड, सप्त द्वीप, पर्वत, नदी, नक्षत्रमण्डल आदि की तथा षट्चक्र आदि की भी पिण्ड में स्थिति का विस्तार से निरूपण किया गया है।

५. कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, श्रीनगर से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके साथ गोरक्षनाथ का अमरौघशासन और अभिनवगुप्त का छोटा सा ग्रन्थ तन्त्रवटधानिका भी प्रकाशित है।

६. विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिए योगिनीहृदयदीपिका (पृ. १५) पर दी गई हमारी विस्तृत टिप्पणी देखिये।

है। यह विश्वोत्तीर्ण महेश्वर आणव प्रमाता ही नहीं, शब्द और अर्थमय समस्त षडध्वात्मक जगत् के रूप में विश्वमय बन जाता है और आणव, मायीय एवं कार्म नामक त्रिविध मल से आवृत हो जन्म-मरण के अटूट प्रवाह में कोल्हू के बैल की तरह अथवा [७]अरहट्ट न्याय से निरन्तर घूमता रहता है, डूबता उतराता रहता है।

८. इस भूमिका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ में भी मानव शरीर का निरूपण ऊपर बताई गई पद्धति से ही किया गया है। प्रश्नोपनिषत् के प्रथम श्लोक में आये "त्रिमलम्" शब्द की व्याख्या यहाँ अधिक स्पष्ट है और शरीर का वर्णन आयुर्वेद की सुश्रुतसंहिता को उद्धृत करते हुए किया गया है। चिल्लाचक्रेश्वरी जैसे आजकल अनुपलब्ध अन्य ग्रन्थों के उद्धरणों से भी इस विषय को पुष्ट किया गया है। यह सारा प्रकरण ऊपर प्रदर्शित ग्रन्थों से मिलता-जुलता है, केवल प्रतिपादन शैली भिन्न है। शास्त्रान्तरों में निर्दिष्ट [८]कपाल, भरण, तरुण्ड, रुण्ड, रुचक, नलयष्टि, लनलक नामक शरीर के अवययों के नाम यहाँ गिनाये गये हैं। इन शब्दों का प्रयोग किन अर्थों में हुआ है, यह यहाँ स्पष्ट नहीं है। संभव है यहाँ इन नामों का शुद्ध रूप भी न हो। मानव-शरीर का निरूपण करने के उपरान्त यहाँ उसकी बीभत्सता का वर्णन है। प्राचीन ग्रन्थों में यह विषय भी प्रायः सर्वत्र देखने को मिलता है, किन्तु तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं में मानव-देह को अपने इष्टदेव का निवास-स्थान माना गया है। मानव-देह के निरूपण के साथ ही यहाँ इसमें अधिष्ठित शरीरी के स्वरूप को बताकर यह भी कहा गया है कि उसकी स्थिति इस शरीर में कहाँ है।

९. इस प्रकार जनन-प्रक्रिया को बताने के बाद यहाँ मरण की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है। यास्क मुनि के निरुक्त में— "जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति" (१.१३) इन छः भावविकारों का उल्लेख है। इन्हीं छः भावविकारों की प्रक्रिया से शरीर-यन्त्र के विघटन का प्रकार बताकर यहाँ कहा गया है कि एक स्थूलशरीर के विघटन के साथ जीवात्मा आतिवाहिक देह की सहायता से दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करती है। कोशभाष्य[९] में इसको अन्तराभव देह कहा गया

---

७. कुए से पानी निकालने के लिये रहट की तरह घटीयन्त्र का भी उपयोग किया जाता है। इसमें छोटी-छोटी घटिकाएँ बँधी रहती हैं। ये निरन्तर ऊपर-नीचे चलती रहती हैं। ऊपर आने पर इनका पानी नाली में चला जाता है और नीचे कुँए में जाने पर इनमें पुनः पानी भर जाता है। अरहट्ट-न्याय इसी आवागमन की निरन्तर चल रही प्रक्रिया का सूचक है।

८. कपालभरणतुरुण्डरुण्डरुचकनलयष्टिलनलकभेदेनाभिधानानि शास्त्रान्तरेषूक्तानि (जन्ममरणविचार, पृ. ११)।

९. कोशभाष्य से यहाँ वसुबन्धु-रचित अभिधर्मकोश का या उसके किसी भाष्य का उल्लेख हो सकता है। परीक्षा अपेक्षित है।

है। भगवद्गीता (८.६) के वचन को उद्धृत करते हुए यहाँ बताया गया है कि मनुष्य के शरीर छोड़ते समय जो विचार रहते हैं, तदनुसार ही उसको अगली गति मिलती है। इस प्रकार यह जननमरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

जीवन्मुक्ति

१०. इस जनन-मरण की प्रक्रिया से जीव को ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही, जिसको आगम-तन्त्रशास्त्र में शक्तिपात नाम दिया गया है, जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त होती है। सात्वतसंहिता, अमृतेशशिखा, निशाटन, राम भट्टारक, भोगिपति (भगवान् शेष) का परमार्थसार, पौष्करसंहिता, पूर्वशास्त्र, मतरहस्य, तिलक, महाकुल, प्रचण्डभैरव, भागेशमत जैसे ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सहायता से यहाँ जीवन्मुक्ति दशा का विस्तार से निरूपण किया गया है। इस प्रकार २५ पृष्ठ का यह छोटा सा ग्रन्थ समाप्त होता है।

जीवन्मुक्ति की यह प्रक्रिया गोरक्षनाथ सिद्ध के अमरौघशासन में (पृ. ५-८) में भी मिलती है, जो इसी ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ मोक्ष की विभिन्न परिभाषाओं का खण्डन कर बताया गया है कि [१०]सहज समाधि के परामर्श से ही यह जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त की जा सकती है। इसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य जनन-मरण के जंजाल से मुक्त हो जाता है (पृ. ८-९)। ग्रन्थ के प्रारम्भ में —

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाऽधःशक्तिकुञ्चनात्।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम्।।

यह श्लोक है। ऊर्ध्व शक्तिनिपात आदि पदों का अर्थ करते हुए यहाँ परासारणा, सारणा, प्रतिसारणा, शंखसारणा और महासारणा का लक्षण बताया गया है। इनका स्वरूप नाथ-योग के ग्रन्थों में प्रतिपादित मुद्राबन्ध सरीखा है। सारणा पद का प्रयोग हमें अभी अन्यत्र देखने को नहीं मिला। आगे शब्दब्रह्म और परब्रह्म का विवेचन कर दशविध अनाहतनाद का स्वरूप और उसके अभ्यास का फल प्रदर्शित है (पृ. १-५)। ऊपर चर्चित जीवन्मुक्ति की विवेचना के बाद ग्रन्थ के अन्तिम भाग (पृ. ९-१३) में शंखिनी आदि के भेदन का प्रकार बताकर चन्द्रमण्डल से अमृतस्राव, सूर्य-चन्द्र की व्यवस्थिति, मूल कन्द में पवन, मन, तपन, जीव, शब्द और मातृकाक्षर का उदय बता कर तथा निरंजन परमात्मा की चर्चा कर मूलाधार आदि चक्रों का, आधारों का तथा षोडशी अमृतकला का निरूपण करते हुए अन्त में बताया गया है कि इन उपायों से त्रैलोक्य-विहार में स्थित ज्ञानशक्ति में परमात्मा के दर्शन होते हैं।

---

१०. वायु, प्राण और मन का निरोध हो जाने पर सहज, स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाली समाधि की सहज समाधि है। सिद्धों की सहज योगपद्धति से इसे अधिक सरलता से प्राप्त किया जा सकता है।

आतिवाहिक अथवा अन्तराभव देह

११. ऊपर नवें अनुच्छेद में आतिवाहिक देह तथा अन्तराभव देह की चर्चा आई है। आतिवाहिक देह ही जीवात्मा को एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश कराता है। अन्तराभव देह के प्रसंग में — "अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना" वह वचन हमें स्मरण आता है। यह वचन कहाँ का है? अभी हम बता पाने में असमर्थ हैं। कोशभाष्य के अनुसार एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर तक जाने के लिये इस शरीर की आवश्यकता है। यह उसी समय उत्पन्न होता है। बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है, अतः उसके मत में स्थायी सूक्ष्मशरीर की सत्ता स्वीकार्य नहीं है।

सूक्ष्मशरीर

१२. इसके विपरीत सांख्याचार्य स्थूलशरीर के अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर की भी सत्ता मानते हैं। सांख्यकारिका--

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।। (का.४०)

इस प्रकार उसका लक्षण दिया गया है। प्रत्येक आत्मा के लिये यहाँ एक नियत सूक्ष्मशरीर की सत्ता मानी गई है। इसमें महान् (बुद्धि) से लेकर सूक्ष्मभूत (पंच तन्मात्रा) पर्यन्त १८ तत्त्व समाविष्ट हैं। स्थूलशरीर तो उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, किन्तु यह सूक्ष्मशरीर पाप-पुण्य आदि की वासनाओं को अपने साथ लिये जनन-मरण की परम्परा को चलाता है। योगसूत्र में— "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (१.२४) यह ईश्वर का लक्षण दिया है। ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये सब जीवात्मा के धर्म हैं। योगसूत्रकार ने ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के पाँच प्रकार के क्लेशों का; शुक्ल, कृष्ण और अशुक्लाकृष्ण नाम के त्रिविध कर्मों का; जाति, आयु और भोग नामक विपाकों का एवं वासना-रूप आशयों (संस्कारों) का भी वर्णन किया है। इसी स्थिति को सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने "भावैरधिवासितम्" (का. ४०) कह कर स्पष्ट किया है। सत्यवान्-सावित्री की कथा के प्रसंग में महाभारत में भी इस सूक्ष्मशरीर की चर्चा हुई है—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यमः।। (वन. २९७.९७)

यहाँ सूक्ष्मशरीर को अंगुष्ठमात्र पुरुष कहा गया है। उपनिषदों में भी अंगुष्ठमात्र पुरुष की चर्चा है। सूक्ष्मशरीर के साथ संसरण कर रही आत्मा के लिये यह औपचारिक प्रयोग है।

पुर्यष्टक

१३. सांख्यदर्शन को अभिप्रेत इस सूक्ष्मशरीर के स्थान पर शैवागमों में पुर्यष्टक की सत्ता मानी गई है। स्पन्दकारिका (श्लो० ४९) में पंचतन्मात्रा, मन, अहंकार और बुद्धि— इन आठ तत्त्वों की समष्टि को पुर्यष्टक कहा गया है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। (७.४)

गीता के इस वचन में भी अष्टधा प्रकृति के रूप में उन्हीं तत्त्वों का उल्लेख है। भोजदेव-कृत तत्त्वप्रकाश के टीकाकारों में से कुछ ने (पृ. ३७-३९) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्रा, मन, बुद्धि और अहंकार को ही पुर्यष्टक बताया है, किन्तु मतान्तर से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्रा, बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण को पुर्यष्टक माना है। पुर्यष्टक का यह स्वरूप सांख्य के सूक्ष्मशरीर के सदृश ही है। अन्य आचार्य कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण-चतुष्टय, प्राणपंचक, तन्मात्रपंचक, काम, कर्म और अविद्या का समावेश पुर्यष्टक में करते हैं। अन्य व्याख्याकार सर्ग से लेकर कल्पान्त या मोक्षान्त तक स्थायी प्रत्येक पुरुष के लिये नियत पृथिवी से लेकर कलातत्त्व पर्यन्त त्रिंशत् तत्त्वात्मक असाधारण स्वरूप वाले सूक्ष्मदेह को ही पुर्यष्टक मानते हैं। यह लक्षण भी सांख्यसंमत सूक्ष्मशरीर से मिलता जुलता है। सांख्यसंमत १८ तत्त्वों के स्थान पर यहां शैवागमसंमत कलातत्त्वपर्यन्त तीस तत्त्वों की स्थिति मानी गई है।

सूक्ष्म पुर्यष्टक

१४. योगिनीहृदयदीपिका (पृ. ७१, ३२०, ३४३) में स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से चिति, चित्त, चैतन्य, चेतनाद्वय, कर्म, जीव, कला और शरीर को सूक्ष्म पुर्यष्टक बताया गया है। डॉ. [११]वुडरफ ने इनका विश्लेषण किया है। इस प्रसंग को हमने योगिनीहृदयदीपिका के भाषानुवाद में अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है।

पिण्ड विवेचन

१५. जो कुछ भी इस ब्रह्माण्ड में है, वह सब कुछ इस पिण्ड में भी है, मानव-देह में भी विद्यमान है, इसकी संक्षिप्त सूचना पाँचवें अनुच्छेद में तथा वहाँ की टिप्पणी में दी गई है। अब यहाँ हम स्थूलशरीर में स्थित चक्र, आधार, नाडी, वायु आदि का स्वरूप बताना चाहते हैं। कश्मीर से प्रकाशित नेत्रतन्त्र मृत्युंजयभट्टारक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके छठे, सातवें और आठवें अधिकार में तथा अन्यत्र भी स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध योग प्रतिपादित है। इनमें से सूक्ष्म योग ही हमारे इस निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है। सूक्ष्म योग का निरूपण करते हुए यहाँ सातवें अधिकार

---

११. "गारलैण्ड आफ लेटर्स" (पृ. २५६-२५७) देखिये। डॉ. वुडरफ का विवरण यहाँ कुछ त्रुटिपूर्ण लगता है।

में षट्चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पाँच व्योम (शून्य), बारह ग्रन्थि, तीन शक्ति, तीन धाम, तीन नाडी, नाडी-वृन्द आदि का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इनके सहारे योगी दिव्यदेह हो जाता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। कुण्डलिनी योग में रुचि रखने वाले साधकों के लिये यह प्रकरण बड़े महत्त्व का है। शक्ति के आरोह और अवरोह क्रम को समझाते हुए और खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए यहाँ शिव और शक्ति की सामरस्यमयी स्थिति को बताया गया है और अन्त में कहा गया है कि यह सूक्ष्म उपाय कालवंचक है। इस प्रकरण की क्षेमराज ने स्पष्ट व्याख्या की है। उसकी सहायता से सूक्ष्म योग की प्रक्रिया को यहाँ अन्य विवरणों के साथ तुलनात्मक पद्धति से संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

षट्चक्र

१६. वैष्णव पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता (२.५८) में चार ही चक्रों का उल्लेख है। भाष्यकार ने आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ नामक चार स्थानों में स्थित चक्रों की चर्चा की है। बौद्धों के वसन्ततिलक आदि ग्रन्थों में भी चार ही चक्र वर्णित हैं। नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा में इनका स्थान माना गया है और इनको क्रमशः निर्माण, धर्म, संभोग और महासुख चक्र की संज्ञा दी गई है। बौद्धों के ही कालचक्रतन्त्र में इनकी संख्या छः है। ऊपर के चार चक्रों के अतिरिक्त गुह्यचक्र और उष्णीषचक्र को मिला कर इन छः चक्रों की विशद व्याख्या कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा नामक प्रसिद्ध टीका में मिलती है। विमलप्रभा (भा. १, पृ. १६९) में १८ चक्रों का भी उल्लेख है। योगिनीहृदय की दीपिका टीका (पृ. ३४-३७) में स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से ३२ चक्रों का उल्लेख मिलता है। सुषुम्ना नाड़ी के नीचे और ऊपर रक्त और श्वेत दो सहस्रदल कमल विद्यमान हैं और इनके बीच में अन्य तीस पंकज हैं। दीपिकाकार ने यहाँ केवल नौ चक्रों का वर्णन किया है। स्वच्छन्दसंग्रह की कोई मातृका भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। योगिनीहृदय (३.३०) में नौ चक्रों के साथ छः चक्रों का उल्लेख है। नेत्रतन्त्र में भी छः ही चक्र वर्णित हैं, किन्तु क्षेमराज के अनुसार उनके नाम नाड़ी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त हैं और इनकी स्थिति क्रमशः जन्म, नाभि, हृदय तालु, बिन्दु और नाद में है। यहाँ इन षट्चक्रों का अधिक विवरण नहीं मिलता।

१७. इस प्रकार चक्रों की संख्या और स्वरूप के विषय में भारतीय योगशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में विविधता के दर्शन होने पर भी आजकल श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्रनिरूपण में, सौन्दर्यलहरी और उसकी लक्ष्मीधरा टीका आदि में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक छः चक्रों को मान्यता मिली है। कालचक्रतन्त्र और उसकी टीका में, योगिनीहृदय और उसकी व्याख्या में तथा नेत्रतन्त्र में भी चक्रों की इस संख्या को

समर्थन मिलता है, तो भी इनके स्वरूप, लक्षण आदि के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। इतना सब होते हुए भी आजकल श्री पूर्णानन्द परमहंस द्वारा षट्चक्रनिरूपण में प्रदर्शित इनका क्रम और स्वरूप ही प्रायः सर्वत्र मान्य है।

१८. इन छः चक्रों का जितना सांगोपांग वर्णन श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्रनिरूपण में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यहाँ छः चक्रों के स्वरूप का विशद वर्णन करते समय चक्रों के दलों में स्थित वर्णों (बीजाक्षरों) के अतिरिक्त छः डाकिनियों, छः अधिष्ठातृ-देवताओं, पांच भूतों के मण्डलों, चार पीठों, चार लिंगों आदि का विवरण देते हुए इनके ध्यान की पद्धति का और उससे उपलब्ध होने वाले फल का भी निरूपण किया गया है। यह प्रक्रिया योगिनीहृदय (३.३०-३१) और उसकी टीका में भी मिलती है। भगवती त्रिपुरा की उपासना कश्मीर, केरल और गौडीय पद्धति से की जाती है। पूर्णानन्द परमहंस के ग्रन्थ श्रीतत्त्वचिन्तामणि में उसकी गौडीय पद्धति निरूपित है। षट्चक्रनिरूपण उसका छठा प्रकाश है। सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत टीका के साथ कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इसके षट्चक्रनिरूपण नामक छठे प्रकाश को और पादुकापंचक को जान वुडरफ ने अपने विस्तृत अध्ययन "सरपेन्ट पावर" के परिशिष्ट के रूप में दिया था। अब यह अंश भाषानुवाद के साथ काशी के चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान से प्रकाशित हुआ है।

आधार, नाडी आदि

१९. नेत्रतन्त्र के उक्त प्रकरण में आधार आदि का निरूपण इस प्रकार किया गया है— आधार सोलह हैं। इनके नाम अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ्र, पायु, कन्द, नाडि - (भि), जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध और द्वादशान्त हैं। क्षेमराज ने यहाँ कुलप्रक्रिया के आधार पर भी सोलह आधारों का परिचय दिया है। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तथा योगिनीहृदय आदि त्रिपुरा-तन्त्रों में भी नौ आधारों का ही निरूपण मिलता है। विस्तारभय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

२०. अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और उभयलक्ष्य के भेद से लक्ष्य तीन प्रकार का है। जन्म, नाभि, हृदय, बिन्दु और नाद के भेद से व्योम (शून्य) पंचविध है। माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति नाम की बारह ग्रन्थियाँ मानी गई हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया— ये तीन शक्तियाँ हैं। सोम, सूर्य और अग्नि नामक तीन धाम हैं। सव्य, अपसव्य और मध्य में स्थित इडा, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन प्रधान नाडियाँ तथा इनके साथ गान्धारी, हस्तिजिह्वा , पूषा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी को मिलाकर दस नाड़ियाँ होती हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दशविध प्राण हैं।

नाड़ियों की संख्या का विस्तार ७२ हजार और साढ़े तीन करोड़ तक पहुँचता है। आणव, कार्म और मायीय मल से यह शरीर आक्रान्त है। स्थूलशरीर की इस पूरी आन्तर प्रक्रियाा को जानकर योगाभ्यासरत योगी अपने देह को परिशुद्ध कर दिव्य देह से सम्पन्न हो जाता है। क्षेमराज ने तन्त्रप्रक्रिया और कौलिकप्रक्रिया के आधार पर इस पूरे प्रकरण की स्पष्ट व्याख्या की है और योगी के दिव्य देह की प्राप्ति की प्रक्रिया को समझाया है। यह दिव्य देह ही अन्यत्र वज्रदेह के रूप में वर्णित है।

वज्रदेह

२१. हम देखते हैं कि नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी त्रिलक्ष्य, व्योमपंचक, द्वादश ग्रन्थि, नाडी, वायु आदि का वर्णन इसी पद्धति से हुआ है। बौद्ध तन्त्रों में भी चक्र, नाडी, वायु, बिन्दु आदि का निरूपण है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना को वहाँ ललना, रसना, अवधूती कहा जाता है। कुण्डलिनी-योग चण्डाली-योग के नाम से प्रसिद्ध है और कहा गया है कि इससे साधक को वज्रदेह की प्राप्ति होती है। सारनाथ के तिब्बती संस्थान द्वारा संचालित दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की षाण्मासिक शोधपत्रिका 'धीः' के चतुर्थ अंक में वज्रदेह के स्वरूप पर विचार किया गया है और योगसंबन्धी इस लेखमाला के पूर्ववर्ती अंकों में चक्र, नाडी, वायु, बिन्दु आदि का स्वरूप प्रदर्शित है। स्थूल देह की उत्पत्ति की प्रक्रिया को बताने के साथ ही यहाँ वज्रदेह की प्राप्ति की विधि भी वर्णित है। कश्मीर के मालिनीविजयतन्त्र में भी पृथ्वी से बुद्धितत्त्व पर्यन्त सांख्य-संमत तत्त्वों की विभिन्न धारणाओं के अभ्यास से वज्रदेह की प्राप्ति की प्रक्रिया बताई गई है। इस वज्रदेह पर शस्त्र-अस्त्र आदि का कोई प्रभाव नहीं होता, जैसा कि इस निबन्ध के पहले अनुच्छेद में बताया गया है।

कुण्डलिनी योग

२२. ऊपर अभी कुण्डलिनी योग की चर्चा की गई है। कुण्डलिनी योग, कुण्डलिनी शक्ति, षट्चक्र आदि का पतंजलि के योगसूत्रों में कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि कुण्डलिनी योग प्राचीन भारतीय योग की एक विशिष्ट पद्धति है। आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसका वर्णन मिलता है। 'तन्त्रानुसारेण' कह कर श्री पूर्णानन्द इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। कुछ आचार्य "अष्टाचक्रा नवद्वारा" (१०.१२.३९) इत्यादि [१२]अथर्ववेदीय मन्त्र में कुण्डलिनी योग का उल्लेख मानते हैं। प्रायः सभी आचार्य प्रसुप्तभुजगाकारा, सार्धत्रिवलयाकृति, मृणालतन्तुतनीयसी, निवातदीपशिखाकारा, मूलाधार स्थित शक्ति को कुण्डलिनी के नाम से जानते हैं। जिस योग-पद्धति की सहायता से इस कुण्डलिनी शक्ति को

---

१२. तैत्तिरीय आरण्यक (१.२७.२) में भी यह मन्त्र उपलब्ध है। इन दोनों स्थलों और उनके भाष्यों के आधार पर इस प्रकारण की स्पष्ट व्याख्या अपेक्षित है।

जगाकर सुषम्ना मार्ग के द्वारा षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार चक्र तक पहुँचाया जाता है और वहाँ उसका अकुल शिव से सामरस्य सम्पादन कराया जाता है, उसीका नाम कुण्डलिनी योग है। आधारों अथवा चक्रों आदि के विषय में मतभेद होते हुए भी मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार स्थित अपने इष्टदेव में सामरस्य का सम्पादन सभी मतों में निर्विवाद रूप से मान्य है।

२३. षट्चक्रनिरूपण के प्रथम प्रकरण में उसकी विधि इस प्रकार वर्णित है- यम और नियम के नित्य-नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा योगी गुरुमुख से मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त कुण्डलिनी शक्ति के उत्थापन क्रम को ठीक से समझ लेने के उपरान्त पवन और दहन के आक्रमण से प्राप्त कुण्डलिनी शक्ति को, जो स्वयंभू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूँकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसे ब्रह्मद्वार तक पहुँचा देता है। कुण्डलिनी शक्ति पहले मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग का, तब अनाहतचक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेदन करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्रदलचक्र में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीवभाव के साथ इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से उठाकर सहस्रार चक्र तक ले जाता है और वहाँ उसको परबिन्दु-स्थान में स्थित शिव (परलिंग) के साथ समरस कर देता है। समरसभावापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में संजोये हुए यह पुनः मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की पूरी प्रक्रिया। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवभाव से मुक्त हो शिवभावापन्न (जीवन्मुक्त) हो जाता है।

२४. षट्चक्रनिरूपण के भाषाभाष्यकर श्री भारतभूषण ने अपने सातों प्रकरणों के अन्त में "महावाक्यार्थनिर्णय" शीर्षक से मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों का तथा सहस्रदल कमल का स्वरूप बताया है। कुण्डलिनी योग की प्रक्रिया को सरलता से हृदयंगम कर लेने में इससे बड़ी सहायता मिल सकती है। कुल-कुण्डलिनी शक्ति कैसे सहस्रार-स्थित अकुल शिव की ओर उन्मुख होती है और वहाँ शिव के साथ सामरस्य का अनुभव कर पुनः कैसे अपने मूल स्थान में आ जाती है, इसकी प्रक्रिया नित्याषोडशिकार्णव (४.१२-१६) में संक्षेप में वर्णित है। इसी प्रकार चार पीठों और चार लिंगों का स्वरूप हमें योगिनीहृदय (१.४१-४७) में अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है।

कुण्डलिनी शक्ति

२५. सहस्रदल कमल के दो प्रकारों की चर्चा १६ वें अनुच्छेद में आ चुकी है। योगिनीहृदय की योगी अमृतानन्द-कृत दीपिका टीका (पृ. ३४-४०) तथा भास्करराय-कृत

सेतुबन्ध टीका (पृ. ३८-४३) में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह नामक अद्यावधि अनुपलब्ध ग्रन्थ के अनुसार मानव लिंग (सूक्ष्म) शरीर में सुषुम्ना नाडी के सहारे ३२ पद्मों की स्थिति मानी गई है। सबसे नीचे और सबसे ऊपर दो सहस्रार पद्म स्थित हैं। नीचे कुल-कुण्डलिनी में स्थित अरुण वर्ण सहस्रार कमल ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेत वर्ण सहस्रार पद्म अधोमुख है। इनमें से अधः सहस्रार को कुल-स्थान और ऊर्ध्व सहस्रार को अकुल-स्थान कहा जाता है। अकुल-कुण्डलिनी प्रकाशात्मक अकार-स्वरूप शिव की और कुल-कुण्डलिनी विमर्शात्मक हकार-स्वरूप शक्ति की द्योतक है। षट्चक्रनिरूपण के १०-१३ श्लोकों में कुल-कुण्डलिनी का स्वरूप वर्णित है।

प्राण-कुण्डलिनी

२६. इन दो कुण्डलिनियों के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में प्राण-कुण्डलिनी का भी वर्णन मिलता है। मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी शक्ति का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी सार्धत्रिवलया प्राण-कुण्डलिनी रहती है। मध्यनाडी सुषुम्ना के भीतर चिदाकाश(बोधगगन)रूप शून्य स्थित है। उससे प्राणशक्ति निकलती है। इसको अनच्क कला भी कहते हैं। इसमें अनच्क (अच्-स्वर से रहित) हकार का निरन्तर नदन होता रहता है। यह नादभट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे प्राण-कुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास-प्रश्वास, प्राण-अपान को गति देती है और जहाँ इनकी एकता का अनुसन्धान किया जाता है। मध्यनाडी में स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राणशक्ति ही अनच्क कला कहलाती है। इस अनच्क कला रूप प्राणशक्ति को कुण्डलिनी इसलिये कहते हैं कि मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राण का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति हकार की लिखावट की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती है। प्राणशक्ति अपनी इच्छा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है। प्राणशक्ति की यह वक्रता (कुटिलता=घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का खेल है। प्राणशक्ति का एक लपेटा वाम नाडी इडा में और दूसरा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है। इस तरह से इसके दो वलय (फेरे) बनते हैं। सुषुम्ना नाम की मध्यनाडी सार्ध कहलाती है। इस प्रकार यह प्राणशक्ति भी सार्धत्रिवलया है। वस्तुतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राणशक्ति का निवास है, किन्तु हृदय में इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवशिष्ठ-न्याय से इसका पृथक् उल्लेख किया गया है। इसका प्रयोजन अजपा (हंसगायत्री) जप को सम्पन्न करना है। हमने इस विषय पर विज्ञानभैरव के १५१ वें श्लोक की हिन्दी व्याख्या में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

नाडीचक्र

२७. ऊपर नाडीचक्र की संक्षिप्त चर्चा आई है। षट्चक्रनिरूपण के प्रथम तीन श्लोकों में नाडियों के संबन्ध में बताया गया है कि मेरुदण्ड के बाहर वाम भाग में चन्द्राकार इडा नाडी और दक्षिण भाग में सूर्यात्मक पिंगला नाडी स्थित है। मेरुदण्ड के मध्य भाग में वज्रा और चित्रिणी नाडी से मिली हुई त्रिगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी का निवास है। इनमें सत्त्वगुणात्मिका चित्रिणी चन्द्ररूपा, रजोगुणात्मिका वज्रा सूर्यरूपा और तमोगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी अग्निरूपा है। यह त्रिगुणात्मिका नाडी कन्द के मध्य भाग से सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है। इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश है। इस सुषुम्ना नाडी के मध्य भाग में लिंग से मस्तक तक विस्तृत दीपशिखा के समान प्रकाशमान वज्रा नाडी स्थित है। इस वज्रा नाडी के मध्य में चित्रिणी नाडी का निवास है। यह प्रणव से विभूषित है और मकड़ी के जाले के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार की है। योगी ही इसको योगज ज्ञान से देख सकते हैं। मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना और ब्रह्मनाडी के बीच में मूलाधार आदि छः चक्रों को भेद कर यह नाडी सहस्रार चक्र में प्रकाशमान होती है। इस चित्रिणी नाडी के मध्य में शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करने वाली ब्रह्मनाडी स्थित है। यह नाडी मूलाधार-स्थित स्वयंभू लिंग के छिद्र से सहस्रार में विलास करने वाले परमशिव पर्यन्त व्याप्त है। यह नाडी विद्युत् के समान प्रकाशमान है। मुनिगण इसके कमलनाल के तन्तुओं के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार का मानस प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं। इस नाडी के मुख में ही ब्रह्मद्वार स्थित है और इसीको योगीजन सुषम्ना नाडी का भी प्रवेश द्वार मानते हैं।

अमा कला

२८. षट्चक्रनिरूपण के ४६ वें श्लोक में अमा कला का स्वरूप वर्णित है। स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड के एक वचन में, जो शब्दकल्पद्रुम (भा. १, पृ. ८३) में उद्धृत है, बताया गया है कि चन्द्रमा की सोलहवीं कला को अमा कला कहा जाता है। आचार्य रघुनन्दन ने (शब्द., भा.१, पृ. ८३) अमा कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह कला नित्य है, क्षय और उदय से रहित है। चन्द्रमा की अन्य कलाओं में यह उसी तरह से अनुस्यूत है, जैसे पुष्पमाला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र अनुस्यूत रहता है। यह आधारशक्ति का भी परम स्वरूप है। श्रद्धेय श्री श्री कविराज जी ने "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" (पृ. ३०९) में कहा है कि तन्त्रशास्त्र में बिन्दु को पूर्णिमा कहा जाता है, किन्तु यह ठीक पूर्णिमा नहीं है। यथार्थ पूर्णिमा षोडशी है। बिन्दु में १५ कलाएं हैं, एक कला नहीं है। अर्थात् अमृतकला अथवा षोडशी का वहाँ अभाव है। षोडशकल पुरुष में इस अमृतकला का निवास है। वही वास्तविक अमा कला है। "भारतीय संस्कृति और साधना" (भा. १, पृ. ३१९) में वे कहते हैं कि योगप्रक्रिया में उन्मना के उन्मीलन को ही 'अमा कला' कहा गया है।

मातृका के क्रम में अमा कला की एक दूसरी ही व्याख्या मिलती है। यहाँ अनुत्तर तत्त्व अकार को सप्तदशी या अमा कला के नाम से जाना जाता है। यह नित्योदित है, अर्थात् इसका कभी तिरोधान नहीं होता। यही अमृतकला है। अन्तःकरण आदि षोडश कलाओं का उद्भव इसीसे होता है। यह अन्तरुन्मुख है। प्रस्तुत ग्रन्थ में बताया गया है कि सहस्रार चक्र के मध्य विराजमान त्रिकोण-स्थान में अमा कला का निवास है, जो चन्द्रमा की सोलहवीं नित्या कला मानी जाती है। यह बाल-सूर्य के समान प्रकाशमान है। यह कला नित्योदित है, अर्थात् क्षय और उदय से रहित है। सहस्रार के ही समान यह भी अधोमुख है और इससे निरन्तर अमृत झरता रहता है। इस अमृत कला के भीतर ही निर्वाण कला का निवास है।

निर्वाण कला

२९. निर्वाण कला के संबन्ध में यहाँ (श्लो. ४७-४९) बताया गया है कि अमा कला के भीतर निर्वाण कला स्थित है। यह साधक को मुक्ति प्रदान करने वाली है, अतः इसे निर्वाण कला कहा जाता है। मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्द पर्यायवाची हैं। यह निर्वाण कला केश के अग्र भाग के हजारवें भाग से भी सूक्ष्म है, इसीलिये दुर्ज्ञेय है। यह प्राणियों की चैतन्य शक्ति है। इसीकी सहायता से साधक योगी के चित्त में ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ध्यान में इसका आकार अर्धचन्द्र के समान तिरछा है। इस निर्वाण कला के भीतर निर्वाण-शक्ति का निवास है। बिन्दु-स्वरूपा यह निर्वाण-शक्ति जीव को सामरस्यावस्था से उत्पन्न परम प्रेम की धारा से सदा आप्यायित करती रहती है। इस निर्वाण-शक्ति के मध्य में स्थित अतिसूक्ष्म स्थान में निर्मल शिवपद, परब्रह्म का स्थान है। योगीजन ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। यह पद नित्यानन्दमय है। इस प्रकार इस कुण्डलिनी योग की सहायता से व्यक्ति मोक्षमार्ग के प्रति अग्रसर हो सकता है।

गुरुपादुका

३०. स्मरण रखने की बात है कि योगशास्त्र, विशेष कर तन्त्रशास्त्र ने मानवमात्र को मोक्ष का अधिकारी माना है। कोई भी मनुष्य न केवल गुरु से, किन्तु स्वयं शास्त्रों के अभ्यास और अपनी प्रतिभा से भी अपनी मुक्ति का मार्ग खोज सकता है। बौद्ध तन्त्रों में यह भी बताया गया है कि व्यक्ति अपने से ही नहीं, दूसरे के अनुभव से भी लाभान्वित हो सकता है। सिद्धों और सन्तों के जीवन में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। शैव और शाक्त तन्त्रों में सत्तर्क को योग का प्रधान अंग मान गया है। इतना सब होने पर भी आसन और प्राणायाम नामक योग के अंगों का, कुण्डलिनी योग का एवं आभिचारिक प्रयोगों का अभ्यास बिना गुरु की सहायता के नहीं करना चाहिये। थोड़ी सी भी त्रुटि हो जाने पर अभ्यासी शारीरिक अथवा मानसिक रूप से

अक्षम हो सकता है। इसीलिये इन शास्त्रों में गुरु की अपार महिमा गाई गई है। षट्चक्रनिरूपण के अन्त में जोड़ा गया [१३]पादुकापंचकस्तोत्र इसीका एक नमूना है। यहाँ गुरुपादुका, अर्थात् गुरु के चरणों की महिमा के बहाने ब्रह्मरन्ध्र-स्थित भगवान् आदिनाथ की स्तुति की गई है। महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानन्द ने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या परिमल (पृ. ४-५) में गुरु, चरण (अंघ्रि) और पादुका पदों का शिवसूत्र, कुब्जिकामत आदि ग्रन्थों के प्रमाण से सुन्दर विवेचन किया है। अपने पादुकोदय नामक ग्रन्थ के अनेक वचनों को भी उन्होंने स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है। योगी अमृतानन्द ने अपने चिद्विलासस्तव में गुरुपादुका की स्तुति इस प्रकार की है--

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः ।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ।।१।।

३१. अपनी एक दो बातें कह कर हम इस निबन्ध को समाप्त करते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, योगशास्त्र और तन्त्रशास्त्र ने मानवमात्र को मोक्ष का अधिकारी माना है और ***जीवन्मुक्ति को ही, इसी जन्म और इसी देह में चरम सुख, चरम शान्ति की अनुभूति को ही, मोक्ष नाम दिया है।*** इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधक अपनी रुचि के अनुसार किसी भी मार्ग का अनुसरण कर सकता है। जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिये हमारी समझ में आज की प्रजा के लिये सम्पूर्ण विश्व के मानव के लिये, सिद्धों के सहज योग से बढ़कर कोई उपाय नहीं है। कश्मीरी शैवदर्शन ने विश्वाहन्ता के विकास की प्रक्रिया बताई है। योगी अरविन्द ने पूर्णयोग की सहायता से मानव मन को अतिमानसिक स्थिति तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त किया है। यही तो योगतन्त्रशास्त्र में प्रदर्शित उन्मनी अवस्था है। महामनीषी श्रद्धेयचरण श्री श्री पं. गोपीनाथ कविराज ने बताया है कि अखण्ड महायोग की सहायता से हम इस स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं और यही कारण है कि गणेशपुरी के महान् सन्त शिवभावापन्न स्वामी मुक्तानन्द जी महाराज ने कश्मीरी शैवदर्शन और सिद्धयोग के प्रचार पर अधिक जोर दिया है।

---

१३. गुरुगीता के प्रारंभ में स्थित 'गुरुपादुकापंचक' इससे भिन्न है। इस पर और गुरुगीता पर हमने विस्तृत हिन्दी व्याख्या लिखी है। काशी के जंगमवाड़ी मठ से शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला में इसका प्रकाशन हो चुका है। उसके अंग्रेजी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ गणेशपुरी आश्रम से प्रकाशित होने वाला है। गुरुतत्त्व का सम्पूर्ण रहस्य इसमें छिपा हुआ है। इस प्रसंग में हमारे हिन्दी ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित "सद्गुरु साम्राज्य" (पृ. ९९-११६) शीर्षक निबन्ध भी देखा जा सकता है।

बौद्ध-तन्त्रों के अनुशीलन के नये आयाम

इतिहास की रचना, विशेष कर भारतीय शास्त्रों के आविर्भाव काल का निर्णय स्थूल प्रमाणों के आधार पर होता है और नये प्रमाणों के मिलने के साथ पूर्व स्थापनाएँ पुरानी पड़ जाती हैं। बौद्ध तन्त्रों और उनसे संबद्ध अन्य तन्त्रों के काल की तथा चुने हुए स्थापित सिद्धान्तों की समीक्षा हम यहाँ इसी पद्धति से करना चाहते हैं। "परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यम्" यह भगवान् बुद्ध का आदेश भी हमें इसके लिये प्रेरित करता है।

अंग्रेजी भाषा के साधारण ज्ञान के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय भाषाओं का ज्ञान हमारा शून्य के बराबर है। अतः हम उन भाषाओं के विद्वानों के प्रति क्षमाप्रार्थी हैं, जिन्होंने इन विषयों के अध्ययन में अपना पूरा जीवन लगा दिया, किन्तु इन भाषाओं के ज्ञान के अभाव में हम उनके विचारों से साक्षात् परिचित होने और उनकी समीक्षा करने में असमर्थ हैं। हम यहाँ इस क्षेत्र में अपने अवदानों को देने वाले और दे रहे गिने-चुने विद्वानों के विचारों की ही समीक्षा कर सकेंगे और ऐसा करते समय हमारी स्थिति वही होगी, जिसकी सूचना महाकवि कालिदास ने अपने महान् काव्य रघुवंश के प्रारंभ में— "मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः" यह कहते हुए दी थी। यहाँ विषयों की समीक्षा करते समय हमने पद्मविभूषण महामहोपाध्याय श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के उपदेशों का अनुसरण किया है और काल का निर्णय करते समय स्वनामधन्य प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती महोदय द्वारा दिखाई पद्धति का। इतिहासकार तिब्बती लामा तारानाथ ने इस मार्ग को बहुत पहले खोला था और प्रो. चिन्ताहरण चक्रवर्ती जी ने इस विषय में इसी दृष्टि को प्रधान माना है।

निबन्ध का आरंभ करते समय हम सर्वप्रथम आदरपूर्वक तीन विद्वानों का स्मरण करना चाहते हैं। ये हैं— म.म. हरप्रसाद शास्त्री, डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य और डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची। इन विद्वानों ने क्रमशः बौद्ध सिद्धों और उनकी अपभ्रंश भाषा पर, बौद्ध तन्त्रों पर और कम्बुज शिलालेख में वर्णित प्राचीन तन्त्रों के साथ कौल तन्त्रों पर महनीय कार्य किया है।

आजकल यूरोप में ही नहीं, भारत में भी आगम और तन्त्रशास्त्र का अलग-अलग अध्ययन किया जा रहा है। तन्त्रशास्त्र पर लिखने वाले विद्वानों का आग्रह रहता है कि यहाँ उन्हीं शाखाओं का समावेश किया जा सकता है, जिनमें स्पष्ट रूप से पंचमकार की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया हो। तन्त्रशास्त्र की इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए भी वे अपने ग्रन्थों में उस साहित्य का परिचय देने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते, जिनमें इस प्रकार के उपादान हैं ही नहीं। इस शास्त्र को

अर्वाचीन सिद्ध करने का तथा [1]निगम और आगम की भिन्नता पर प्रश्नचिह्न लगाने का भी प्रयत्न किया जाता है। यह सोच किसी भी प्रकार से उचित नहीं माना जा सकता। हमने "आगम और तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन" [2]शीर्षक निबन्ध में इस विषय को स्पष्ट किया है। उसको यहाँ (पृ. ३८-४१) भी देखा जा सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि इधर कलकत्ता से प्रकाशित प्रो. एन.एन. भट्टाचार्य के ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ दी तान्त्रिक रिलीजन" में इस दृष्टि को कुछ छोड़ दिया गया है।

सबसे बड़ी समस्या बौद्ध तन्त्रों की प्रवृत्ति के काल की है। योगाचार (विज्ञानवादी) सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य असंग के द्वारा अपने महायानसूत्रालंकार (पृ. ४४) में प्रयुक्त आश्रय-परावृत्ति जैसे शब्दों के आधार पर गुह्यसमाजतन्त्र की प्रवृत्ति चौथी शताब्दी ई. के आसपास तथा आर्यमंजुश्रीमूलकल्प की प्रवृत्ति इससे भी पहले मानी गई है। स्पष्ट है कि मैथुन-परावृत्ति जैसे शब्दों की गलत व्याख्या पर यह तिथि आधारित है। 'परावृत्ति' शब्द यहाँ योगशास्त्र में प्रयुक्त 'प्रत्याहार' शब्द के अर्थ को व्यक्त करता है, विपरीत रति जैसे अर्थ को नहीं। इसी तरह आर्यमंजुश्रीमूलकल्प में भूततन्त्र और गारुडतन्त्र उल्लिखित हैं। शिव के पाँच मुखों से क्रमशः गारुड, दक्षिण (भैरव), भूत, वाम और सिद्धान्त (शैव) तन्त्र निर्गत हुए हैं। इन तन्त्रों को उद्धृत करने वाले ग्रन्थ का काल कैसे इतना प्राचीन हो सकता है? आजकल तन्त्रों का काल छठी शताब्दी से पहले मानने को कोई तैयार नहीं लगता।

यह ध्यान देने की बात है कि इधर जापानी विद्वानों ने गुह्यसमाजतन्त्र का काल छठी शताब्दी के आसपास ही निर्धारित किया है। डॉ. एन.एन. भट्टाचार्य भी गुह्यसमाज का यही काल मानते हैं। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प के कुछ वर्णनों के आधार पर उसका काल तो आठवीं शताब्दी तक आजाता है । अनेक प्रमाणों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि कौल तन्त्रों के आद्य प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं और [3]डॉ. कान्तिचन्द्र

---

१. ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में बौद्ध और जैन मत के साथ सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पाशुपत-पांचरात्र मतों को भी अवैदिक सिद्ध कर दिया गया था। दूसरी तरफ महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक का समान प्रामाण्य स्वीकृत था। आचार्य शंकर के बाद वैष्णवों और शैवों ने अपने-अपने मत को वेदानुवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न किया और वैदिकीकरण की यह प्रक्रिया भास्करराय के समय तक पूरी हो चुकी थी। इन्हीं लोगों का कहना है कि निगम और आगम के विचारों में कोई भेद नहीं है। सारनाथ में भारतीय तन्त्रशास्त्र पर हुई गोष्ठी के पाँचवें और छठे दिन हुई गोष्ठियों के विवरण में इन विचारों को आधुनिक और परम्परागत दृष्टियों से देखा जा सकता है।

२. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. १-२६; परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली, सन् १९८४

३. अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी, द्वितीय संस्करण पृ. ५४५-५४८, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९६३

पाण्डेय के अनुसार इनका आविर्भाव-काल पाँचवीं-छठी शताब्दी है। गुह्यसमाजतन्त्र में कौल उपादानों की स्थिति यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि इसका आविर्भाव मत्स्येन्द्रनाथ के बाद ही हुआ होगा। बौद्ध परम्परा के अनुसार भी ८४ सिद्धों में मत्स्येन्द्र या मीननाथ का ही प्रथम स्थान है और इनका समय भी उक्त तिथि के आसपास ही माना जाता है। अतः इस तिथि से पहले कौल उपादानों वाले किसी भी तन्त्र की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।

कामिकागम, सोमसिद्धान्त, स्वच्छन्दतन्त्र आदि के वचनों में भारतीय वाङ्मय के पाँच मोटे विभाग बताये गये हैं। इनके नाम हैं— लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक। इनमें से प्रत्येक के पुनः पाँच-पाँच विभाग किये गये हैं। इन सबका विवरण तो अधूरा मिलता है, किन्तु सर्वात्मशंभु की सिद्धान्तप्रकाशिका[४] में अतिमार्ग विभाग में पाशुपत, महाव्रत (कालामुख) और कापालिक विभागों का स्पष्ट रूप से तथा कौलमत और शाक्तमत का परोक्ष रूप से उल्लेख मिलता है। मत्तमयूर शाखा की इसमें गणना नहीं है। वस्तुतः मत्तमयूर शाखा आमर्दक मठ से निःसृत है। अभिनवगुप्त ने द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमों की प्रवृत्ति आमर्दक मठ से मानी है। संभव है परवर्ती काल में इस पर कौलमत का प्रभाव पड़ा हो।

अभिनवगुप्त ने श्रीकण्ठ-प्रवर्तित और लकुलीश-प्रवर्तित पाशुपत शास्त्रों की भिन्नता को स्वीकार किया है। इस बात को आधुनिक विद्वान् नहीं मानते। श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की पुराण आदि में मिलने वाली नामावली को भी वे स्वीकार नहीं करते और पाशुपत मत की प्रवृत्ति लकुलीश से ही मानते हैं। इस मत की समीक्षा हम [५]अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। लकुलीश पाशुपत यह नाम ही श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत से इसकी भिन्नता को स्पष्ट करता है।

अभिनवगुप्त का कहना है कि लकुलीश आदि ने पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थिति के सिद्धान्त के आधार पर कायपूजा का प्रवर्तन किया। स्वच्छन्दतन्त्र में लकुलीश के मौसुल आदि शिष्यों की और लाकुल, मौसुल आदि मतों के साथ वैमल, कारुक आदि मतों की चर्चा है। नेत्रतन्त्र (१३.१०) में पाशुपत मत के आचार्य और लकुलीश के

४. मधुसूदन सरस्वती के प्रस्थानभेद के साथ यह ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से अभी सन् १९९६ में प्रकाशित हुआ है। इसका एक संस्करण तंजोर की सरस्वती महल पुस्तकालय की शोधपत्रिका, भा. २३, सन् १९८४ में भी प्रकाशित हुआ था।

५. उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान (अकादमी), लखनऊ से प्रकाशित हुए संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास के तन्त्रागम खण्ड में समाविष्ट "पाशुपत, कालामुख व कापालिक मत" शीर्षक निबन्ध देखिये।

पिता विश्वरूप का ध्यान मोहेंजोदड़ो में उपलब्ध ऊर्ध्वमेढ्र मुद्राओं के समान ही है। "सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा. १५.६०४) लकुलीश के इस सिद्धान्त पर ही कौल और नाथ मत की प्रवृत्ति हुई और बौद्ध तन्त्रों में वर्णित सेकयोग और हठयोग को भी इन्हींके साथ जोड़ा जा सकता है। इतना यहाँ स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के काल में शताब्दियों का अन्तर है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का प्रवर्तक माना गया है। पाशुपत मत की श्रौत परम्परा से ये संबद्ध हैं। मैत्रायणीसंहिता और तैत्तिरीय आरण्यक में पंचमन्त्रतनु भगवान् शिव के तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव और ईशान नामक पंचविध मन्त्रों की चर्चा है। कालचक्रतन्त्र को टीका विमलप्रभा के कर्ता [६]पुण्डरीक ने पंचबुद्धों को शिव के इस पंचमन्त्रतनु स्वरूप से समीकृत किया है। इस श्रौत पाशुपत मत का अतिमार्ग में समावेश नहीं किया जा सकता। ऊपर लकुलीश पाशुपत मत का जो स्वरूप बताया गया है, तदनुसार अतिमार्ग विभाग में उसी का समावेश हो सकता है। पुराणों में, विशेष कर शिवपुराण की वायवीयसंहिता और स्कन्दपुराण की सूतसंहिता में श्रौत पाशुपत मत का ही वर्णन है। इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि श्वेताश्वतर उपनिषत् में संदृब्ध है। शांकर मत के अनुसार यह परम्परा समय मत का अनुसरण करती है। ब्रह्मसूत्र एवं कूर्मपुराण आदि में जिसकी समालोचना हुई, वह लकुलीश पाशुपत मत हो सकता है। इस द्विप्रवाह शास्त्र को हम आजकल के शब्दों में दक्षिण मार्ग और वाम मार्ग के रूप में देख सकते हैं।

यह सब लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि तन्त्रों के आस्तिक-नास्तिक विभाग की नई कल्पना करने की हमें उसी तरह कोई आवश्यकता नहीं है, जैसे 'संस्कृति' शब्द के स्थान पर 'कृष्टि' जैसे शब्दों की कल्पना करना। संस्कृति शब्द प्रायः इसके वर्तमान अर्थ में ही शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता (७.१४) में प्रयुक्त है और विश्वभारती द्वारा गृहीत "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२.८) यह वाक्य भी वहीं का है। इसी प्रकार अतिमार्ग, मान्त्रिक आदि विभागों में सभी प्रकार के तन्त्रों का समावेश किया जा सकता है।

वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान नामक त्रिविध विभागों में बौद्ध तन्त्रों को बाँटा गया, किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिये कि कौल तन्त्रों और उनसे प्रभावित कश्मीर के शैव तन्त्रों में भी हमें ये त्रिविध उपादान उपलब्ध होते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने विशाल ग्रन्थ तन्त्रालोक के विभिन्न आह्निकों में कालोदय, चक्रोदय, वाम तन्त्र, कौल तन्त्र आदि की विविध पद्धतियों का जो वर्णन किया है, उनमें बौद्ध तन्त्रों के उक्त

६. पञ्चवक्त्राणि पञ्चब्रह्मलक्षणानि जटामुकुटधराणि। अत्र सद्यो वैरोचनः, वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (भा. २, पृ. १८६)।

विभागों के सभी विषय पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। समस्त तन्त्रों की आन्तर वरिवस्या (आध्यात्मिक उपासना) सहज स्थिति को ही उजागर करती है। यहाँ आकर दो स्थितियाँ बन जाती हैं— एक तो यह कि बाह्यपूजा की कोई आवश्यकता नहीं है, दूसरी यह कि बाह्य कर्मकाण्ड आप करें या न करें, यह तो आपकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु सहज रूप से जो कुछ आपसे बन सकता है, उसके साथ आप इस बात का ध्यान अवश्य रखें कि इससे आपका चित्त निर्मल हो रहा है या नहीं? आपका चित्त मलिनता को त्याग कर प्रभास्वरता की ओर बढ़ रहा है या नहीं? पूजा, जप, होम आदि बाह्य उपादानों से सहज रूप से भी यह संभव हो सकती है और इनकी आध्यात्मिक व्याख्या भी की गई है कि इनकी मानसिक भावना भी की जा सकती है।

बौद्ध तन्त्रों को क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर विभागों में भी बाँटा जाता है। शैवों और वैष्णवों का प्रत्येक आगम विद्या, क्रिया, योग और चर्चा नाम के चार पादों में विभक्त है। प्रत्येक पाद में किन-किन विषयों का निरूपण हुआ है, इसकी भी वहाँ स्पष्ट चर्चा है। इनका लक्षण सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह, सर्वात्मशंभु की सिद्धान्तप्रकाशिका आदि में देखा जा सकता है। इस तरह की स्पष्ट परिभाषा हमें बौद्ध तन्त्रों में नहीं मिलती। इस विषय का उल्लेख हमने "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" के नाम से प्रकाशित ग्रन्थ के अपने 'विहगावलोकन' ('धीः' अं. ११, पृ. १५९) में किया है। 'धीः' के अन्य विभिन्न अंकों और "भारतीय तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित बौद्ध तन्त्र सम्बन्धी पाँच निबन्धों एवं उन पर हुए विचार-विनिमय में भी इस चतुर्विध विभाग की विस्तार से चर्चा हुई है।

इन सबको देखने से हमें ऐसा लगता है कि बौद्ध तन्त्रों में इन चतुर्विध तन्त्रों की कोई सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं हो पाई है। पांचरात्र वैष्णव आगमों में पांचरात्र पद की नाना प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखने को मिलती हैं, किन्तु इन सबसे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वस्तुतः पांचरात्र पद की प्रथम प्रवृत्ति किस अर्थ में हुई थी। उसी तरह से यहाँ भी लग रहा है। एक स्थान पर तो हास, दर्शन, पाण्याप्ति जैसी क्रियाओं को भी चतुर्विध तन्त्रों से जोड़ दिया गया है, जो मूलतः केवल अनुत्तर तन्त्र से संबद्ध हो सकती हैं । पांचरात्र पद की नाना प्रकार की व्युत्पत्तियाँ इसलिये प्रचलित हुई हैं कि परवर्ती काल में मूलशास्त्र के प्रचलन में एक लम्बा व्यवधान पड़ गया। इसी तरह से यहाँ भी लगता है कि भोट देश में परवर्ती काल में क्रिया, चर्या आदि शब्दों का मूल अर्थ विस्मृत हो गया। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब उन-उन विभागों में संगृहीत तन्त्रों का गंभीर अध्ययन कर इनकी सीमा का निर्धारण किया जाय और इन शब्दों की निश्चित परिभाषा दी जाय। अभी तो हमें ऐसा लगता है कि कुछ

शैव और वैष्णव तन्त्रों की तरह यहाँ भी प्रत्येक विभाग के तन्त्र में क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर नामक सभी तन्त्रों के विषय उपलब्ध होते हैं।

अनुत्तर तन्त्रों के भी पितृ, मातृ और अद्वय नामक तीन विभाग किये जाते हैं। मृगेन्द्रागम (चर्या. १.३७-४१) में निर्दिष्ट योगिनीकौल और सिद्धकौल विभागों से और कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन से हम इनको समीकृत कर सकते हैं। हमें ऐसा लगता है कि बौद्ध अनुत्तर तन्त्रों की और कौल तन्त्रों की प्रकृति एक समान है। क्रिया, चर्या और योग तन्त्रों की तुलना हम समय मत का अनुसरण करने वाले वैष्णव, शैव, शाक्त तन्त्रों से कर सकते हैं। बाह्य और आन्तर उपासना के साथ कुण्डलिनी अथवा चण्डाली योग का भी समावेश यहाँ किया जा सकता है, सेक अथवा हठयोग का नहीं।

कौल तन्त्रों और बौद्ध अनुत्तर तन्त्रों में पूजा का एक चौथा प्रकार भी वर्णित है। यह है कायपूजा का। इसकी संक्षिप्त चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनका मानना है कि जब हम मूर्ति, मण्डल, पट, चक्र (यन्त्र) आदि में देवता का आवाहन और आराधन कर सकते हैं, तो इस चेतन मानव-देह में आत्मदेवता की उपासना क्यों नहीं कर सकते। कापालिकों की यह पूजा शरीर के नवद्वार से निर्गत द्रव्यों से होती है, जबकि कौल और अनुत्तर तन्त्रों में यह द्वादशरत्न, पंचरत्न, पंचप्रदीप, पंचमकार आदि उपादानों से सम्पन्न होती है। सारा ब्रह्माण्ड इस मानव शरीर में विद्यमान है, सभी देवता इसमें निवास करते हैं, एक ही जन्म में मुक्ति मिल सकती है, साधक को उन्मत्तव्रत का पालन करना चाहिये—इस तरह के सिद्धान्त लकुलीश पाशुपत मत, नाथ सम्प्रदाय और अवधूत सिद्ध जैसे शैवाचार्यों को भी मान्य थे।[७]गुह्यसिद्धि जैसे बौद्ध ग्रन्थों में भी इन सबका वर्णन मिलता है। प्रसंगवश यहाँ इतना बता देना जरूरी है कि गुह्यसिद्धि में शैवागम के ग्रन्थ कालोत्तर और निश्वाससंहिता का उल्लेख मिलता है।

कुण्डलिनी अथवा चण्डाली योग की प्रक्रिया भी सभी तन्त्रों में वर्णित है। चतुर्विध अथवा षड्विध[८] चक्रों; नवविध, द्वादशविध अथवा षोडशविध आधारों आदि

---

७. गुह्यसिद्धि (८.१२) में कालोत्तर और निश्वाससंहिता का स्मरण अपने सिद्धान्त की पुष्टि में किया गया है। ये दोनों ग्रन्थ सिद्धान्त शैवागम के अन्तर्गत आते हैं। कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त २८ आगमों को सिद्धान्तशास्त्र कहा जाता है। क्या इन सब शास्त्रों का, ३२ और ६४ भैरवागमों का, ६४ तन्त्रों का, १८ पुराणों, उपपुराणों और स्मृतियों का आविर्भाव एक साथ हुआ? डॉ. चिन्ताहरण चक्रवर्ती जी ने तथा लामा तारानाथ ने विभिन्न तन्त्रागमों के अवतारक आचार्यों को स्मरण किया है। कौलशास्त्र के अवतारक के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ तो प्रसिद्ध हैं ही। क्या हमें इस दृष्टि का विस्तार करने के लिये शास्त्रों में प्रमाण मिल सकते हैं?

८. अधिकांश बौद्ध तन्त्रों और सात्वतसंहिता (पांचरात्र) में भी चक्रों की संख्या चार बताई गई हैं। कालचक्रतन्त्र आदि बौद्ध तन्त्रों तथा अन्य शैव-शाक्त तन्त्रों में छः चक्रों का निरूपण हुआ है। कालचक्रतन्त्र के टीकाकार पुण्डरीक चक्रों की संख्या अठारह बताते हैं। योगिनीहृदय की दीपिका टीका में स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से ३२ चक्रों का उल्लेख किया गया है।

की संख्या आदि में और नामों में भिन्नता होने पर भी इसकी प्रक्रिया सर्वत्र समान है। वसन्ततिलक (१०.३०-३७) में वर्णित पद्धति की आप नित्याषोडशिकार्णव (४.१२-१६) में वर्णित प्रक्रिया से तुलना कर सकते हैं। प्रक्रिया के प्रतिपादन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की भिन्नता के रहते हुए भी, प्रस्तुत प्रक्रिया के द्वारा प्राप्तव्य परम लक्ष्य के नामों की भिन्नता दिखाई देने पर भी प्रक्रिया में हमें कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। इससे संबद्ध [९]नाड़ियों और [१०]वायुओं की संख्या, नाम आदि के विषय में भी इनमें समानता देखी जा सकती है।

चण्डाली योग द्वारा [११]वज्रदेह की निष्पत्ति बौद्ध तन्त्रों की अपनी विशेषता लगती है। ३७ बोधिपाक्षिक धर्म, आदर्श आदि पंचविध ज्ञान, चतुर्विध क्षण, चतुर्विध आनन्द, चतुर्विध योग, चतुर्विध मुद्रा, चतुर्विध काय आदि की विवेचना बौद्ध तन्त्रों की अनितर साधारण विशेषता है। इनकी कड़ियां हमें महायान साहित्य से जुड़ी लगती हैं। इष्टदेव के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन भी सभी तन्त्रों की अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार है। इतना सब होते हुए भी हम यह अवश्य कह सकते हैं कि तान्त्रिक धर्म और दर्शन ने सभी धर्मों, मतों और सम्प्रदायों में एकनीडता स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। इनमें विरोध मिटने लगे और आपस की समानता अधिक स्पष्ट होती गई। इस प्रसंग में चतुर्ब्रह्मविहार भावना का उल्लेख किया जा सकता है। पालि वाङ्मय के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्र (१.३३) और जैन

---

९. भारतीय योगशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के सभी ग्रन्थों में नाड़ियों की संख्या ७२ हजार बताई गई है। इनमें से दस, तीन और अन्ततः एक नाडी को प्रधानता दी गई है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना ही बौद्ध तन्त्रों में ललना, रसना और अवधूती कहलाती हैं। वसन्ततिलक आदि बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों की विवेचना करते हुए डाकिनियों के रूप में ३७ नाड़ियों का निरूपण किया गया है। वसन्ततिलक का सप्तम निर्देश तथा वहाँ का उपोद्घात (पृ. २३) देखिये। इस प्रकार का विवरण अन्यत्र अनुपलब्ध है।

१०. वायुओं की संख्या सर्वत्र पाँच अथवा दस ही मानी जाती है। योगिनीहृदयदीपिका जैसे ग्रन्थों (पृ. ३१७) में सोलह वायुओं का उल्लेख है। १४ वायुओं के नाम लिङ्गपुराण (१.८६.८३-८४) में उपलब्ध हैं। उनमें वसन्ततिलक (८.६) में उपलब्ध वैरंभ वायु का भी परिगणन है।

११. सारनाथ में सम्पन्न हुई भारतीय तन्त्रशास्त्र संबन्धी कार्यशाला के विवरण में समाविष्ट पितृतन्त्र-संबन्धी निबन्ध में, उस पर हुए विचार-विनिमय में और "मातृतन्त्र वर्णित वज्रदेह" शीर्षक निबन्ध में वज्रदेह का तथा उसमें स्थित नाड़ी, चक्र, वायु, तिलक, बिन्दु आदि का स्वरूप विस्तार से देखा जा सकता है। मनुष्य-देह की उत्पत्ति-प्रक्रिया पर भी यहाँ संक्षिप्त चर्चा मिलती है। हम कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की अन्य शाखाओं में भी यह सब किसी न किसी रूप में उपलब्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र (७.११) में भी इनका विवरण मिलता है। दार्शनिक क्षेत्र में भी यह प्रक्रिया सक्रिय रही है, किन्तु भारतीय दर्शनों का, विशेष कर तान्त्रिक दर्शन का आकलन अभी इस दृष्टि से नहीं हो पाया है।

षडंग[१२] योग का प्रतिपादन भी बौद्ध तन्त्रों की विशेषता माना जाता है। साथ ही [१३]सिद्धियों को भी बौद्ध और बौद्धेतर विभागों में बाँट दिया गया है। तन्त्रों के [१४]आस्तिक-नास्तिक जैसे विभागों की कल्पना कर-नास्तिक तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की विस्तार से चर्चा की जाती है। इन सबकी असारता पर हम पर्याप्त लिख चुके हैं। षडंग योग का प्रतिपादन शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी तन्त्रों में और उपनिषत्, पुराण, गीताभाष्य आदि में भी मिलता है। पातंजल योग के यम और नियम का तन्त्रों में दीक्षा के अवसर पर गुरु के द्वारा शिष्य को दिये जाने वाले समयों अथवा संवरों में अन्तर्भाव हो जाता है और आसन तान्त्रिक पूजा का मुख्य उपादान है। बाकी बचे पाँच योगांगों में बौद्ध तन्त्रों में अनुस्मृति का, शैव तन्त्रों में ऊह का, वैष्णव और पाशुपत मत में जप का और काश्मीर शैवागम में तर्क का समावेश कर योग के छः अंगों का सर्वत्र निरूपण किया जाता है। इनके लक्षण आदि में भिन्नता अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु इसका मूल ढाँचा सर्वत्र समान है। म. म. पी. वी. काणे के षडंगयोग-विषयक मत की समालोचना हम [१५]अन्यत्र कर चुके हैं।

बौद्ध तन्त्रों में खड्ग, अंजन, पादलेप आदि आठ सिद्धियों का उल्लेख मिलता है। वसन्ततिलक (९.९, १०.३८) में भी इनका वर्णन है। टीकाकार (पृ. ७४) ने इनके स्वरूप को स्पष्ट किया है। इनको बौद्ध सिद्धि माना गया है और अणिमा आदि का समावेश बौद्धेतर सिद्धियों में किया जाता है, किन्तु हम देखते हैं कि नित्याषोडशिकार्णव जैसे प्राचीन शाक्त तन्त्रों और शक्तिसंगम जैसे अर्वाचीन तन्त्रों में भी इनका उल्लेख मिलता है। इसी तरह से अणिमा आदि सिद्धियों का वर्णन बौद्ध तन्त्रों में भी है। वसन्ततिलक के टीकाकार ने उक्त स्थल (पृ. ७४) पर सिद्धियों का लौकिक और लोकोत्तर विभाग किया है। तदनुसार खड्ग, अंजन आदि का लौकिक विभाग में और अणिमा आदि का लोकोत्तर विभाग में समावेश कर सकते हैं। अन्ततः हम कह सकते

---

१२. षडंग योग के विषय में नित्याषोडशिकार्णव का उपोद्घात (पृ. ११७-११९) देखें।

१३. विभिन्न सिद्धियों की विवेचना शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ८६-८७) में देखी जा सकती है।

१४. तन्त्रों के आस्तिक-नास्तिक विभाग की और उन पर विदेशी प्रभाव की समीक्षा ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ६-९) में देखिये।

१५. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. १८ की २ टिप्पणी देखिये।

हैं कि तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में प्रधानतः लौकिक सिद्धियों का तथा योगशास्त्र की सभी शाखाओं में लोकोत्तर सिद्धियों का विशेष रूप से निरूपण हुआ है।

इसी प्रसंग में बौद्धेतर तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव को भी बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है। हमने शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २०-२१) में तन्त्रों के प्राचीन और अर्वाचीन विभागों की चर्चा की है। अभिनवगुप्त के पहले विद्यमान तन्त्रों का प्राचीन विभाग में और उनके बाद के तन्त्रों का अर्वाचीन विभाग में समावेश होगा। अर्वाचीन विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव को दिखाया जा सकता है, किन्तु प्राचीन विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों पर इस प्रकार का कोई प्रभाव नहीं खोजा जा सकता। यहाँ तो हमें विपरीत स्थिति दिखाई पड़ती है। गुह्यसिद्धि (८.१२) में कालोत्तर और निश्वाससंहिता के उल्लेख की चर्चा हम कर चुके हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रज्ञापारमिता शास्त्र की तरह श्लोकसंख्या के आधार पर कालोत्तरागम के भी १३ प्रकार के संस्करण मिलते हैं। ***हमारी निश्चित धारणा है कि हीनयान का तत्कालीन वैदिक साहित्य और महाभारत के साथ, महायान का आगम और पुराण साहित्य के साथ और वज्रयान का अनुशीलन कौल तन्त्रों के साथ ऐतिहासिक तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति से किया जाना चाहिये।***

वैदिक पद के स्थान पर ब्राह्मण पद का प्रयोग भ्रामक है। ध्यान से देखेंगे तो हम पावेंगे कि सभी मतों के महनीय ग्रन्थों के रचयिता ब्राह्मण ही हैं। भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में ***आर्य-द्रविड़, श्रमण-ब्राह्मण, हिन्दु-मुसलमान जैसे शब्द परस्पर के विग्रह को बढ़ाने वाले हैं। आगम-तन्त्रशास्त्र ने और उनसे अनुप्राणित सिद्धों, नाथों और संतों की लम्बी परम्परा ने सभी तरह के भेदों को मिटाकर जो सौहार्द का वातावरण बनाया है, वह मिटने न पावे, इस तरफ से हमें सजग रहना है। इसी अभिप्राय से हमने इस पूरे ग्रन्थ में हिन्दु शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का उद्घोष करते-करते हम स्वयं हिन्दु बनकर रह गये हैं, जो अपने ही देश में पराजित और अपमानित जाति के रूप में हमारे ऊपर थोपा गया शब्द है।***

तन्त्रशास्त्र के, विशेष कर शैवागम के ग्रन्थों में शास्त्रों के लौकिक, वैदिक आदि पाँच विभागों की ऊपर चर्चा आई है। तन्त्रों के आस्तिक-नास्तिक नामक काल्पनिक विभागों की अपेक्षा हमें इस शास्त्रीय विभाजन को वरीयता देनी चाहिये। तदनुसार कौल प्रकृति के तन्त्रों का हम [१६]अतिमार्ग विभाग में समावेश कर सकते हैं।

---

१६. स्वच्छन्दतन्त्र में अतिमार्ग और अतिमार्गी का लक्षण इस प्रकार बताया गया है— "अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम्। लोकातीतं तु यज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम्।। लोकाश्च पशवः प्रोक्ताः सृष्टिसंहारकर्मणि। तेषामतीतास्ते ज्ञेया येऽतिमार्गे व्यवस्थिताः।।" (११.१८२-१८३)।

आतिमार्गिक तन्त्रों के इस स्वरूप को देखते हुए हमें इन पर बाहरी प्रभाव की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्रों के चतुर्दश विद्यास्थान और पंचविध विद्यास्थान की चर्चा [१७]वसन्ततिलक की टीका में परयूथ्य और स्वयूथ्य विभाग के नाम से हुई है। सिद्धान्तप्रकाशिका की प्रस्तावना में हमने इन सबकी तुलनात्मक समीक्षा की है।

मातृका, मालिनी और भूतलिपि का तथा मन्त्र और मुद्रा का विशेष विवरण हमारे नि.षो. के उपोद्घात (पृ. ६२-७८) में देखा जा सकता है। बौद्ध तन्त्रों में स्वरव्यंजनात्मक मातृका का विभाजन आलि और कालि के रूप में किया जाता है। अन्यत्र इनको बीज और योनि कहा जाता है। मन्त्रों के हृदय, उपहृदय आदि विभाग बौद्ध तन्त्रों की विशेषता है। परवर्ती काल में प्रादुर्भूत अन्य तन्त्रों में भी इनको स्थान मिला। तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र के ग्रन्थों में [१८]मुद्रा शब्द का प्रयोग अनेकविध अर्थों में हुआ है। इनमें चतुर्विध मुद्राओं का निरूपण बौद्ध तन्त्रों की अपनी विशेषता है। अद्वयवज्रसंग्रह में समाविष्ट चतुर्मुद्राप्रकरण अद्वयवज्र का न होकर नागार्जुन का है। चतुर्विध मुद्राओं का विशद परिचय वहाँ देखा जा सकता है।

पीठ, उपपीठ आदि की भी संक्षिप्त चर्चा नि.षो. के उपोद्घात (पृ. ७८–८३) में देखी जा सकती है। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित पीठ, उपपीठ आदि का विशेष परिचय 'धीः' के १, ३, १०-११ अंकों में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्रों में पीठोपपीठादि का विवेचन" शीर्षक निबन्ध से प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य पीठों के साथ आन्तर पीठों की चर्चा

---

१७. वसन्ततिलकानाम साधनोपायिका, सव्याख्या पृ. ७२ देखिये। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९०.

१८. मुद्रा शब्द का निर्वचन, मुद्रा का प्रयोजन, बौद्ध तन्त्रों में चार अर्थों में मुद्रा शब्द का प्रयोग आदि विषय 'धीः' के प्रथम अंक में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्रों की कुछ मुद्राएँ" शीर्षक निबन्ध (पृ. ११३-१५) में निबद्ध हैं। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी-परिमल में मुद्रा पद का यह अर्थ किया है—"मुद्रा स्वात्मनः परमेश्वरत्वोपपादनाय शरीरं प्रति कल्प्यमानः करचरणादिसन्निवेशविशेषो वेशधारणविशेषश्च। महती तु मुद्रा पर्यन्ततो रावे (विमर्शे) एवान्तर्भवति" (पृ. १०६)। यहाँ स्थित महामुद्रा का लक्षण बौद्ध तन्त्रों में वर्णित चतुर्विध मुद्राओं में अन्तिम महामुद्रा के स्वरूप से और वेशधारण वाला लक्षण कर्णिका, रुचक आदि पाशुपत और बौद्ध षड्विध मुद्राओं से भिन्न नहीं है। हठयोगप्रदीपिका के तृतीय उपदेश में वर्णित महामुद्रा, महाबन्ध आदि १० मुद्राओं पर तथा द्विविध अथवा त्रिविध खेचरी मुद्राओं पर भी महेश्वरानन्द का उक्त लक्षण लागू होगा। मुद्रा संबन्धी विशेष विवरण नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. ७५-७८) में देखिये।

कौल और बौद्ध तन्त्रों में भी मिलती है। बौद्ध तन्त्रों में [१९]चार प्रधान पीठों के साथ २४ तथा ३२ पीठों का विवरण विशेष रूप से मिलता है। हेवज्रतन्त्र के अतिरिक्त चक्रसंवर आदि सभी तन्त्रों में २४ पीठों[२०] का ही निरूपण हुआ है। शाक्त [२१]तन्त्रों में ५१, शारदातिलक में ६४ तथा पुराणों में पीठों की [२२]संख्या १०८ बताई गई है। इनके नाम, स्थान आदि का विवरण भी वहाँ मिलता है।

यहाँ इन सब विषयों की सप्रमाण चर्चा इसलिये की गई है कि इनका निरूपण आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में हुआ है, यह स्थापित हो सके। प्रस्तुत निबन्ध के प्रारम्भ में निगम और आगम पदों का उल्लेख भी साभिप्राय है। इन दोनों शब्दों की अभिनवगुप्त-संमत व्युत्पत्तियों का विस्तृत विवरण हमारे संस्कृत निबन्धों के "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" नामक द्वितीय संग्रह में समाविष्ट "पुराणानां नूनमागमानुवर्तित्वम्" शीर्षक निबन्ध (पृ. १०७-१०८) में दिया गया है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि भगवान् बुद्ध और कपिल मुनि के वचनों का भी आगम में अन्तर्भाव होगा। इस व्याख्या के अनुसार त्रैवर्णिकविषय वाङ्मय का निगम में और सर्ववर्णविषयक सारे भारतीय वाङ्मय का आगम में समावेश हो सकेगा।

वाराहीतन्त्र के माने जाने वाले दो श्लोकों के आधार पर शिवोपदिष्ट शास्त्र को आगम तथा देव्युपदिष्ट शास्त्र को निगम बताया जाता है। इस विषय की भी हमने उक्त निबन्ध (पृ. १०८) में ही समालोचना की है। कश्मीर के शाक्त क्रम-दर्शन के शास्त्रों की उपदेष्ट्री भगवती है, किन्तु वे सब शास्त्र आगम विभाग में ही समाविष्ट हैं। कलकत्ता से प्रकाशित कुलचूडामणि के साथ निगम पद जोड़ा गया है, किन्तु हमें यह

---

१९. कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओडियान नामक चार पीठों की चर्चा प्रायः तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में मिलती है। साधनमाला (पृ. ४५३, ४५५) में जालन्धर के स्थान पर श्रीहट्ट (सिलहट) की गणना की गई है। बौद्ध वाङ्मय में 'चतुष्पीठ' नामक एक तन्त्र-ग्रन्थ भी उपलब्ध है। वहाँ उनके आत्म, पर, योग और तत्त्व नाम दिये गये हैं। इनका उपर्युक्त चार पीठों से कोई संबन्ध नहीं है। ये तो इस तन्त्र के चार प्रकरणों के नाम हैं।

२०. इन चौबीस पीठों और हेवज्रतन्त्र में वर्णित बत्तीस पीठों का विशेष परिचय 'धीः' के प्रथम अंक में प्रकाशित "बौद्ध तन्त्रों में पीठोपपीठादि का विवेचन" (१३७-१४८) शीर्षक निबन्ध से प्राप्त कीजिये।

२१. शाक्त तन्त्रों में वर्णित ५१ पीठों का विस्तार से परिचय डॉ. डी.सी. सरकार के ग्रन्थ "शाक्त पीठाज्" से प्राप्त किया जा सकता है। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९४८.

२२. पुराणों में वर्णित १०८ बाह्य पीठों और कुछ आन्तर पीठों के परिचय के लिये उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ से प्रकाशित "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के एकादश तन्त्रागम खंड में समाविष्ट "पुराणगत योग एवं तन्त्र" शीर्षक निबन्ध का अन्तिम भाग देखिये।

स्मरण रखना है कि अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने अपनी शिवसूत्रविमर्शिनी में कुलचूडामणि के जिन वचनों को उद्धृत किया है, वे इस संस्करण में उपलब्ध नहीं हैं। अतः हमे यह मानना पड़ेगा कि अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती साहित्य में इस नवीन परिभाषा का कहीं उल्लेख नहीं है।

इन पंक्तियों के लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि के कल्पित कालविभागों में बाँट कर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभागों को सत्य की खोज में बाधक नहीं बनने देना चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रविष्ट हो गई हैं।

भगवान् शिव के द्वारा काम के दहन की और भगवान् बुद्ध के द्वारा मार पर विजय प्राप्त करने की कथाओं से हम सब परिचित हैं। महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव में और महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित में इन कथाओं को अतीव प्रभावोत्पादक रूप में अद्भुत रस का संचार कराते हुए हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मन में प्रश्न उठता है कि काम को दग्ध कर देने वाला और मार पर विजय प्राप्त करने वाला यह समाज एकाएक काम के मोहजाल में कैसे फंस गया? रामायण, महाभारत, पुराण आदि में संगृहीत आख्यानों में हम पढ़ते हैं कि थोड़ी सी असावधानी के कारण अनेक महान् तपस्वी तपस्या से च्युत हो गये हैं। रागवृत्ति की प्रबलता ही इसमें कारण हो सकती है। इन उद्दाम वृत्तियों के दमन के स्थान पर यदि इनके उपशमन का उपाय किया जाय, तो मानव के लिये वह अधिक हितकर होगा, यही मनोवृत्ति इस परिवर्तन के मूल में छिपी लगती है। श्रुति कहती है— "यन्मनुरवदत् तद्भेषजम्"। और मनु कहते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषां भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। (५.५६)

मनु की उक्ति भेषज (औषध) क्यों है? इसका रहस्य "निवृत्तिस्तु महाफला" में छिपा हुआ है। "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः" रामायण में भगवान् श्री रामभद्र की इस उक्ति के अनुसार मद्य, मांस आदि में अनुरक्त जीवों के भी उद्धार के लिये इस नयी दृष्टि का उन्मेष हुआ, ऐसा हम मान सकते हैं। राग का प्रशमन ही इसका

लक्ष्य हो सकता है, उसमें लिप्तता नहीं। आज तो यशस्तिलकचम्पू में उद्धृत [२३]नीलपट की यह उक्ति सर्वत्र चरितार्थ हो रही है—

स्त्रीमुद्रां झषकेतनस्य महतीं सर्वार्थसम्पत्करीं
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिणः।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं मुण्डीकृता लुञ्चिताः
केचित् पञ्चशिखीकृताश्च जटिनः कापालिकाश्चापरे।।
(य. च., भा.२, पृ. २५२)

२३. कूर्मपुराण के श्राद्धप्रकरण (२.२२.३५) में नील एवं काषाय रंग का वस्त्र पहनने वालों और पाखण्डियों को निमन्त्रण के अयोग्य बताया है। साथ ही वहाँ (२.३३.६०) यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण नीला और लाल रंग का वस्त्र पहन लेने पर पंचगव्य के प्राशन से शुद्ध होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने "पुरातत्त्व निबन्धावली" (पृ. १०९-१३०) में वज्रयान की उत्पत्ति के प्रसंग में नीलपट-दर्शन की चर्चा की है। सोमदेव नीलपट के एक श्लोक को उद्धृत करते हैं। निबन्ध के अन्त में उसे देखा जा सकता है। डॉ. कृष्णकान्त हांडीकी "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर" (पृ. ४४१) में सदुक्तिकर्णामृत से संगृहीत नीलपट के दूसरे श्लोक का उदाहरण देते हैं। वहीं वे भर्तृहरि के एक श्लोक को भी उद्धृत करते हैं। इन सबका अभिप्राय एक सरीखा है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने नीलपट-दर्शन विषयक जिस घटना की चर्चा की है, उसका काल ५१५-५२४ ई. बताया गया है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने कौल मत के प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ का काल भी इसीके आसपास माना है।

तान्त्रिक शोध का भविष्य

सन् १९८७ में हालैण्ड (नीदरलैण्ड) की विद्यानगरी लीडेन में विश्व संस्कृत संमेलन के सप्तम अधिवेशन के अवसर पर सम्पन्न हुई तन्त्रशास्त्र-संबन्धी कार्यशाला में हमने "तन्त्रशास्त्राणां सामयिक उपयोगः" शीर्षक निबन्ध पढा था। "दि युटिलिटी आफ तन्त्राज इन मोडर्न टाइम्स" शीर्षक से उसका अंग्रेजी अनुवाद वहीं से प्रकाशित "दी संस्कृत ट्रेडीशन एण्ड तान्त्रिज्म" शीर्षक ग्रन्थ (पृ. ३२-४२) में छप चुका है। इस निबन्ध का मूल संस्कृत स्वरूप "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" शीर्षक हमारे निबन्ध-संग्रह में (पृ. १४०-१५०) समाविष्ट है।

इस निबन्ध के उपसंहार में हमने बताया था कि तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन एक विश्वसंस्कृति के निर्माण में सहायक हो सकता है। अखण्ड भारतीय संस्कृति का तभी विकास हो सकता है। राज्य, राष्ट्र, भाषा, जाति, सम्प्रदाय आदि में विभक्त मानव तभी संघबद्ध होकर 'संभूय-समुत्थान' करता हुआ विश्व को शान्ति का संदेश दे सकता है। इसके लिये प्रथम आवश्यकता यह है कि राष्ट्रों के विभाजन की प्रक्रिया रुके, छोटे-छोटे राष्ट्र परस्पर संघबद्ध हों।

इस पर एक भारतीय विद्वान् ने ही टिप्पणी की थी कि इसमें भारतीय दृष्टि को अधिक मान्यता दी गई है, इसको अन्य धर्मावलम्बी स्वीकार नहीं करेंगे। इस पर हमारा इतना ही निवेदन है कि पराजित जाति की दुर्बल मानसिकता ही इसमें छिपी हुई है। लगता है, उस विद्वान् ने धार्मिक पृष्ठभूमि में इस निबन्ध को देखा, जबकि निबन्ध की पृष्ठभूमि धार्मिक नहीं, सांस्कृतिक थी। धर्म और संस्कृति के भेद को बिना समझे यह टिप्पणी की गई थी। हालैण्ड के ही तन्त्रागमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. जे. गोण्डा ने "चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन" नामक ग्रन्थ लिखा था। इसमें 'कन्टीन्युइटी' धर्म का तथा 'चेंज' संस्कृति का भाग है। हमारी अभी हाल में प्रकाशित पुस्तक "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (३.३५)

भगवान् श्रीकृष्ण के इस वचन को पूरी तरह से मान्यता देते हुए भी मानवजाति एक विश्वसंस्कृति की ओर बढ़ सकती है और इस अध्यात्मप्रवण विश्वसंस्कृति के निर्माण में तन्त्रशास्त्र का विशेष अवदान रहेगा, क्योंकि इसमें वर्ण-वर्ग-जातिविहीन समस्त मानवता की हितकामना निहित है। आधुनिक विज्ञान इस

कार्य को नहीं कर सकता, क्योंकि यह बाह्य स्थूल अथवा सूक्ष्म भौतिक विश्व तक ही सीमित है, भीतर झाँकने की इसमें सामर्थ्य नहीं है। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नात्मरात्मन्" उपनिषत् का यह वचन प्रसिद्ध है। वर्गविद्वेष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित आधुनिक मतवाद भी इस कार्य को नहीं कर सकते। इसके विपरीत उपनिषदों से लेकर तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में विकसमान भारत का अध्यात्मप्रवण दर्शन मानव-मन की गुत्थियों को सुलझाने में निरन्तर सचेष्ट रहा है और अब भी मानवजाति के मानसिक विकास में, सांस्कृतिक धरातल पर पूरी तरह से उसे परिष्कृत करने में सर्वाधिक सहायक हो सकता है।

तिब्बती संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह में आठ बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इसकी प्रस्तावना में हमने लिखा था कि तन्त्रशास्त्र का उद्देश्य कोई सामाजिक उच्छृंखलता फैलाना नहीं है। इसका उद्देश्य मानवमात्र को चित्त की प्रभास्वरता का अधिकार देना है। कोई भी मानव चाहे उसका खान-पान, रहन-सहन कैसा भी क्यों न हो, बिना रोट-टोक के, बिना किसी प्रकार की आशंका के इस मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। व्यक्ति गलती करता रहता है, किन्तु इसके कारण वह सदा-सदा के लिये पतित नहीं हो जाता। सामाजिक मान्यताएं भी समय-समय पर बदलती रहती हैं, किन्तु विज्ञान के मोह में पड़ कर कर हमें चित्त की मलिनता को बढ़ाने वाली नई मान्यताओं से दूर ही रहना होगा।

अध्यात्म और विज्ञान के क्षेत्र का परिसीमन कर लेना हमारे लिये आवश्यक है। विज्ञान इस बाहरी विश्व का निरीक्षण करता है, वह भीतर कभी नहीं झाँकता। इसके विपरीत अध्यात्म अपने को भीतर ही बन्द कर लेता है, वह बाहर झाँकने की चेष्टा नहीं करता। तन्त्रशास्त्र ने अध्यात्म को बाहर लाने की चेष्टा की है, मानवमात्र को अध्यात्म का अधिकारी माना है और विभिन्न धर्मों में सामंजस्य बैठाने का भी स्तुत्य प्रयास किया है। विज्ञान को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने का काम भी वही कर सकता है। विज्ञान को भी चित्त की प्रभास्वरता के दर्शन हों, यह आवश्यक है। अन्यथा चित्त की मलिनता से जुड़ा यह विज्ञान सब कुछ भस्म कर देगा।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इसको कालातीत तत्त्वों को छोड़ देने में और नये आवश्यक उपादानों को ग्रहण करने में कोई परहेज नहीं है। चाणक्य की दृष्टि से मानवजाति का 'संभूय-समुत्थान' तभी संभव हो सकता है, मानव-मानव में आपस में "परस्परदेवो भव" की भावना का विकास तभी संभव है, तभी परिमित प्रमाता पूर्णाहन्ता (विश्वाहन्ता) की ओर बढ़ सकता है।

तान्त्रिक दृष्टि केवल अध्यात्म तक ही सीमित नहीं है, भोग और मोक्ष दोनों इसकी परिधि में आते हैं। वैशेषिक दर्शन में अभ्युदय और निःश्रेयस के नाम से इन्हीं

का प्रतिपादन हुआ है। रागात्मिका वृत्ति का प्रशमन भी इसमें समाविष्ट है। अभ्युदय ऐहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। इन दोनों प्रकार के भोगों से विरत व्यक्ति ही निःश्रेयस का, मोक्ष का अधिकारी बनता है। मोक्ष की प्राप्ति वर्तमान शरीर के छूटने के उपरान्त ही होगी, ऐसी दार्शनिकों की मान्यता है, किन्तु जीवन्मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले दर्शन, विशेष कर तान्त्रिक दर्शन, इसी जन्म में मुक्ति की प्राप्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" भगवद्गीता के इस सिद्धान्त के विपरीत तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं में एक ही जन्म में मुक्ति की बात स्वीकार की गई है। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह पौराणिक सिद्धान्त भी एक ही जन्म में मुक्ति की तान्त्रिक मान्यता को स्वीकार करता है, जिसकी चर्चा अपश्चिम जन्म के रूप में तन्त्रशास्त्रों में हुई है।

इस विषय पर सारनाथ में हुई तन्त्रशास्त्र से संबद्ध अखिल भारतीय गोष्ठी के वहीं से "भारतीय तन्त्रशास्त्र" के नाम से प्रकाशित विवरण में सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विचार-विनिमय के प्रसंग में पर्याप्त सामग्री संकलित हुई है। उसी पृष्ठभूमि में हम तान्त्रिक शोध को नया आयाम दे सकते हैं। हमारी दृष्टि में इसमें दो प्रमुख बाधाएँ सम्प्रति उपस्थित हैं। इनको दूर करने देने पर ही तान्त्रिक शोध का उज्ज्वल पक्ष सामने आ सकता है।

ये दो बाधाएँ दो शब्दों के रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। इनमें से एक है हिन्दु शब्द और दूसरा है धर्मनिरपेक्षता। हिन्दु शब्द हमारा अपना नहीं है। यह हम पर थोपा गया है। सिन्धु नदी के इस पार तो सारी भारतीय प्रजा बसी हुई है। क्या उन सबका बोध इस शब्द से होता है? इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म की बात तो दूर, बौद्ध जैन, पारसी और सिक्ख धर्म को भी इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। यह शब्द उस जाति का बोधक हो गया है, जो एक हजार वर्ष तक पराधीनता को झेलती रही। इसी तरह से धर्मनिरपेक्षता 'सेक्युलर' शब्द का भौड़ा नहीं, असांस्कृतिक अनुवाद है। भारतीय संस्कृति में धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम को ही मान्यता दी गई है। कुछ लोग इसको जानते हैं और उसके स्थान पर सम्प्रदाय-निरपेक्षता, पन्थ-निरपेक्षता जैसे शब्दों को हमारे सामने परोसते हैं। लेकिन निरपेक्षता शब्द उनका पिण्ड नहीं छोड़ता। 'सेक्युलर' एक शब्द है और उसका अनुवाद दो शब्दों में किया गया है। यदि हम सही अनुवाद करने में असमर्थ हो गये हैं, तो मूल रूप से उसी शब्द को क्यों नहीं ग्रहण कर लेते?

इन दोनों शब्दों के आधार पर आज भारतीय राजनीति दो खेमों में बँट गई है। भारतीय संस्कृति को पश्चिमी चश्मे से देखने वाले सेक्युलरिस्ट अपने को प्रगतिशील मानते हैं और पूरी भारतीय परम्परा का अनुवर्तन करने वाले इनकी दृष्टि

में प्रतिगामी हैं। आश्चर्य तब होता है, जब दुनिया के सबसे पिछड़े संकीर्ण दृष्टिकोण के पक्षधर अपने को सेक्युलरिस्ट कहते हैं और सबसे उदार पक्ष के अनुयायी साम्प्रदायिक कहलाते हैं।

जान-बूझ कर अथवा अनजाने में फैलाया गया भ्रम इसका एक कारण हो सकता है। इस भ्रम की पृष्ठभूमि में आगम-तन्त्रशास्त्र की उपेक्षा कार्य कर रही है। आज के प्रबुद्ध भारतीय चिन्तक को यह पढ़ाया गया है कि तथाकथित हिन्दु धर्म ब्राह्मणवाद और मनुवाद पर टिका हुआ है। वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त और सन्त परम्परा से ही नहीं, साम्प्रतिक सुधारवादी आन्दोलनों के पुरोधा स्वामी विवेकानन्द, योगी अरविन्द, महात्मा गांधी जैसे चिन्तकों के अवदानों से भी यह अनुप्राणित है, इसको भुला दिया गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र ने मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है। सन्त कबीर, रविदास, गुरु नानक आदि इसी परम्परा से अनुप्राणित हैं। "जात-पात पूँछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" यह उसका आदर्श-वाक्य है और पूरे भारत की विभिन्न भाषाओं के सन्त-साहित्य में इसीकी गूँज है। आज पूरे विश्व को यह संदेश सुनाने की जरूरत है कि भारतीय संस्कृति इस पूरी परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है, केवल ब्राह्मण परम्परा का नहीं।

ऐसी स्थिति में क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि राजनीति में भी अस्पृश्यता को पनपाने वाले और बाह्य संकीर्णता-प्रधान अपसंस्कृति को प्रश्रय देने वाले आज प्रगतिशील होने का दंभ भरते हैं।

अन्त में हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि तन्त्रशास्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर रहेगा कि इस शास्त्र पर जो आक्षेप लगते रहे हैं या वर्तमान में लगाये जा रहे हैं, उनका सचेत अध्ययन कर उनके निवारण का प्रयत्न किया जाय और उसके उज्ज्वल पक्ष को आज के विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। जितनी ईमानदारी से, जितनी तत्परता से, जितनी तीव्रता से यह कार्य किया जायगा, उतनी ही उज्ज्वलता इसमें आ सकेगी।

आइये, हम सब मिलकर इन अवरोधों को दूर कर एक अखण्ड संस्कृति के और अन्ततः विश्व-संस्कृति के निर्माण में अपना योगदान करने की प्रतिज्ञा करें। यह तभी संभव हो सकता है, जब इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म अपने संकीर्ण दृष्टिकोण का परित्याग कर, धर्म-परिवर्तन की अवांछनीय प्रक्रिया को बन्द कर, समस्त जागतिक मतवादों में भारतीय समन्वय प्रक्रिया के आधार पर सहिष्णुता की भावना को जगा सकें।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण अपेक्षित

हम अनेक बार लिख चुके हैं कि अयोध्या में राममन्दिर का मसला धर्म से न जुड़कर संस्कृति से जुड़ा हुआ है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण की यह एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होगी, जब तक मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा बर्बाद किये गये सभी धार्मिक स्थल अपने पूर्व रूप में नहीं आ जाते, उन अतिक्रमणों को हटा नहीं दिया जाता। इसमें मस्जिदों को नष्ट करने का कोई प्रसंग नहीं है। यह तो तब उठता, जब स्वतन्त्र रूप से बनाई गई किसी मस्जिद को क्षति पहुँचाई जाती। भारत की अधिसंख्य प्रजा का ऐसा कोई संकल्प नहीं है, क्योंकि उसमें हजारों वर्षों से सर्वधर्म-समादर की भावना जो भरी गई है। इधर जो अन्यथा देखा जा रहा है, वह सब इस्लाम के प्रभाव के हावी हो जाने की वजह से है।

भारत में भावात्मक एकता की स्थापना के लिये ढेर सारे लोगों की एकता परिषद् बनाई गई है, किन्तु इसका कार्य सर्वधर्म-समादर की स्थापना के स्थान पर पूरे देश को धर्मविहीन बनाने का होरहा है। धर्म को अफीम मानने वालों की इसमें बहुतायत है। रूस की परिणति को देखने के बाद भी इनकी आँखें नहीं खुली हैं और न ये भारतीय धर्म के स्वरूप को ही समझ पाये हैं, जो भारतीय संस्कृति में स्वीकृत चार पुरुषार्थों में से एक है। धर्म को ही बाकी तीन पुरुषार्थों का प्रधान आधार माना गया है। इसके अभाव में आज धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज अर्थ और काम की अन्धी दौड़ में सारी दुनिया से बाजी मार लेने में लगा हुआ है। इस एकता परिषद् का हश्र उस जंगली जानवर के जैसा होकर रह गया है, जो बस्तियों से बहुत दूर नहीं रहता और एक के बोलने के साथ ही चारों तरफ से एक-सी आवाज निकालने में जुट जाता है। केवल एकता परिषद् का ही नहीं, अंग्रेजी पत्रकारिता का भी दुर्भाग्य इसके साथ जुट गया है। कम्युनिस्टों का तो भारतीय संस्कृति से कुछ लेना-देना है ही नहीं। वाराणसी की एक गोष्ठी में ऐसे ही एक महानुभाव भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उम्र मात्र १००-१५० वर्ष आँक सके थे।

यह तथाकथित एकता परिषद् कुछ लोगों को भुलावे में अवश्य डाल सकती है, किन्तु यह अपने मूल उद्देश्य, भावात्मक एकता को कभी प्राप्त नहीं कर सकती। अंग्रेजों के जाने के साथ अंग्रेजियत को हटाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु अब वह दिन-दूनी, रात-चौगुनी गति से यहाँ पनप रही है। भारतरत्न डॉ. भगवान् दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, मनीषिप्रवर डॉ. सम्पूर्णानन्द, पद्मविभूषण प्रो.

राजाराम शास्त्री जैसा भारतीय संस्कृति का पोषक नेतृवृन्द समाप्त हो गया है और अब युवातुर्कों का सर्वत्र बोलबाला हो गया है, जो अब्दुल्ला बुखारी और शहाबुद्दीन जैसे अराष्ट्रीय अल्पसंख्यक नेतृत्व को बढ़ावा दे रहे हैं।

पाकिस्तानी छद्मनीति की यह विशेषता रही है कि वह शरारत तो अपनी तरफ से शुरू करती है, किन्तु सारी दुनिया में वह यह प्रचारित करने में सफल हो जाती है कि भारत हमारे खिलाफ बेवजह गलत कदम उठा रहा है। ठीक इसी तरह का आचरण इन तथाकथित अल्पसंख्यक नेताओं का भी है। सारे राजनीतिक दल ऐसे ही लोगों को आगे बढ़ा रहे हैं और राष्ट्रीय विचारों के वाहक अल्पसंख्यक नेताओं को पूछने वाला कोई नहीं है। तुर्रा यह है कि "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे" वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए ये सब तथाकथित नेतागण राष्ट्रीय विचारों के अग्रदूतों को ही भारत में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ सिद्ध करने में सफल हो रहे हैं। राजनीतिक दलों के अतिरिक्त अंग्रेजी पत्रकारिता भी इन्हीं का साथ दे रही है। अंग्रेजों के छल-छद्म से भरे आचरण ने देश का विभाजन किया। अब अंग्रेजियत के दासों की करतूतों से पुनः देश अनेक टुकड़ों में बँट सकता है। आश्चर्य यह है कि पाकिस्तानी प्रचार के समान इनका लक्ष्य वे हो गये हैं, जो जी-जान से भारत राष्ट्र की एकता के पोषक हैं।

एक हजार वर्षों से साथ रहते हुए भी हम अल्पसंख्यकों को सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ा सके, मुल्ला-मौलबियों और इमामों के फतवों से इनको छुड़ा नहीं पाये। आज भारत का अल्पसंख्यक समाज भी ईरान के खोमेनी और ईराक के सद्दाम जैसे मध्यकालीन बर्बरता के प्रतीक नेताओं के खूनी पंजों में फँसा हुआ है। इसके उद्धार की अपेक्षा है, इससे सीधे सम्पर्क साधने की अपेक्षा है। अल्पसंख्यक नेतृवृन्द अपने भूतकालीन शासकीय स्वरूप को और उसके प्रतीक स्थान-स्थान पर किये गये अतिक्रमणों को सामने रखकर अल्पसंख्यकों को भरमाने में लगा रहता है। बहुसंख्यकों के त्यौहारों के अवसर पर अशान्ति पैदा करके वह इस मनोवृत्ति को सदा-सदा के लिये जिलाये रखना चाहता है। एकता परिषद् को इस मूल समस्या पर विचार करना चाहिये था, किन्तु ये अल्पसंख्यक नेतृवृन्द को छेड़ने से कतराते हैं और इनका सारा उपदेश बहुसंख्यकों तक ही सिमट कर रहा जाता है। क्या ऐसी बुजदिल एकता परिषद् भारत में कभी भावात्मक एकता को स्थापित करने में समर्थ हो सकेगी?

भारत की स्वतन्त्रता के बाद सरदार पटेल का सारा प्रयत्न इस राष्ट्र को जोड़ने में लगा था। इसके विपरीत, श्री लालबहादुर शास्त्री को छोड़, पं. नेहरू की और उनके अन्य उत्तराधिकारियों की प्रवृत्ति जाने-अनजाने इस देश को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी दुर्बल करती रही है। इसीका परिणाम कश्मीर और तिब्बत की समस्या और राष्ट्र के चारित्रिक ह्रास के रूप में हमारे सामने आया है। यही

कारण है कि वर्षों बीत जाने के बाद भी एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति की प्रतिष्ठा आज तक हम नहीं कर पाये हैं। आज देश की नियति नेहरू-मनोवृत्ति के नेताओं के हाथ में है। इनसे छुटकारा पाये बिना इस देश में सांस्कृतिक और भावात्मक एकता स्थापित नहीं हो सकती।

हमारे अभी प्रकाशित हुए ग्रन्थ "निगमागम संस्कृति" के संस्कृत-संस्कृति खण्ड (पृ. १९७-२५६) में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिये अपेक्षित तत्त्वों के स्वरूप पर विचार किया गया है। उनकों हम कुछ परिवर्धनों के साथ संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

(क) इस्लामिक संस्कृति और पाश्चात्य विचारों की पृष्ठभूमि में वेदों के और केवल शांकर वेदान्त की पृष्ठभूमि में किये गये वेदान्त के अध्ययन ने भारतीय संस्कृति में अनेक विकृतियों को जन्म दे दिया है। इसके स्थान पर एक हजार वर्ष पहले के कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित प्रत्यभिज्ञादर्शन, संस्कृति और तत्त्वज्ञान से पूरे भारतीय समाज को जोड़ा जाना चाहिये।

(ख) दक्षिण के वैष्णव और शैव सन्तों का, उत्तरभारत के सिद्धों और नाथों के साथ पूरी सन्त-परम्परा और गुरु-परम्परा का, अथच सूफी सन्तों की परम्परा का भी सन्त तुलसीदास द्वारा उद्धृत नानापुराणनिगमागम साहित्य प्रेरणास्रोत रहा है। इन सारी परम्पराओं को समान रूप से संमान मिलना चाहिये।

(ग) इसी पृष्ठभूमि में अवतरित महात्मा गांधी और बाबा साहब अंबेडकर को भी पूरा संमान दिया जाना चाहिये। इस्लामिक मूर्तिभंजक-स्वरूप भारतीय संस्कृति के नवनिर्माण में सहायक नहीं हो सकता।

(घ) वैदिक, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव आदि प्राचीन मत-मतान्तर और आधुनिक अनेक पन्थ इसी धरती की उपज हैं। इन सबके अनुयायी यहाँ सुख-शान्ति से रहते आये हैं। लगभग १३०० वर्षों से यहाँ शान्तिपूर्वक रहते हुए पारसियों ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। भारतीय मुसलमानों और ईसाइयों को भी इन्हींका अनुसरण करना चाहिये।

(ङ) नेपाल के समान भारत में भी धर्मपरिवर्तन की प्रक्रिया पर पूरा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये।

(च) अल्पसंख्यकों की असहिष्णुता और संकीर्णता के परिहार के लिये उनसे सीधा सम्पर्क साधा जाय। अल्पसंख्यकों में सहिष्णुता के पनपने पर ही पूरा भारतीय समाज भयमुक्त हो सकेगा, उसमें परस्पर भावात्मक एकता स्थापित हो सकेगी।

(छ) जेल से छूटने के बाद सन् १९४२ के आन्दोलन में जो कुछ गलत-सही हुआ, उन सबका समर्थन कांग्रेसी नेताओं ने किया था। ***बाबरी ढांचे के सिलसिले में भी***

उसी दृष्टि का पालन होना चाहिये। अंग्रेजों के समान अंग्रेजी पत्रकारिता ने भी इस देश की संस्कृति के साथ बहुत खिलवाड़ किया है। ऐसे व्यक्तियों को भी शिक्षा तो मिलनी ही चाहिये, जो राष्ट्ररक्षक के छद्मवेश में पूरे राष्ट्र और उसकी संस्कृति के साथ जाने-अनजाने द्रोह कर रहे हैं।

(ज) भारतीय-पत्रकारिता बात-बात पर घाव लग जाने और उस पर मरहम लगाने की रट लगाने लगी है। इससे समस्याएँ और उलझ जाती हैं। इससे यदि वह विरत हो सकें, तो देश का बहुत कल्याण होगा, भावात्मक एकता के स्थापित होने में सहायता मिल सकेगी।

(झ) अखबार वालों ने अपने लिये मीडिया शब्द चुना है। यह उनकी मानसिक दासता का सूचक है। मीडिया का यह सोच राष्ट्रद्रोह से कम नहीं है कि सारा मुस्लिम मतदाता फतवे के आधार पर किसी एक पार्टी के पीछे खड़ा होगा। ऐसा सोच जनतन्त्र की भावना के भी विपरीत है। बुखारी जैसे भेड़ियों से मुस्लिम मतदाता को मुक्ति दिलाने का उपाय सुझाना इस मीडिया नामधारी जीव के वश की बात नहीं है।

(ञ) किसी पत्र के स्तंभलेखक महोदय अपने लेखों में "यह देश दो हजार वर्ष तक परतन्त्र रहा" इस बात का उल्लेख बार-बार करते रहते हैं। उनकी यह बात हमारी समझ के बाहर है। हम तो इतना जानते हैं कि राजनीतिक दृष्टि से यह देश एक हजार वर्ष तक अवश्य परतन्त्र रहा, किन्तु उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से यह उतना पराजित नहीं हुआ था, जितना महात्मा गांधी की मृत्यु के बाद के इन कुछ वर्षों में अंग्रेजियत और पाश्चात्य चकाचौंध से प्रभावित हुआ है। आज हम बहुसंख्यकों को बरगलाने के लिये तो भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट आदर्शों का उद्घोष करते हैं, किन्तु अल्पसंख्यक किस रास्ते पर चले जा रहे हैं, इसकी हमें क्या कोई चिन्ता है?

(ट) भारतीय विचारक, यदि वह अल्पसंख्यक वर्ग का है, तो मुल्ला-मौलवियों और इमामों के आतंक के कारण और यदि बहुसंख्यक वर्ग का है, तो प्रतिगामी, बुर्जुआ कहलाने के भय से सही बात कहने-सुनने से कतराता रहता है। प्रगतिशील कहलाने के व्यामोह को वह छोड़ नहीं पाता। हमने बहुत पहले लिखा था कि भारतीयकरण की प्रक्रिया से साधारण व्यक्ति से लेकर इन्दिरा गांधी तक को गुजरना होगा। अब हम इतना और जोड़ना चाहते हैं कि ***इस प्रक्रिया से किसी भी पत्र के साधारण संवाददाता से लेकर सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश तक को गुजरना होगा।***

(ठ) अब्दुल्ला बुखारी और शहाबुद्दीन जैसे नेताओं को पाकिस्तान, बंगलादेश अथवा उनकी इच्छा के अनुसार अन्य किसी भी देश में भेजा जा सकता है। कुछ कम्युनिस्ट महानुभाव भी रूस अथवा चीन में से अपने अभीष्ट पितृदेश में भेजे जा सकते हैं, किन्तु आज की भारतीय न्यायपालिका में क्या इतना आत्मबल और

राष्ट्रीयता है कि वह इसराइल की न्यायपालिका का अनुसरण कर सके। वस्तुतः इस देश की वर्तमान कार्यपालिका और न्यायपालिका राष्ट्रवाद की स्थापना करने में असमर्थ है। यह कार्य तो अब भारतीय जनता को ही करना होगा।

(ड) पूरे विश्व को यह समझाया जाना चाहिये कि इस्लाम आज भी इस दुनिया का एक अति-असहिष्णु धर्म है। बन्दरघुड़की देने में यह सबसे आगे है। कम्युनिस्टों की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। समय रहते इनको नियन्त्रित करना होगा। साथ ही दुनिया के सामने इस बात को भी स्पष्ट करा देना होगा कि ***यहां किसी मस्जिद को नहीं ढहाया गया है। केवल मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा किये गये अतिक्रमणों को हटाया जा रहा है। यह भी इसलिये कि इसके बिना देश में एक राष्ट्रीयता की, भावात्मक एकता की स्थापना हो ही नहीं सकती।***

दैनिक जागरण के नाम पत्र

आपका दिनांक ३० मार्च १९९३ का "अनुचित मार्ग" शीर्षक संपादकीय केवल इस्लामी कट्टरता को बढ़ावा देने वाला है, उनको भ्रम में डालने वाला है। लगता है कांग्रेसी दबाव और इस्लामी कट्टरवाद के आगे आपकी सोच कुंठित हो गयी है। केवल काशी और मथुरा ही नहीं, उन सब स्थानों का हमें उद्धार करना होगा, जो इस्लाम की बर्बरता के शिकार हुए हैं। इसमें प्रतिशोध की भावना का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह तो इस्लामिक बर्बरता और कट्टरता के लिये एक सबक है। यदि इस्लामिक कट्टरता को समय रहते सही दिशा नहीं दी गई, तो यह भविष्य में पूरे विश्व को अंधकार से भर देगी। अभी आवश्यकता इस बात की है कि पूरे विश्व के सहयोग से इस्लामी आतंकवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। आपका यह संपादकीय इस पवित्र कर्तव्य के विपरीत है।

कृपया इस्लामिक आतंकवाद, मध्यकालीन बर्बरता के आगे घुटने मत टेकिये। इसको बढ़ावा देने का कार्य आप मुलायमसिंह, वी.पी. सिंह और कम्युनिस्टों के जिम्मे रहने दीजिये। भारतीय संस्कृति का संदेश है– "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"। इस्लाम की बर्बरता को समाप्त करने के लिये अभी वज्र की कठोरता अपेक्षित है। कृपया बहुसंख्यकों को उपदेश देना बन्द कर गरीब मुसलमान भाइयों को कट्टरपन्थियों के चंगुल से बचाने का प्रयत्न कीजिये, सामान्य इस्लामिक अवाम को इन भेड़ियों से बचाइये। ऐसा वातावरण बनाने का प्रयत्न कीजिये कि इस्लाम के अनुयायी ही भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप को समझकर इस्लाम की बर्बरता के प्रतीक इन अतिक्रमणों को अपने लिये लज्जा का विषय समझने लगें। जब तक यह कार्य नहीं होता, यह राष्ट्र इसी तरह से विग्रह, विध्वंस और अशान्ति से घिरा रहेगा।

आपने इस संपादकीय में प्रतिशोध शब्द का भ्रामक प्रयोग किया है। कांग्रेसी संस्कृति के सामने यह आपका आत्मसमर्पण है। यदि इस लेख को लिखने के लिये आप प्रेरित किये गये हैं, आपका किसी न किसी तरह से अपनी प्रचार-संख्या बढ़ाना इसका उद्देश्य है, तब तो कुछ नहीं कहना है। किन्तु चार-पाँच वर्ष में इतना लचर संपादकीय आपके पत्र में मैंने नहीं पढ़ा।

भारतीय संस्कृति के उदात्त अवदानों की प्रशंसा करने से और बहुसंख्यकों को उसकी याद दिलाते रहने से आज कुछ भी नहीं होने वाला है। कृपया अपनी दृष्टि को किसी भी प्रभाव से धुँधला मत होने दीजिये और अल्पसंख्यकों तक इन उत्कृष्ट अवदानों को पहुंचाने का मन बनाइये। किसी की भावना को आघात पहुंचाने और उस पर मरहम लगाने की आजकल के हमारे पत्रकार बन्धुओं की अनोखी ईजाद है। पुरातन काल के ब्राह्मण से भी आजकल ये अपने को श्रेष्ठ शाबित करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

उबाल मत खाइये

लखनऊ के नदवा में स्थित एक प्रसिद्ध इस्लामिक शिक्षासंस्थान में अभी हाल में इंटेलिजेंस ब्यूरो का छापा पड़ा। सोडावाटर की बोतल को खोलने से उठे उफान की तरह कुछ खुल जाने के डर से वहाँ भूचाल सा आ गया और उस आतंकियों के जैसे भूचाल में महान् इस्लामिक शिक्षाविद् जनाब अली मियां भी शामिल हो गये। उनका कहना था कि हमें विश्वास में नहीं लिया गया। उन्हें विश्वास में क्यों नहीं लिया गया? इसके कारणों को वे मन ही मन खूब जानते होंगे। शहरों में तो यह नजारा देखने को नहीं मिलता, किन्तु देहात में बसने वाले जानते होंगे कि एक पंछी की किसी भी कारण से मौत हो जाने पर उसके आसपास के सारे पेड़ों पर उसके जाति-बन्धु इकट्ठा होकर चारों तरफ की आबोहवा में एक अनोखी समाँ बाँध देते हैं। मानव जाति के कुछ वर्गों ने भी शायद उनकी यह कला सीख ली है।

माननीय अली मियां साहब के विचार यदा-कदा अखबारों के रास्ते हम लोगों तक भी पहुंचते हैं। उनकी हम दाद देते हैं। विचारक होने के नाते उन्हें यह जरूर मालूम होगा कि इस दुनिया के मजहबों में विचारों की दृष्टि से आज भी इस्लाम सबसे पिछड़ा हुआ है। इस्लामिक भाईचारे का ढिंढोरा पीटा जाता है, किन्तु वह भी खालिश इस्लाम तक ही सीमित है। अन्धेरी गलियों में घूम रहे इस मजहब को भारतीय संस्कृति के दिव्य आलोक से आलोकित किया जाना चाहिये था। ***"श्रीराम" विश्व-मानवता को भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ट देन है।*** एक न एक दिन पूरी मानवता को इस सचाई को स्वीकार करना होगा। दूसरे जिना बनने की धुन में बाबरी आन्दोलन को हवा देने वाले शहाबुद्दीन साहब को एक मुसलमान भाई ने पत्र भेजा था और एक अखबार में छपी

टिप्पणी के साथ छपे पते के आधार पर उन्होंने इस पत्र की प्रतिलिपि इन पंक्तियों के लेखक के पास भी भेज दी थी। जब उनके विचारों के प्रकाशन का अवसर आया, तो उनका जीना दूभर हो जायगा, इस आधार पर उस पत्र का छपना रुक गया। जनाब अली मियां साहब ऐसे समझदार मुसलमानों को बढ़ावा नहीं दे रहे हैं। वे तो उनका ही साथ दे रहे हैं, जिस मनोवृत्ति ने सुकरात को जहर पीने के लिये मजबूर किया था और आज भी जिन्होंने सलमान रुश्दी और कु. तसलीमा नसरीन का जीना दूभर कर रखा है।

आजकल सर्वधर्म-समभाव और धर्मनिरपेक्षता की बड़ी चर्चा है। हमारे कम्युनिस्ट भाई और इस्लाम के धुरन्धर अनुयायी इन शब्दों से बड़े खुश हैं। देश का विभाजन करा देने के बाद भी नेहरूवादियों ने अपने इस दृष्टिदोष का इलाज नहीं कराया है। भद्रपुरुष पं. नारायणदत्त तिवारी इधर जनता में बढ़ रही अपनी प्रतिष्ठा से बहुत खुश हैं। तिवारी जी को मालूम हो जाना चाहिये कि यह प्रतिष्ठा उनके अन्याय के प्रतीकार को मिल रही है। मक्कारी का साथ देकर वे अपनी प्रतिष्ठा को पुनः गिरा देंगे। आज एक हजार वर्ष तक साथ रहकर भी इस्लाम भारतीय संस्कृति के महनीय अवदानों से बहुत दूर है। वह सर्वधर्म-समभाव और धर्मनिरपेक्षता की भाषा को समझने में असमर्थ है। जनाब अली मियां साहब को उबाल खाने की अपेक्षा धीरतापूर्वक इस तथ्य का साक्षात्कार करना चाहिये था। गंगा-यमुनी खिचड़ी-संस्कृति की कुछ तबकों में बड़ी चर्चा रहती है। उनको यह समझ लेना चाहिये कि प्रयाग-संगम के आसपास ही ऐसा दिखाई पड़ता है। थोड़ी दूर चलकर तो गंगा-यमुना एकाकार होकर केवल गंगा ही रह जाती है। इस्लाम के प्रबुद्ध अनुयायी इस ओर ध्यान दें और पुराने समय में यहाँ आये यहूदियों, ईसाइयों, पारसियों और सूफियों की तरह तथा अभी हाल में आये तिब्बतियों की तरह बिना उबाल खाये यहाँ शान्तिपूर्वक एक साथ रहना सीख लें, तो यह सबके लिये अच्छा होगा। इस्लाम के धर्मगुरुओं को और उनके तथाकथित नेताओं को अब यह भूल जाना चाहिये कि इस देश पर उन्होंने एक लम्बे समय तक शासन किया था।

भारत में मस्जिदों को ढहाया जा रहा है, इस मिथ्या प्रचार से भी उनको बचना होगा। भारतीय प्रजा की केवल इतनी ही इच्छा है कि अंग्रेजों के जाने के बाद जैसे उनकी क्रूरता के चिह्नों को मिटा दिया गया, उसी तरह से इस्लामिक क्रूरता के चिह्नों को भी मिटा दिया जाय। उनके उत्कृष्ट अवदानों को मिटाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। राम, कृष्ण और शिव भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट अवदान हैं। इनका संमान तो पूरी भारतीय प्रजा को करना ही चाहिये। इस्लामिक दंभ का अट्टहास इन्हीं स्थलों तक सीमित नहीं है। आप गुजरात के सिद्धपुर के रुद्रामहालय की स्थिति को देखकर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सकेंगे।

तन्त्रागमशास्त्र एवं भारतीय संस्कृति

आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर देश-विदेश में पर्याप्त कार्य हो चुका है और हो भी रहा है। अभी हाल में सारनाथ से "भारतीय तन्त्रशास्त्र" के नाम से वहाँ सम्पन्न हुई तन्त्रविषयक गोष्ठी का लगभग ७०० पृष्ठों का विवरण प्रकाशित हुआ है, जिसमें बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त और स्मार्त तन्त्रों की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध निबन्धों के साथ उन पर हुए विद्वानों के विचार-विनिमय का भी प्रकाशन किया गया है। उत्तरप्रदेश के विख्यात संस्कृत संस्थान की ओर से प्रकाशित हुए "संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" के अन्तर्गत भी आगम-तन्त्रशास्त्र संबन्धी एकादश खण्ड में उक्त विषयों के अतिरिक्त पुराण वाङ्मय में समाविष्ट आगम-तन्त्रशास्त्र से संबद्ध सामग्री का भी समावेश किया गया है।

वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुति का उल्लेख स्मृतियों और पुराणों में भी मिलता है। वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र मार्ग की चर्चा भागवत आदि पुराणों में भी है। त्रैवर्णिक-विषय और सर्ववर्ण-विषय श्रुतियों की सूचना मिलती है। इनमें वैदिक श्रुति त्रैवर्णिक-विषय और तान्त्रिक श्रुति सर्ववर्ण-विषय मानी जाती है। महाभारत में और पुराणों में भी इनकी विस्तार से चर्चा मिलती है। इसी प्रसंग में पाशाष्टक, जातिग्रह, शंका, शुद्धि-अशुद्धि , विधि-निषेध, सत्तर्क, स्वानुभव, समतादृष्टि जैसे विषय भी चर्चित हैं, जो आज भारतीय संस्कृति के अभिनव स्वरूप के उन्मेष में सहायक हो सकते हैं।

आक्रान्त भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति पर जाने-अनजाने चतुर्दिक् प्रहार हो रहे हैं। सुधारवादी आन्दोलन शांकर वेदान्त के इर्द-गिर्द घूमा है और इसके कारण अनेक विसंगतियाँ उठ खड़ी हुई हैं। श्रमण-ब्राह्मण, आर्य-द्रविड़, वर्णव्यवस्था जैसी अनेक समस्याओं को जान-बूझकर पुनः जिला दिया गया है, जिनका समाधान तान्त्रिक वाङ्मय ने एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। आज हम वेद-वेदान्त और आगम-तन्त्रशास्त्र की बुराइयों से घिरे हुए हैं और उनके उत्कृष्ट अवदानों को भुला बैठे हैं। यही कारण है कि हमारी आक्रमणशील कुसंस्कारों को हजम करने की शक्ति अजीर्ण से ग्रस्त हो गई है। एक हजार वर्ष तक साथ रहने पर भी हम इस्लाम की क्रूरता, हठवादिता और असहिष्णुता जैसे कुसंस्कारों को दूर नहीं कर सके हैं। उलटे हम भी उन दूषणों से घिरते जा रहे हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता को देखने वाले भारतीय दर्शन को एकेश्वरवाद के समक्ष तुच्छ सिद्ध करने का अबाध प्रचार चल रहा है और ये एकेश्वरवादी कुसंस्कार इस पूरी दुनिया पर केवल अपना ही एकच्छत्र आधिपत्य जमाने को उद्यत हैं। छल-छद्म अथवा नकली दयाभाव के सहारे धर्मपरिवर्तन

का कुचक्र निरन्तर चल रहा है। हम मूक दर्शक बने हुए हैं और चिरपुरातन होते हुए भी चिर-नवीन उदार भारतीय संस्कार इनका प्रतीकार करने में स्वयं असहाय-से हो गये हैं। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, स्वामी रामानन्द, सन्त कबीर, रविदास, गुरु नानकदेव और महात्मा गाँधी के देश की क्या यही नियति लिखी गई है?

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई है। धर्म इनमें प्रधान है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव-जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसीको हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है, किन्तु न मालूम किस अशुभ घड़ी में किये गये 'सेक्युलर' शब्द के 'धर्म-निरपेक्ष' अनुवाद ने पूरे देश को अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फँसा दिया है। तथाकथित राजनेताओं और बुद्धिजीवियों में इसका प्रभाव तेजी से बढ़ा है। धीरे-धीरे पूरा देश नैतिकताविहीन होता चला जा रहा है। धन और विद्या को संमान मिले, इसमें किसको एतराज हो सकता है? किन्तु नैतिकता-विहीन धन और अहंकारभरी विद्या से समाज का क्या कल्याण होगा? आज देश को चरित्रवान् अर्थपरिशुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता है। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसीकी देश को आवश्यकता है।

पुरातन की आज जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उसका एक अच्छा उदाहरण मनुस्मृति है। सनातन धर्म में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ आज इस स्मृति को मान लिया गया है। ऐसे महानुभाव आचार्य नरेन्द्रदेव की दी गई सनातन धर्म (भारतीय संस्कृति) की परिभाषा से अपरिचित हैं। सनातन धर्म के परिष्कार के लिये सम्पन्न हुए अन्य अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही हम आर्यसमाजी विचारों की भी समीक्षा कर सकते हैं। सनातन धर्म ने आजीवक, लोकायत, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव इसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते" इसका आदर्श वाक्य है। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित नहीं है, अथ च सभी उत्त्कृष्ट अवदानों को स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं करता। जेन्दावेस्ता, बाइबिल और कुरान को भी वह उतनी ही महत्ता देता है, जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है। इसे हम विश्व का उदारतम धर्म (संस्कृति) मान सकते हैं। इस उत्कृष्ट अवदान को दिखाने के लिये मनुस्मृति के कुछ वचन ही पर्याप्त हैं। आधुनिक प्रबुद्ध विचारक थोड़ा ठहर कर सोचेंगे कि क्या ये शाश्वत मूल्य कभी उपेक्षणीय हो सकते हैं?

भारतीय संस्कृति का विकास

डॉ. मंगलदेव शास्त्री वाराणसी की स्व. डॉ. भगवानूदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द की परम्परा के प्रतिनिधि विद्वान् थे। वे एक ग्रन्थ लिख रहे थे— "भारतीय संस्कृति का विकास"। भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से उन्होंने सात धाराओं में विभक्त किया था— १. वैदिक, २ औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक (वर्तमान हिन्दू धर्म), ६. सन्त, ७. इस्लाम और ईसाइयत आदि। इन सभी धाराओं पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखने का उनका विचार था। वैदिक और औपनिषद धारा पर उनके दो ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। पौराणिक धारा पर भी इन्होंने लिखा था, किन्तु उसको पुस्तक का रूप नहीं दिया जा सका। अन्य पुरातन संस्कृतियाँ आज जब नामशेष रह गई हैं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने का अद्भुत सामर्थ्य इसमें था। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया था और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारंभ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार सुदृढ़ पायों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती सी नजर आ रही हैं।

क्या वैदिक, क्या जैन और क्या बौद्ध— सभी धाराओं में त्याग और तपस्या के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समान रूप से विकास हुआ और पाश्चात्य संस्कृति अपने राष्ट्र के लिये समय उपस्थित होने पर अधिक से अधिक त्याग और उसकी उन्नति के लिये कठोर परिश्रम करना सिखाती है, किन्तु आज भारत में साधारण जन से लेकर उच्चपदस्थ व्यक्तियों तक में त्याग की भावना का नितान्त अभाव है। जनहित के नाम पर सभी अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं। त्याग और तपस्या की भावना आज वहाँ भी मर गयी है, जो अपने को वैदिक या अन्य आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। इनके केन्द्रों में जाकर देखा जा सकता है कि बाह्य आडम्बरों की ओट में मूल मान्यताएँ किस प्रकार सिसक रही हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसा-प्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने वैदिक कर्मकाण्ड को मोक्षपथ की यात्रा के लिये कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघ कर विद्यमान ये चिरपुरातन उपदेश आज भी चिरनवीन हैं। धन से तृप्ति नहीं हो सकती (नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः)। इनके विपरीत मार्क्सवाद हमको आज कहाँ ले जा रहा है?

औपनिषद दर्शन और सांख्य-योग दर्शन की परम्परा में ही एक ओर महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, तो दूसरी ओर पाशुपत और पांचरात्र मतों का। बुद्ध और महावीर ने वेद का प्रामाण्य जहाँ सर्वात्मना अस्वीकार कर दिया, वहीं उपनिषत्, सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। इसीके परिणामस्वरूप महाभारत में इन सभी मतों के समन्वय का प्रथम श्लाघ्य प्रयत्न परिलक्षित होता है। परस्पर सहिष्णुता के भाव के विकास के कारण ही यह संभव हो सका। इसके बाद सहिष्णुता और समन्वय के फलस्वरूप ही यहाँ दीर्घकाल तक पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ, जो भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भागवतकार ने न केवल उपर्युक्त वेदानुवर्ती या मध्यममार्गी, अपितु वेदविरोधी बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का भी अपने ग्रन्थ में समावेश किया है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्धदेव और चौबीस अवतारों में जैनों के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भी समाविष्ट हैं। "कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्" यहाँ बुद्धदेव की वाणी मुखरित होती प्रतीत होती है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं— "केशव धृत बुद्ध-शरीर जय जगदीश हरे"। प्रत्येक सनातनी धार्मिक कृत्यों के प्रारंभ में संकल्प-वाक्य का उच्चारण करता हुआ कहता है— "बौद्धावतारे"। यदि कोई यह कहता है कि विष्णु के दस अवतारों में परिगणित बुद्धदेव बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध से भिन्न हैं, तो यह उस पर अपसंस्कृति का ही प्रभाव माना जायगा। आजकल यह कहने का फैशन चल पड़ा है कि बौद्ध धर्म को भारत से बाहर कर दिया गया। हम पूँछना चाहते हैं कि मलयेशिया और इण्डोनेशिया में बौद्ध धर्म क्यों नामशेष हो गया?

भारतीय संस्कृति ने आज हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड को भी छोड़ दिया है और बौद्ध धर्म की उन उपासना-विधियों को भी, जिनके असंगत आचरण से बौद्ध धर्म में स्वयं ही विदेशी आक्रमण के आगे टिक सकने की शक्ति शेष नहीं रह गई थी। इसके विपरीत वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृति के संमिलित उत्कृष्ट उपादानों से बनी सनातनी संस्कृति एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए आज तक टिकी रही और आज स्वतन्त्रता की साँस ले रही है।

इन संकटपूर्ण घड़ियों में भारतीय संस्कृति सन्तों की अमृतमयी वाणी से अपनी जीवनी-शक्ति अर्जित करती रही है। सन्त कबीर, जायसी, अमीर खुसरो, रसखान और अनेकों सूफी सन्तों ने, अकबर और दाराशिकोह जैसे राजपुरुषों ने इस्लाम का भारतीयकरण करने में पूरा योगदान किया है। आगरा का ताजमहल हो या बीजापुर का गोलगुम्बद, इस्लामिक संस्कृति के साथ ये हमारी भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय स्थापत्यकला, संगीत और चित्रकला का विकास तथा स्वातन्त्र्य-संग्राम का संचालन

भी किया है। पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान का प्रभाव तो आज पूरे भारत में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है।

इस प्रकार आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृति की धाराओं का जल मिलकर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है?

संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं-- एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की भौतिक उन्नति का। इसीको हम संस्कृति के आध्यात्मिक और भौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया के साथ-साथ ही चलती है, तो भी किसी में आध्यात्मिक और किसी में भौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपभोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधानता देना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक कहा जाता है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति आत्मा की, मानव की मानसिक उन्नति की ओर विशेष रूप से ध्यान देती है। इसीलिये भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश है ही नहीं, "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार उक्त परिभाषा में केवल उनकी विशेषता की ओर इंगित किया गया है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व परम्परा सैकड़ों-हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि अविच्छिन्नतया निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य एवं सहयोग से नहीं हुई। इनका प्रारंभिक विकास पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है। अत एव इनमें विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ। उक्त विशेषताओं के कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों तथा अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है।

संस्कृति-संगम

उक्त सारी संस्कृतियाँ आज पूर्णतया परस्पर संपर्क में आई हैं। विश्व के सभी राष्ट्रों और समाजों के आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक व्यवहार आजकल अभेद्य

रूप से आपस में गुँथे हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति आज संसार के सभी राष्ट्रों तथा समाजों के एकत्र संमिलन का कारण बनी है। अपने यातायात के साधनों तथा व्यापार की पद्धति के कारण यह संस्कृति समूचे संसार को एक जगह ले आई हैं। यान्त्रिक संस्कृति ने गत तीन सौ वर्षों में मानव जीवन में क्रान्ति कर दी है। अब उस संस्कृति ने सब सुसंस्कृत राष्ट्रों के अन्तरंग में प्रवेश किया है। गत तीन सौ वर्षों में अप्रतिहत रूप से पाश्चात्य संस्कृति की प्रगति हुई है। उसने अन्य पुरानी संस्कृतियों को निष्प्रभ-सा बना दिया है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, साहित्य-कला, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी पूरा विश्व पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है।

यह पाश्चात्य संस्कृति भौतिक है, यह हमने अभी बताया है। विज्ञान की प्रगति के साथ इसका यह रूप इधर और भी प्रखर हुआ है। आध्यात्मिकता की इसने उपेक्षा-सी कर दी है। इसीलिये बीसवीं शताब्दी के मध्य में उक्त संस्कृति की अवनति के ही नहीं, विश्व के भी विनाश के अशुभ चिह्न दिखाई देने लगे हैं। इससे त्राण पाने का एकमात्र मार्ग इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समावेश करना ही है। इस संस्कृति में यह तत्त्व भारतीय संस्कृति से लिया जा सकता है। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध-- सभी भारतीय धर्म और दर्शन मानव मात्र के, अर्थात् समूची मानव-जाति के कल्याण को परमार्थ मानते हैं। भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरणा विश्वव्यापिनी है। विभिन्न दृष्टियों और संस्कृतियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना को जगा सकने के कारण ही यह संभव हो सका है। भारतीय संस्कृति के इस उज्ज्वल पक्ष का दर्शन पूरे विश्व को महात्मा गाँधी ने न केवल विचारों से, अपितु अपने कार्यों और आचरण से भी कराया था।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न रहे हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विविध सभ्यताएँ इस संस्कृति में घुल-मिल कर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

भारतवर्ष में विभिन्न जाति, धर्म और भावनाओं के अनुयायी जन बसते हैं। हिन्दु, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसामसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये थे। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ खीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है।

शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं।

सहिष्णुता और समन्वय

इस प्रकार सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति के विशेष गुण हैं। सहिष्णुता इसका प्रकट गुण है और समन्वय की प्रक्रिया जाने-अनजाने मन्थर गति से चलती रहती है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि विभिन्न देश, काल और वातावरण में विकसित संस्कृतियाँ यहाँ निर्बाध रूप से रहती आयी हैं, जिनका वर्णन ऊपर के अनुच्छेद में हमने किया है। अभी हाल में चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर आयी तिब्बती जन-संस्कृति यहाँ स्वतन्त्रता की साँस ले रही है। इस्लामी राज्यकाल में भी भारतीय संस्कृति के ये गुण उजागर थे, किन्तु छल-छद्म का सहारा लेकर चलने वाली भौतिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजों के शासनकाल के प्रारंभ में ही ये गुण धूमिल-से होने लगे। न केवल पाश्चात्य संस्कृति, किन्तु उसके राजनीतिक चंगुल में फँसी इस्लामिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को पुनः तहस-नहस कर देने में लग गई। इन आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बचाने के लिये किये गये राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, योगी अरविन्द आदि महापुरुषों के प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन महानुभावों ने न केवल बाह्य आक्रमण से, अपितु कालविपाक से इसमें आये दोषों से भी भारतीय संस्कृति को उन्मुक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है—एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें वेद के सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि महाभारत और भगवद्गीता की है, जिसमें सांख्य और योग को ही अभिन्न नहीं बताया गया, अपितु उस समय प्रचलित सभी दृष्टियों में समन्वय स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया गया है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया। जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों की समालोचना की, जब कि दक्षिण के शैव और वैष्णव सन्तों ने एवं उत्तर के सिद्धों, नाथों, संतों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही यह सब कुछ हो सका। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव और शैव आगमों ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गई। बौद्ध दृष्टि के साथ समाज ने तन्त्रागमशास्त्र की समन्वयवादिनी दृष्टि को भी नकार दिया। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की

अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं। तान्त्रिक रहस्यवाद फिर समाज को भ्रमित करने लगा है और वैदिक दृष्टिकोण अपने संकीर्ण घेरे से हमें बाहर नहीं निकलने देता। इन दोषों से मुक्ति हम तभी पा सकते हैं, जब वैदिक और तान्त्रिक दृष्टि में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय।

संस्कृति : एक प्राचीन शब्द

कुछ भद्र पुरुष संस्कृति शब्द पर ही आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि यह एकदम पश्चिम का शब्द है, जो 'कल्चर' का अनुवाद होकर आया है। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। इसके स्थान पर 'कृष्टि' शब्द के प्रयोग की भी कुछ लोग सिफारिश करते हैं। गीता के शब्दों में इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि ज्ञान सरीखी कोई पवित्र वस्तु नहीं है (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। ज्ञान कहीं का भी रहे, वह ग्राह्य होना चाहिये। हाँ, इतना जरूरी है कि उसका सचेत अध्ययन किया जाय। 'संस्कृति' शब्द पूरे विश्व को जोड़ने वाला शब्द है। इसमें यदि हम भारतीयता के उपादानों का भी समावेश करें, तो एक विश्वसंस्कृति का निर्माण हो सकता है।

यह बात भी सही नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्रायः वर्तमान अर्थ में ही यह शब्द शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता (७.१४) में मिलता है। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२.८) विश्वभारती शान्ति-निकेतन का यह आदर्श वाक्य भी वहीं से लिया गया है। मीमांसाशास्त्र में कर्मभेद के विवरण में संस्कृति के साथ विकृति शब्द भी प्रयुक्त है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की अन्य संहिताओं में तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी इस शब्द की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इस स्थिति में संस्कृति के स्थान पर 'कृष्टि' शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि इसमें मात्र संगीत, नृत्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं का ही समावेश नहीं होता, प्रत्युत नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों तथा परम्पराओं का भी इसमें अनिवार्य रूप से समावेश किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर संस्कृति का एक ही दोष हमारी नजर में आता है कि प्रायः प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने धर्म के लोप का खतरा इसमें दीखने लगता है।

भारतीय संस्कृति पर हिन्दी भाषा में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु उनमें कहीं भी आगम-तन्त्रशास्त्र के अवदान की चर्चा नहीं आई। सिद्धों, नाथों और सन्तों के अवदान को वहाँ इस रूप में प्रस्तुत किया गया है, जैसे कि उनका अपनी पुरातन परम्परा से कोई सरोकार न हो। इसका कारण यह है कि विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हुए सुधारवादी आन्दोलन ने इसकी ओर से आँखें मूँद ली है। यहाँ प्रत्यभिज्ञादर्शन की ***अपेक्षा शांकर वेदान्त और बौद्ध दर्शन को वरीयता दी गई है एवं पूरी ताकत से तन्त्रशास्त्र की निकृष्टता को उजागर किया गया है। इसमें एकमात्र अपवाद है योगी अरविन्द। आगम-तन्त्रशास्त्र***

के अध्ययन को नई दिशा देने का प्रमुख श्रेय महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के पक्ष में जाता है, जिन्होंने तन्त्रशास्त्र के उत्कृष्ट अवदानों को उजागर कर, पूरी भारतीय परम्परा में इस टूटी हुई कड़ी को जोड़ कर अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया है। हमारा निश्चित मत है कि पुराणों पर और वर्तमान सभी भारतीय धर्मों पर वेदों की अपेक्षा आगम-तन्त्रशास्त्र का अधिक गहरा प्रभाव है। इस प्रभाव की अनदेखी कर किया गया वेदों का और मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन ही भारतीय संस्कृति पर ब्राह्मणवादी और मनुवादी होने जैसे अनर्गल आक्षेपों के लिये जिम्मेदार है। इसीके सहारे भारतीय प्रजा को भ्रमित कर धर्मनिरपेक्षता के झंडे तले जुटाने का जतन किया जा रहा है। भारतीय संस्कृति पर यह एक प्रकार का अपसंस्कृति का हमला ही माना जायगा।

कुछ सुझाव

भारतीय संस्कृति के अभिनव स्वरूप के निर्धारण की प्रक्रिया में आई एक बुनियादी त्रुटि की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं कि बौद्ध दृष्टि *को यहाँ जरूरत से ज्यादा स्थान मिल गया है और जैन दृष्टि को एक तरह से आँख-ओझल कर दिया गया है। अहिंसा का उपदेश जैन धर्म की विशेषता है। वैष्णवों ने भी इसे स्वीकार किया। वर्तमान काल में गुजरात में प्रभावी इन दोनों धर्मों के प्रभाव से ही महात्मा गांधी की अहिंसा उपजी है।*

सर्वधर्म-समभाव एक अच्छा शब्द है, किन्तु महात्मा गाँधी के अनुयायियों ने इसका एक ही अर्थ समझा है कि सभा-संमेलनों के प्रारंभ में सभी धर्मों के पुरोधाओं को इकट्ठा कर प्रार्थना की जाय। क्या इतने मात्र से सभी धर्मों में परस्पर सद्भावना आ पाई है? इसके लिये तो गंभीरता से एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की, तर्कपद्धति से हर एक मजहब के गुण-दोषों की समीक्षा अपेक्षित है। क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध-- सभी धर्मों और दर्शनों में खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थ की पद्धति से सैकड़ों वर्षों तक विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है। क्या आज के मजहबी घरौंदों में यह संभव है? ***सर्वधर्म-समभाव की वास्तविक प्रतिष्ठा तो तब हो सकती है, जब ध र्मान्तरण पर पूरी तरह से रोक लगा दी जाय और विभिन्न वर्गों में समालोचना को सुनने-समझने की मनोवृत्ति जाग सके। जब तक यह संभव नहीं होता, तब तक के लिये हमें सर्वधर्म-समादर शब्द तक ही सीमित रहना चाहिये।***

इन पंक्तियों के लेखक का यह निश्चित मत है कि भारतीय धर्म, दर्शन और तदाधारित संस्कृति के नूतन स्वरूप का निर्धारण एक हजार वर्ष पहले कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित प्रत्यभिज्ञाशास्त्र की पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिये। ***इसके अभाव में भारत अपसंस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकेगा।***

भारतीय संस्कृति में डेफ्ट नहीं है!

अभी कुछ दिन पहले हमारे एक मित्र विवाह का निमन्त्रण देने के लिये आये थे। उनके साथ उनका चि. पुत्र भी था। हमारे मित्र जानते थे कि भारतीय संस्कृति पर चर्चा करना और लिखना मेरी हावी है। तो चर्चा चल पड़ी। बीच में उनके चिरंजीव ने ऊपर वाला वाक्य कहा। उसीको इस चर्चा का शीर्षक बना देने के लिये डेफ्ट शब्द को बदला नहीं गया है। यों भी आज की ***टेलीविजन संस्कृति में इस तरह के शब्द परहेज लायक नहीं रह गये हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित हिन्दी लेखकों में अब इसके लिये साहस भी नहीं बचा है***। हाँ तो उस किशोर के वाक्य को सुनकर एकबारगी हम लोगों के कुछ समझ में नहीं आया। पिता के प्रश्न करने पर उसने पुनः वही वाक्य दुहरा दिया और उस विषय को आगे बढ़ाया कि ईसाई संस्कृति में जो गहराई है, वह भारतीय संस्कृति में देखने को नहीं मिलती। चाय की चुस्की के साथ यह बात आई-गई हो गई, किन्तु उसने मेरे अन्तःस्तल में प्रश्नचिह्न लगा दिया कि क्या कान्वेंट संस्कृति का यह प्रभाव है?

"हेप्पी बर्थ डे" आजकल मनाया जाता है। उसमें केक काटा जाता है और बालक की आयु की संख्या की मोमबत्तियाँ जलाई जाती हैं। बाद में उनको बुझा दिया जाता है। भारत में उत्सव अथवा पूजा के अवसर पर दीपक का बुझ जाना अमंगल-सूचक माना जाता है। भारतीय गृहणियाँ आग को मुँह से न फूंक कर बाँस की नली का सहारा लेती थी और दीपक को ही नहीं, लालटेन को भी फूँक देकर बुझाया नहीं जाता था। इस शुभ अवसर पर मोमबत्तियों को फूँक देकर बुझाया जाता है और वातावरण में दुर्गन्ध फैल जाती है। इसकी चर्चा हमने विश्व संस्कृत परिषद् की रामनगर किले में की गई बैठक में काशी विश्वनाथ के प्रतिनिधि महाराज श्री विभूतिनारायण सिंह देव जी के समक्ष की थी। ***भारतीय पद्धति से जन्म-दिन मनाने की पद्धति को प्रचारित करने की चर्चा के साथ सब कुछ शान्त हो गया।***

अभी कुछ दिन पहले पाश्चात्य जगत् में धूमधाम से मनाये जाने वाले वेलेन्टाइन डे की अंग्रेजी अखबारों में ही नहीं, भारतीय भाषा के समाचारपत्रों में भी खूब चर्चा रही। ऐसा लग रहा था कि आधुनिक सभ्यता को यह यूरोपीय वरदान है। कुछ वर्ष पहले की बात है, सिद्धपुर (गुजरात) में कार्तिक पूर्णिमा पर सरस्वती नदी के तट पर मेला लगा हुआ था। मुझे बताया गया कि कार्तिक पूर्णिमा की इस रात में आदिवासी युवक-युवतियाँ अपने परिवार-जनों के समक्ष अपने एकसूत्र में बँधने की सूचना देती रही हैं। इन आदिवासी जनजातियों का फैलाव पूरे भारतवर्ष में है। इनके अपने-अपने रीतिरिवाज हैं। इनमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया, किन्तु अब पूरे

देश में फैली ईसाई मिशनरियाँ इनको सुसंस्कृत करने में लग गई हैं। पूर्वोत्तर राज्यों की अनेक जन-जातियों को तो इन्होंने पूरी तरह से सभ्य! बना दिया है। यह उन्हींका कमाल है कि उधर छोटे-छोटे राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया चल पड़ी है और नाम किसी न किसी लैण्ड के रूप में रखा जाता है। ये जनजातियाँ एक दूसरे की जान की दुश्मन हो गई हैं। अपना स्वरूप, अपने संस्कार ये खोती चली जा रही हैं। भारतीय संस्कृति ने तन्त्रशास्त्र की परिधि में इनके सारे रीति-रिवाजों को समेट लिया था और मानसिक रूप से उनको सुसंस्कृत करने के लिये नाना प्रकार के पूजा-विधानों की रचना की थी। प्रत्येक आदिवासी जनजाति में अपने ये संस्कार दृढ़मूल हैं, किन्तु ये मिशनरियाँ उनमें मट्ठा पिला कर उनके इन भद्र संस्कारों को, अनेकता में एकता के भाव को निर्मूल कर देना चाहती हैं, क्योंकि इन ***सेमेटिक संस्कृतियों में अनेकता का कोई स्थान नहीं है*****। आज का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सुरसा के मुँह की तरह सबको निगल जाने के लिये फैलता जा रहा है और यह** ***भारतीय सहिष्णुता और समन्वय के स्थान पर सर्वत्र विद्रोह एवं विभाजन को प्रश्रय दे रहा है।***

भारतीय संस्कृति पर आक्षेप किया जाता है कि इसने एक बहुत बड़े समुदाय को सुसंस्कृत नहीं होने दिया, उनकी शिक्षा-दीक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की। भारतीय संस्कृति के दो पक्ष रहे हैं-- त्रैवर्णिकविषय और सर्ववर्णविषय। त्रैवर्णिक पक्ष पर तो इस आपेक्ष को कुछ मानों में सही माना जा सकता है, किन्तु सर्ववर्णविषयक पक्ष में तो पूरी मानवता को समान अधिकार दिया गया है। अभी ऊपर तन्त्रशास्त्र की चर्चा आई है। सन्त तुलसीदास भी "नानापुराणनिगमागम" कह कर इस शास्त्र की चर्चा करते हैं। पूरे भारतवर्ष में सन्तों की परम्परा के प्रेरणास्रोत ये शास्त्र ही रहे हैं। गुजराती सन्त नरसी मेहता के "वैष्णव जन तो तेने कहिये" इस गीत के गायक महात्मा गांधी उसी परम्परा की देन हैं। इस उदारवादी भारतीय परम्परा को आँख-ओझल कर आज ***विदेशी अपसंस्कृतियाँ त्रैवर्णिकविषय वाले पक्ष को उछालने में लगी हुई हैं और पूरा भारतीय प्रबुद्ध वर्ग इस दुष्प्रचार से अभिभूत है।***

"तुष्यतु" न्याय से थोड़ी देर के लिये इनकी बात को मान भी लिया जाय, जिनको सुसंस्कृत न करने का दोष इस पर मढ़ा जाता है, उनकी बात छोड़ भी दें, तो उनके बारे में आप क्या कहेंगे, जिनको इसने पूरी तरह से सुसंस्कृत ही नहीं किया, उससे भी बढ़ कर शासक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा भी की, वे आज क्यों भटक रहे हैं? अपनी पद-प्रतिष्ठा के लिये वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के भूत का, मण्डल आयोग के वेताल का सहारा क्यों ले रहे हैं? आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवाद की व्याख्या आज उनके शिष्यों और सहयोगियों को भी क्यों नहीं भाती? ***मण्डल आयोग के पिशाच ने आत्मदाह की एक नयी घृणित अभारतीय परम्परा को जन्म दिया है।*** अभी हाल में एक

तिब्बती बौद्ध भी उसका शिकार हो गया है। "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः" इस ईशावास्य उपनिषत् वाक्य से प्रेरणा लेने वाले गाँधी के इस देश में ***इस दुष्कृत्य को रोकने के लिये जुबान खोलने वाला भी आज कोई दिखाई नहीं दे रहा है।*** हम कहाँ जा रहे हैं।

हम भयग्रस्त क्यों हैं?

अभी दिल्ली में एक चीनी सेनाध्यक्ष का आगमन हुआ था। दुर्भाग्य से उन दिनों तिब्बती स्वतन्त्रता के दीवाने अनशन पर बैठे हुए थे। उनको खदेड़ दिया गया। नेहरू-संस्कृति के दास कांग्रेसी शासन में यह घटना हुई होती, तो कोई सोचने की बात नहीं थी, किन्तु प्रखर राष्ट्रीयता के समर्थक भारतीय जनतादल के शासन में यह घटना हुई, यह हमारे लिये शोचनीय स्थिति है। ईसा की पूरी प्रथम सहस्राब्दी में भारत चीन का आध्यात्मिक गुरु रहा है। चीनी यात्रियों के अनेक विवरण इसके साक्षी हैं। आज वह भारत अपने इस उद्दण्ड शिष्य से इतना भयग्रस्त क्यों है? विगत एक हजार वर्ष से यह देश इस्लामिक आक्रमण के आगे नतमस्तक रहा है। आज भी वह इस्लामिक बन्दर-घुड़कियों से भयग्रस्त है। उसका यह भय अभी निकल नहीं पाया है। जार्ज फर्नाण्डीज नाम के एक निर्भीक व्यक्ति ने उनको शिक्षा देने का साहस दिखाया, किन्तु चीन के डपट देने के बाद हमारी घिग्घी बँध गई। यह भयग्रस्त मानसिकता भारत राष्ट्र का क्या कुछ कल्याण कर सकेगी?

नेहरू-संस्कृति के दुष्परिणामों से इस देश को बचाना है, तो सबसे पहले हमें अपनी परराष्ट्र नीति में परिवर्तन करना होगा, किन्तु हमारे माननीय प्रधामन्त्री जी तो कहते हैं कि परराष्ट्र नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा, अर्थात् वह पं. नेहरू के ढर्रे पर ही चलती रहेगी। हम छोटे से देश इसराइल जितना भी साहस दिखलाने में अपने को असमर्थ क्यों पा रहे हैं? हमारा आत्मबल इतना क्षीण क्यों हो गया है?

लगता है चीनी सेनाध्यक्ष निरीह तिब्बतियों के खिलाफ की गई पुलिस बर्बरता से सन्तुष्ट नहीं हुए और वे भारत सरकार और रक्षामन्त्रालय को खरी-खोटी सुनाने से बाज नहीं आये, यह जानते हुए भी कि भारत में आजकल इस देश का विभाजन कराने वाले और "हिन्दी-चीनी भाई भाई" का नारा बुलन्द करने वालों का शासन नहीं है। परिणामतः इसका पहला विस्फोट चीन के खिलाफ रक्षामन्त्री के वक्तव्य के रूप में और दूसरा आणविक बमों के रूप में हुआ। इससे ऐसा लगा कि कभी विश्वगुरु रहे भारत की आत्मा मरी नहीं है। साथ ही इसके विरोध में कुछ चुने हुए राजनेताओं और बुद्धिजीवियों की जो प्रतिक्रिया सामने आई, उससे ऐसा लगा कि या तो ये लोग

कुण्ठाग्रस्त हैं या किसी के क्रीत दास हैं। इन पंक्तियों के लेखक का यह व्यक्तिगत अनुभव है कि अनेक कम्युनिस्ट बन्धुओं को अनेक रूपों में रूसी सहायता मिलती थी। भारतीय संस्कृति का जिनको पं. नेहरू जितना भी ज्ञान नहीं है, मुलायमों और लालुओं जैसी द्वेषभरी मानसिकता वाले नायरों जैसे बुद्धिजीवियों के प्रेरणास्रोत कहाँ-कहाँ तक फैले हुए हैं? इसकी जानकारी देशहित में होगी। उससे भी बढ़कर यह आवश्यक है कि विभिन्न राज्यों, अल्पसंख्यकों, पिछड़ी जातियों और जनजातियों में अपसंस्कृतियों का प्रसार कर इस देश के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर उतारू विदेशी शक्तियों और उनके चाटुकारों के चंगुल से पूरी भारतीय प्रजा को बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाय।

भारत के सामने सबसे बड़ी समस्या अल्पसंख्यक समुदाय के नाम से खड़ी की गई है। नेहरू-मनोवृत्ति ने भारत का विभाजन करा दिया और स्वतन्त्रता के पचास वर्ष बीत जाने पर भी देश को उस मनोवृत्ति से छुटकारा नहीं मिल पाया है। इस राष्ट्र का निर्माण महात्मा गांधी और सरदार वल्लभ भाई पटेल के मिले-जुले दृष्टिकोण के आधार पर होना चाहिये था, किन्तु ऐसा हो नहीं सका। पं. नेहरू की सम्राट् अशोक महान् बनने की अभिलाषा बोमदिला की ऊँचाई से गिर कर चकनाचूर हो गई। उसी दिन से भारत की परराष्ट्र नीति में परिवर्तन आ जाना चाहिये था, किन्तु हमारी भयग्रस्त मानसिकता ऐसा होने नहीं दे रही है। परमाणु-विस्फोट की अनुमति दे देने के बाद भी क्या वाजपेयी परराष्ट्र नीति में कोई परिवर्तन नहीं करेंगे? धर्मनिरपेक्ष नेहरू की परराष्ट्र नीति की यह विडम्बना रही है कि दक्षिणपूर्व एशिया में बौद्ध धर्म के, पश्चिमी एशिया में इस्लाम के और शेष विश्व में उनकी अधकचरी खिचड़ी संस्कृति के आधार पर वह संचालित होती रही है। इस खिलवाड़ को अब बन्द करना चाहिये। भविष्य में इसका संचालन भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप के आधार पर होना चाहिये। भारतीय संस्कृति का वह स्वरूप कैसा हो? इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है। इसके लिये हमने अपने ग्रन्थ "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" में आधारभूत सामग्री को संकलित किया है।

कवीन्द्र रवीन्द्र की "एकला चलो रे" उक्ति के अनुसार इस राष्ट्र को भी अकेले चलना पड़ेगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि "इण्डिया, देट इज भारत" की नेहरू-संस्कृति से हट कर इस देश को "भारत, देट इन इण्डिया" की संस्कृति में पदार्पण करना होगा। यह भी समझ लेना जरूरी है कि संगीत, नृत्य जैसी कलाओं तक ही संस्कृति शब्द सीमित नहीं है। पं. नेहरू इस देश को और भारतीय संस्कृति को मीठा जहर पिलाते रहे हैं। तिब्बत एवं कश्मीर जैसी समस्याओं के जनक वे ही रहे हैं। अणु-विस्फोट के बाद विपक्षी राजनेताओं और तथाकथित बुद्धिजीवियों की जो

प्रतिक्रिया हुई, उसमें इसके दुष्प्रभावों को देखा जा सकता है। इस दुःस्थिति का बोध जब तक भारतीय प्रजा को नहीं कराया जायगा, तब तक हम न तो विदेशी अपसंस्कृतियों के प्रभाव से मुक्त ही हो सकेंगे और न भयमुक्त भारतीय समाज की संरचना ही कर पावेंगे। कश्मीर और तिब्बत की समस्या का त्वरित समाधान अपेक्षित है। यह हमें भलीभाँति जान लेना है कि तिब्बत का चीन की अपेक्षा भारत से अधिक गहरा धार्मिक एवं सांस्कृतिक संबन्ध है। तदनुरूप हमारी विदेशनीति में उचित परिवर्तन होना ही चाहिये।

विभिन्न राज्यों, विभिन्न भाषाओं, अल्पसंख्यकों, दलितजातियों और जनजातियों के आध ार पर द्वेषपूर्ण क्षुद्र राजनीति करने वालों की आ रही बाढ़ को रोकने का प्रयत्न करना भारत में एक राष्ट्रीयता के विकास के लिये परम आवश्यक है।* भारत पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं, किन्तु कुछ राज्यों की आर्थिक सहायता में बढ़ोतरी करने का क्या उद्देश्य है? इस मनोवृत्ति का अध्ययन करना होगा। *इसके अभाव में रूसी गणराज्य की तरह इस प्राचीनतम भारत राष्ट्र के विखर जाने का खतरा हमारे ऊपर मँडराने लगेगा।

बस एक बात और। भारतीय राजनीति को आज धर्मनिरपेक्ष और साम्प्रदायिक—इन दो शब्दों में बाँट दिया गया है। कुछ दिन पहले इसके लिये वाम और दक्षिण शब्द अधिक प्रचलित थे। ग्रहचार में राहु और केतु की तरह कभी आपस में न मिलने वाले इस्लाम, खीष्ट और लंका से अभी हाल में आयातित बौद्ध धर्म के अन्ध अनुयायी आज धर्मनिरपेक्ष हैं और भारत के सभी धर्मों को 'हिन्दु' शब्द में समेट कर उन सब पर साम्प्रदायिकता का बिल्ला चिपकाया जा रहा है। ***जिन्होंने सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर, इस्लाम एवं खीष्ट धर्म की भी अच्छाइयों को लेकर एक भारतीय संस्कृति की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया है, वे साम्प्रदायिक हैं और धर्मान्तरण के अथवा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे भारत में विग्रह फैला कर इस राष्ट्र को खण्ड-खण्ड कर देने का षड्यन्त्र रच रहे लोग धर्मनिरपेक्ष हैं।* यह कैसी विडम्बना है? भारतीयता का अपमान करने वाली इस मनोवृत्ति को जनता के सामने जोरदार तरीके से पेश करना चाहिये। इसका पर्दाफाश जितनी जल्दी हो सके, इसके लिये प्रबुद्ध भारतीयों को प्रयत्नशील होना चाहिये। तभी युवा-तुर्कों जैसे पथभ्रष्ट लोगों से इस देश को बचाया जा सकता है।**

तिब्बत की परतन्त्रता मानवाधिकार का उल्लंघन

मानवाधिकारों के उल्लंघन के खिलाफ चर्चा करना आजकल एक फैशन सा बन गया है। इसको लेकर अनेक संगठन भी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर कार्य कर रहे हैं। इन संगठनों का लक्ष्य अच्छा है, किन्तु कोरे आदर्शवाद के अतिरिक्त इनके हाथ अब तक कुछ भी नहीं लग पाया है। उलटे आज के राजनीतिज्ञ अपने हित में इनका भी दुरुपयोग ही अधिक कर रहे हैं। वास्तविकता को कोई नहीं देखता और इसमें भी राजनीति ने प्रवेश पा लिया है। फलतः मानवाधिकारों के उल्लंघन की सही घटनाओं को कोई फूटी आँख नहीं देखता और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये मानवाधिकार के उल्लंघनों की कल्पना कर ली जाती है। आजकल इसका ताजा उदाहरण है नाटो सैन्य-संगठन का युगोस्लाविया पर आक्रमण। इसी तरह की हालत कश्मीर और तिब्बत की भी है।

युगोस्लाविया के कुछ हिस्से आतंकवाद से त्रस्त थे, कश्मीर की भी यही स्थिति है। यहाँ मानवाधिकार आतंकवादियों का सहायक है। कभी पंजाब की भी यही स्थिति रही है। इन सभी स्थलों पर स्थानीय जनता की आतंकवाद से रक्षा के लिये किये गये प्रयत्न मानवाधिकार के उल्लंघन की परिधि में आते हैं और आतंकवादियों का मानवाधिकार सिर उठाकर खड़ा हो जाता है। कुछ देशों की गतिविधियाँ क्या इस ओर इंगित नहीं करतीं?

पूरी तिब्बती मानवता को परतन्त्रता की बेड़ी पहना देने वाला चीन तिब्बत में मानवाधिकार की रक्षा कर रहा है और तिब्बत की मुक्ति के लिये महामहिम दलाई लामा जी के नेतृत्व में चल रहा आन्दोलन मानवाधिकारों का उल्लंघन कर रहा है! इस चीनी मान्यता के खिलाफ कोई आवाज नहीं उठ रही है। क्या इसी तरह से हम पूरी दुनिया में मानवाधिकारों की रक्षा का दंभ पालते रहेंगे।

तिब्बत के चीन की अपेक्षा भारत से अधिक गहरे संबन्ध हैं। तिब्बती जनों की ९० प्रतिशत भावनाएँ भारत के साथ जुड़ी हुई हैं। सभ्यता और संस्कृति ही नहीं, धर्म की दृष्टि से भी यह भारत के अधिक नजदीक है। धर्म का संबन्ध तो चीन के साथ भी रहा है, किन्तु भगवान् बुद्ध की अहिंसा के स्थान पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सहारा लेने के उपरान्त चीनी दृष्टि में पर्याप्त परिवर्तन आ गया है और उसने अब करुणा के स्थान पर मध्यकालीन इस्लामिक क्रूरता का वरण कर लिया है। किसी जमाने का विश्वगुरु भारत ही इस क्रूरता का शमन कर न केवल चीन और मध्य-एशिया में, अपितु पूरे विश्व में सही रूप में मानवाधिकार का संदेश दे सकता है, यदि वह इसके लिये पर्याप्त साहस बटोर कर अपनी संकल्पबद्धता का परिचय दे सके।

बहुत वर्षों के बाद चीनी उद्दण्डता के खिलाफ पहला विस्फोट गत वर्ष रक्षामन्त्री के वक्तव्य के रूप में और दूसरा आणविक विस्फोट के रूप में सामने आया। इससे ऐसा लगा कि इस प्राचीनतम देश भारत की आधुनिक युग में भी जिजीविषा मरी नहीं है। आजकल नई परिस्थितियों के कारण रूस, चीन और भारत की संघबद्धता की चर्चा चलने लगी है। भारत को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूरी परिस्थिति का गंभीर अध्ययन करने के बाद ही इस ओर डग भरने चाहिये। पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ उठाया गया कदम ही उसके और तिब्बत के लिये भी कल्याणकारी हो सकता है। उक्त दोनों देशों के साथ वर्तमान परिस्थिति में मित्रता का हाथ बढ़ाने के साथ भारत को यह नहीं भूलना चाहिये कि इसी भारत ने कभी पूरे विश्व की मानवता को आध्यात्मिकता का संदेश दिया था और आज भी वह भौतिकता की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे विज्ञान को आध्यात्मिकता के साथ जोड़ने में समर्थ है। बिना किसी अहंकार के जब भारत अपने इस स्वरूप का साक्षात्कार कर सकेगा, तभी वह तिब्बत को मुक्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता दिला सकेगा। इसके लिये हमें अपनी परराष्ट्र नीति में परिवर्तन करना होगा।

भारत-तिब्बत मैत्रीसंघ ने तिब्बत की स्वतन्त्रता के लिये तिब्बतमुक्ति-साधना का संकल्प लिया है। यह शुभ विचार है। भारतीय संस्कृति में साधना एक पवित्र शब्द है। इसमें लगा साधक मन, वचन और कर्म से एकाकार हो जाता है। वह स्वयं अपने विचारों में तो परिवर्तन लाता ही है, महात्मा गांधी की दृष्टि के अनुसार अपने विरोधी के विचारों में भी तालमेल बैठाने में लगा रहता है। हमारे विचार में इसका हिमालय की सुरक्षा से कोई संबन्ध नहीं है। कुछ वर्ष पहले कर्णाटक के मुंडगोड नामक स्थान पर, जहाँ सारनाथ के समान ही तिब्बती अध्ययन केन्द्र संचालित है, इस तरह की चर्चा चलने पर इन पंक्तियों के लेखक ने अपने विचार रखे थे। अब भी हमारा विचार है कि तिब्बतमुक्ति-साधना के साथ हिमालय की सुरक्षा के प्रश्न के जुड़ने पर यह साधना कमजोर पड़ जायेगी, लांछित हो जायगी।

धर्मनिरपेक्षता एक वैवर्तिक शब्द

भारतीय दर्शन में सृष्टि की प्रक्रिया को समझाने के लिये विभिन्न दार्शनिकों ने परमाणुवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद का सहारा लिया है। शुक्तिरजत, रज्जुसर्प जैसे उदाहरणों से विवर्तवाद को समझाया जाता है। आजकल का 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द भी इसका अच्छा उदाहरण है। इसीलिये इसकी वैवर्तिक शब्द के रूप में यहाँ विवेचना की जा रही है। विचार करने पर पता चलेगा कि यहाँ सब कुछ उलटा-पलटा है। व्यक्ति भ्रमवश सीप को जैसे चाँदी और रस्सी को साँप समझ लेता है, वैसे ही विभिन्न धर्मों के छलावे में पड़े आधुनिक राजनीतिज्ञ एवं बुद्धिजीवी वर्ग की कल्पना की उड़ान है— यह धर्मनिरपेक्षता। इसको आज एक गंभीर विषय बना दिया गया है और इसकी लपेट में आज भारतीय संस्कृति के स्वरूप को भी मेघाच्छन्न कर दिया गया है, ऐसा भ्रमजाल फैला दिया गया है कि भारतीय जन आज किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है।

पं. जवाहर लाल नेहरू ने प्रधानमंत्री बनने के बाद लार्ड माउंटबेटन की जादुई छड़ी से संचालित हो महात्मा गांधी की भारतीय दृष्टि का परित्याग कर भारत के नव-निर्माण के लिये सर्वात्मना पाश्चात्य दृष्टि का वरण किया। महात्मा गांधी की हत्या तो एक अतिवादी ने की थी, किन्तु पं. नेहरू ने भारत के नवनिर्माण की उनकी सारी योजनाओं को धूलिधूसरित कर दिया। भारत का अंगविच्छेद तो वे स्वीकार कर ही चुके थे, उनकी अशोक महान् बनने की सनक ने कश्मीर और तिब्बत को बलि का बकरा बना दिया। अपने पद को बनाये रखने के लिये उन्होंने एक राष्ट्रवादी संस्था को महात्मा गांधी की हत्या से जोड़ दिया और जिस वर्ग ने भारत माता के टुकड़े करवा दिये, उससे अपना नाता जोड़ लिया। जीप घोटाले से आँख मूँद कर उन्होंने इस देश में भ्रष्टाचार के बीच भी बो दिये। यह आजकल खूब फल-फूल रहा है और इसके कारण यह आध्यात्मिक देश उनके लगाये इस विष-वृक्ष के फल को खाकर अर्धचेतनावस्था में पड़ा हुआ है, इस धार्मिक देश में अर्थ प्रधान हो गया है।

धर्मनिरपेक्षता की परिधि में कम्युनिस्टों का आना तो जायज है ही, क्योंकि वे तो धर्म को अफीम मानते हैं, नेहरू-संस्कृति के मानसपुत्रों का भी इसमें समावेश करना होगा। आश्चर्य तब होता है, जब इस देश का विभाजन करा देने वाली मानसिकता को भी धर्मनिरपेक्ष माना जाता है, धर्मान्तरण को मान्यता देने वाले भी इसकी परिधि में आते हैं। पूरे विश्व को मात्र अपने धर्म के बाड़े में बन्द कर देने को तत्पर धर्मप्रचारक भी आज धर्मनिरपेक्षता का बाना पहने हुए हैं। इससे बढ़कर विवर्त का दूसरा उदाहरण ढूढने पर भी कहाँ मिलेगा। वस्तुतः देखा जाय तो अन्ततः यह शब्द सेमेटिक धर्मों की ही प्रकारान्तर से सेवा-सहायता करने में और भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने में ही तो लगा हुआ है। यही है इसकी वैवर्तिकता।

दूसरी तरफ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दु परिषद्, बजरंग दल तो अपनी जगह पर ठीक ही हैं, भारतीय जनता पार्टी को भी धर्मनिरपेक्षतावादियों ने अपने घेरे से बाहर कर दिया है। भाषावाद, प्रान्तवाद, ब्राह्मणवाद, मनुवाद, अपसंख्यक, पिछड़ी जाति जैसे घेरों में जनता को बाँट कर ये धर्मनिरपेक्षतावादी राष्ट्रवाद की परिभाषा को ही बदलने में लगे हुए हैं। इन्होंने पूरे राष्ट्र को दो खेमों में बाँट दिया है और प्रत्येक समस्या के समाधान पर इनका दृष्टिकोण परस्पर एकदम विपरीत है। इस्लाम में हाथ को उलटा धोया जाता है। इस उलटेपन को उजागर करने वाला एक चुटकुला भी चालू है। एक मुस्लिम सज्जन के खाना खाते समय कुछ अंश थाली से बाहर गिर गया। उसे उठाकर खाना चाहिये या नहीं, इसके लिये वह काजी साहब के पास गये। काजी साहब के पास इसका कोई जबाव नहीं था। उन्होंने सलाह दी कि तुम किसी पंडित के पास जाओ। पंडित जी ने कहा कि थाली से बाहर गिरा अन्न जूठा हो जाता है, उसे नहीं खाना चाहिये। यह सुन काजी साहब ने फतवा दे दिया कि तुम उसे जरूर खाओ। ***आज के धर्मनिरपेक्षतावादियों की और सरहद पर मोमबत्ती जलाने वाले बुद्धिजीवियों की भी यही मानसिकता हो गई है।*** राष्ट्र के सामने आई किसी भी समस्या के समाधान के प्रसंग में आज इसी तरह का परस्परविरोधी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। भारतीय जनता पार्टी द्वारा सुझाया गया समाधान इन धर्मनिरपेक्षतावादियों को कभी नहीं सुहाता। ***इसका प्रमुख कारण है, राष्ट्र की अपेक्षा अपने-अपने दल को अधिक महत्त्व देना। आज देश में जनतन्त्र या गणतन्त्र की अपेक्षा दलतन्त्र का प्राबल्य हो गया है। इस स्थिति में क्या यह देश विश्व का सबसे बड़ा जनतन्त्र कहलाने का हकदार है?***

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नये अध्यक्ष श्री सुदर्शन जी ने भारतीय मुसलमानों को इस्लाम के भारतीयकरण करने की सलाह दी है। श्री बलराज मधोक ने बहुत पहले इस प्रश्न को उठाया था। कश्मीर से जम्मू और लद्दाख को अलग कर देने की अभी उन्होंने एक सही सलाह दी है। उनकी कौन सुनता है? भारत में रहने वाले सभी भारतीय हैं, इसके उत्तर में बहुत पहले हमने लिखा था कि यह एक प्रक्रिया है और इसमें से प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को भी गुजरना होगा। उसी सातत्य में आज कहा जा सकता है कि भारत के महामान्य राष्ट्रपति जी को और इन धर्मनिरपेक्षतावादियों को भी इस प्रक्रिया से गुजरना होगा। तभी यह देश एक सबल निर्भीक राष्ट्र के रूप में उठ सकेगा।

हमारा कहना है कि केवल इस्लाम के ही भारतीयकरण की आज आवश्यकता नहीं है, किन्तु समस्त सेमेटिक धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय प्रधान भारतीय दृष्टि का विकास हो, यह

अतीव आवश्यक है । यह तभी हो सकेगा, जब संघ परिवार में पूरी भारतीय प्रजा को प्रतिनिधित्व मिल सके। आज से एक हजार वर्ष पहले के विश्व साहित्य में 'हिन्दु' शब्द खोजने पर भी नहीं मिलेगा और जब से यह शब्द प्रचलन में आया है, वह एक पराजित जाति का सूचक रहा है। संघ-परिवार को इससे अपने को मुक्त कर लेना चाहिये और *समस्त भारतीय प्रजा के लिये एक सर्वसंमत शब्द को प्रचलन में लाना चाहिये* । मानव का उद्धार इस्लाम या ईसामसीह की शरण में जाने से ही होगा, इस संकुचित विचारधारा का परित्याग विश्वशान्ति के लिये आवश्यक है। *इस सिद्धान्त की स्थापना निर्भीकता के साथ प्रबल युक्तियों के सहारे की जाय, यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है।*

अर्थपिशाच का अकाण्ड ताण्डव

वाराणसी से प्रकाशित हो रहे संस्कृत साप्ताहिक 'गाण्डीवम्' में कुछ वर्ष पहले हमने "प्रादेशिकतापिशाचीग्रस्ता प्राच्यवाणी" शीर्षक संपादकीय लिखा था। उसका "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" में पुनः प्रकाशन हुआ है। प्राच्यवाणी के उपासकों की अखिल भारतीय दृष्टि को जैसे प्रादेशिकता-पिशाची ने जकड़ लिया है, उसी तरह से आज यह पूरा भारत अर्थपिशाच के पंजों में अपना गला फँसा चुका है। *आंग्ल वेषभूषा के अंग नेक-टाई का फंदा जिनके गले में लटका हुआ है, वे इसको अधिक प्रिय हैं* । भारतीय नीतिशास्त्र अर्थ और काम को धर्म के नियन्त्रण में रखने की सलाह देता है, तभी व्यक्ति मुक्ति की ओर बढ़ सकता है। धर्मनिरपेक्ष भारत के सामने आज धर्म और मोक्ष की बात तो जाने दीजिए, नीतिशास्त्र का भी कोई मूल्य नहीं है। फलतः अनियन्त्रित काम की ओर उन्मुख अर्थ पिशाच बन कर नंगा नाच करने लगे, तो इसको कौन रोक सकता है? पूरे भारत में आजकल यही तो हम देख रहे हैं।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भाखड़ा-नंगल जैसे बाँधों को अभिनव मन्दिरों की संज्ञा दी थी। प्राचीन मन्दिरों से इन नये मन्दिरों की विशेषता यह है कि उनका निर्माण तो धार्मिक दृष्टि के संवर्धन के लिये किया जाता था, किन्तु इन नये मंदिरों का निर्माण राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के उद्देश्य से किया जा रहा है। राष्ट्र के निर्माण में महात्मा गांधी की आध्यात्मिक दृष्टि की उपेक्षा कर दी गई और आर्थिक दृष्टि से संपन्न पाश्चात्य जगत् की नकल पर भौतिक और अध्यात्मशून्य वैज्ञानिक दृष्टि का अनुसरण कर देश को अर्थ का दास बनाने का उपक्रम होने लगा है। नेहरू-परिवार की तीन पीढ़ियों के शासनकाल में इस देश का

आर्थिक क्षरण कितना हुआ है, उसका स्वरूप आजकल हमारे सामने आ रहा है। उसकी चरम परिणति पटना आकाशवाणी केन्द्र के बच्चों के कार्यक्रम के माध्यम से हमें सुनाई पड़ी थी।

एक पूर्व प्रधानमंत्री जी के बाबत उनके कार्यकाल के प्रारंभ के दो-तीन वर्षों तक संपादकीय स्तम्भों में उनका महान् दार्शनिक एवं नाना भाषाओं के ज्ञाता के रूप में चित्रण करने वाले जो अग्रलेख लिखे जाते थे, उनकी पुराने समय के चरणों और भाटों द्वारा की गई स्तुतियों से तुलना की जा सकती है। अपने पद को बनाये रखने के लिये उन्होंने क्या किया? यह सब अब हमारे सामने है। हवाला जैसे धंधों से लाभान्वित होने वाले सभी महानुभाव अब सबूत के अभाव में छोड़ दिये गये हैं।

आज प्रशासनिक सेवाओं में लगे अधिकारियों में इसकी खोज के लिये होड़ लगी है कि हममें से सबसे अधिक भ्रष्टाचारी तीन कौन हैं? जयप्रकाश नारायण जैसे भद्र पुरुषों से जुड़े हुए कुछ लोगों को जब हम घोटालों में फँसा हुआ पाते हैं, तो हमारे पैरों के तले से धरती खिसकने लगती हैं। अभिनेताओं और नेताओं की तो चर्चा करनी ही व्यर्थ है, क्योंकि इनके जीवन का प्रत्येक क्षण वास्तविकता से बहुत दूर केवल अभिनय में बीतता है। दर्शकों को और अपने अनुयायियों को नितान्त कृत्रिम वातावरण में पहुँचा देना ही मात्र इनके जीवन का मुख्य लक्ष्य है।

विधानसभा और लोकसभा के सदस्य आजकल अपने को बिकाऊ माल के रूप में पेश करते नजर आते हैं। घूस जैसा काला धंधा अब सुविधा शुल्क के रूप में उजला हो गया है। पुस्तकों पर मिलने वाली छोटी सी कमीशन राशि अब करोड़ों रु. तक पहुँच गई है। क्रिकेट खिलाड़ियों की करतूतों का अभी-अभी जो भंडाफोड़ हुआ है, वह भी अर्थपिशाच का एक कमाल ही है। आज चरणपादुकाओं की प्रशंसा (विज्ञापन) जैसे धंधों में अपने को न्योछावर कर देने वाले बढ़-चढ़कर बातें बनाने लगे हैं। अफ्रीका को दुनिया का सबसे पिछड़ा देश माना जाता है और भारत अपने को आध्यात्मिक दृष्टि से दुनिया का सर्वश्रेष्ठ देश मानता है। आज हमारी स्थिति यह है कि अफ्रीका के खिलाड़ी हैंसी क्रोनिये जितना भी साहस, केवल खिलाड़ियों की बात हम क्यों करें, भ्रष्टाचार में आरोपित किसी भी व्यक्ति में, अभी तक देखने को नहीं मिला है। हमने एक दूसरा निबन्ध लिखा था— "प्रवादे समुत्पन्ने पदत्यागः समुचितः"। ब्रिटेन, जापान जैसे देशों में यह होता है, पर भारत की क्या स्थिति है?

क्रिकेटर राष्ट्र के नाम को चमका कर! अपने को करोड़पति बनाने की धुन में लगे हुए हैं। अभिनेता तो इतने दयालु हो गये हैं कि वे दूसरों को भी करोड़पति बनाने में जुट गये हैं। इनका जब यह हाल है, तो बंगलादेशियों की घुसपैठ कराने वाले सीमारक्षकों को यह कैसे मालूम हो सकता है कि चन्द नोटों के बदले हम राष्ट्र का

कितना अहित कर रहे हैं। घपलेबाज एक-एक कर छूटते चले जा रहे हैं। इनमें अभियोगपत्र प्रस्तुत करने वालों, प्रमाण जुटाने वालों और निर्णय सुनाने वालों की क्या भूमिका है? धर्मान्तरण का, घुसपैठ का, अल्पसंख्यकों की जनसंख्या-वृद्धि का, सीमान्त राज्यों में सत्ता पर कब्जा करने का जो षड्यन्त्र चल रहा है, उसको देखते हुए भी हम नहीं देख रहे हैं। राष्ट्र विभिन्न दृष्टियों की रस्साकशी में फँसा हुआ है। बड़े-बड़े राजनेता और स्तंभकार इसको और भी उलझा रहे हैं। इनकी वजह से भारत में एक राष्ट्रीयता और एक संस्कृति का विकास ही नहीं हो पा रहा है। *क्या इनके पीछे भी बाहरी आर्थिक शक्तियाँ काम नहीं कर रही हैं? क्यों न हम इनको भी क्रिकेटरों की जमात में शामिल कर लें?*

मनुस्मृति का कहना है कि व्यक्ति को अपना और अपने परिवार का जितने से भरण-पोषण हो जाय, उससे अधिक धन नहीं जुटाना चाहिये। महात्मा गांधी ने ट्रस्टीशिप की बात कही थी। भारतीय मनीषियों का कहना है कि इस पृथ्वी पर जितना धन-धान्य, सुवर्ण और स्त्रियाँ हैं, वे एक व्यक्ति के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। आज कोकाकोला, पेप्सी फूड, मैगी जैसी खाने-पीने की चीजों का और विलास के नाना प्रकार के पदार्थों का उधार के धन से आयात किया जा रहा है। मनुष्य की लालसा को कम से कम करना, यह आर्थिक शुद्धि का सिद्धान्त है। उसके स्थान पर आज देश की आय को अधिक से अधिक बढ़ाने का सिद्धान्त भारत ने भी मान्य कर लिया है। धन के पीछे दौड़ने से शान्ति नहीं मिलेगी— "नहि वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"।

देश की समृद्धि का भारतीय आधार समाप्त हो चुका है और उसके स्थान पर नैतिकताविहीन आर्थिक दृष्टिकोण भारतीय प्रशासकों का लक्ष्य बन चुका है। "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"— यह चार्वाक दृष्टि सर्वत्र फैली दिखाई पड़ती है। उधार ली गई धनराशि का उपयोग इस राष्ट्र की जनता की सुख-सुविधा को बढ़ाने में न कर उपभोग को बढ़ाने में किया जा रहा है। उधार ली गई धनराशि में से एक कौड़ी का भी दुरुपयोग देश की आर्थिक परतन्त्रता को ही बढ़ाने वाला है, किन्तु ऐसा करने पर राज-काज से जुटा अमला अपना ठाट-बाट कहाँ से जुटा पायगा? राष्ट्र की अधिसंख्य प्रजा यह सब तमाशा देख रही है। कुछ लोग क्रान्ति की बात करते हैं, *किन्तु भारतीय रक्त में क्रान्ति के बीज पनपे ही नहीं हैं। दुःख की बात यह है कि इस देश में देशभक्ति और सम्प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रीयता का भी दिनानुदिन क्षरण बड़ी तेजी से हो रहा है।*

धर्मनिरपेक्षता बनाम हिन्दुत्व

इन दो शब्दों के कारण आज भारत का प्रबुद्ध वर्ग दो खेमों में बँटा हुआ है। धर्मनिरपेक्षता सेक्युलरिज्म का भोंडा अनुवाद है। यों देखा जाय तो हिन्दुत्व सेक्युलरिज्म को पूरी तरह समर्पित है, क्योंकि इस शब्द से किसी विशेष धर्म की अभिव्यक्ति न होकर भारत में विभिन्न देश-कालों में प्रादुर्भूत धर्मों, सम्प्रदायों एवं पन्थों के एक घुलेमिले स्वरूप का बोध होता है। इसको हम भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में विकसित यूरोपीय सेक्युलरिज्म का भारतीय संस्करण मान सकते हैं। यह एक तथ्य है कि जिस सेक्युलरिज्म की आजकल जोर-शोर से चर्चा की जाती है, भारतीय मनीषा उसको बहुत पहले स्वीकार कर चुकी है। भारत भूमि का कण-कण इसकी साक्षी देता है।

इसके विपरीत अपने को धर्मनिरपेक्षतावादी मानने वाले वर्ग किसी एक विशेष दृष्टिकोण तक ही अपने को सीमित किये हुए हैं। उनकी दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न केन्द्र-बिन्दुओं पर टिकी हुई हैं, किन्तु ये सब इस विषय में एकमत हैं कि हिन्दुत्व के सिवाय भारत में अन्य सारी दृष्टियाँ धर्मनिरपेक्ष हैं! अपने-अपने मत की श्रेष्ठता स्थापित करने में लगे ये वर्ग आपस में भी एक-दूसरे की जड़ खोदते रहते हैं। ऐसा करते समय वे यह भी भूल जाते हैं कि जनतन्त्र में किसी भी राजनीतिक दल को अपना दुश्मन मानने की कोई मान्यता नहीं है, किन्तु ये सब 'हिन्दुत्व' को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानते हैं।

एकेश्वरवादी धर्मों की छत्रछाया में एकाधिकार की तानाशाही प्रवृत्ति के पनपने की भारी गुंजाइश रहती है, क्योंकि वह अपने सामने अन्य सबको हेय समझती है। उसकी यह संकीर्ण मनोवृत्ति उसको धर्मान्तरण के लिए प्रवृत्त करती है। यह भारत का आठवाँ आश्चर्य है कि धर्मान्तरण को मान्यता देने वाला समाज धर्मनिरपेक्ष है और जो इस दूषित दृष्टि से दूर है, उसको आज साम्प्रदायिक आदि अनेक विशेषणों से लांछित किया जाता है, जो उसकी प्रकृति में है ही नहीं। आश्चर्य की बात यह भी है कि इन मिथ्या आरोपों के खिलाफ वे भी कुछ नहीं कहते, जिन पर ये लगाये जाते हैं। भारतीय संस्कृति के दूषक, तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी श्रेष्ठ मानवतावादी माने जाते हैं और हिन्दुत्व के वाहक दुनिया के सबसे निकृष्ट मानव।

इसमें दोष हमारा ही है। एक हजार वर्ष पहले विदेशी आक्रान्ताओं ने यह शब्द हमें दिया था। इससे पहले भारतीय साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग नहीं मिलता। उस समय यह शब्द पूरी भारतीय प्रजा के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु आज वह स्थिति नहीं है। अब तो एक हजार वर्ष तक पराधीन रही जाति के लिये सीमित अर्थ

में यह प्रयुक्त होने लगा है। बौद्धों, जैनों और सिक्खों को भी आज इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो भारत में रहने वाले इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म के अनुयायियों को भी हिन्दु माना जाना चाहिये, किन्तु इस पुराने अर्थ को आज पूरी दुनिया ने नकार दिया है। भारतीय इतिहास को भी तदनुरूप ढाल दिया गया है और ढाला जा रहा है। इसमें हम भारतीयों का सहयोग भी कम नहीं है।

मुस्लिम और ईसाई समाज के लिये तो दूर की बात, आज बौद्ध, जैन और सिक्ख जैसे समुदाय भी हिन्दुत्व के साथ अपने को जोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं और श्रीलंका से आयातित बौद्ध धर्म भी अन्य एकेश्वरवादी धर्मों के समान धर्मान्तरण में आस्था जताने लगा है। क्या हिन्दुत्व में यह सामर्थ्य है कि वह सर्वप्रथम धर्मान्तरण पर रोक लगा सके? सेक्युलरिज्म का मुखौटा लगाकर संकीर्ण एकेश्वरवादी अथवा अन्य किसी आधुनिक मतवाद को प्रच्छन्न या प्रत्यक्ष समर्थन देने वालों का पर्दाफाश कर सके? अपने ऊपर थोपे गये साम्प्रदायिता के मिथ्या आरोप का परिमार्जन कर पूरी भारतीय प्रजा में एकात्मता स्थापित कर सके? आज पूरी मानवता को यह बताने की आवश्यकता है कि इन तथाकथित धर्मनिरपेक्षों में समय-समय पर तानाशाही मनोवृत्ति क्यों जाग उठती है? ये पूरी भारतीय प्रजा को बाहर से उधार ली गई अपनी इन मनोवृत्ति में क्यों ढालना चाहते हैं? मानवता को धोखा देने के लिये अपनी इस दूषित मनोवृत्ति को हिन्दुत्व पर आरोपित करने में ये कैसे सफल हो जाते हैं?

इन सभी प्रश्नों का समाधान हम तभी खोज सकेंगे, जब धर्मनिरपेक्षता अथवा सर्वधर्म-समभाव जैसे शब्दों के स्थान पर 'सर्वधर्म-समादर' शब्द को तथा हिन्दुत्व के स्थान पर 'भारतीयता' शब्द को स्वीकार कर सकें। आज धर्मनिरपेक्ष शब्द का अर्थ 'हिन्दुत्व का विरोध' हो गया है और महात्मा गांधी के अनुयायियों ने सर्वधर्म-समभाव का एक ही अर्थ समझा है कि सभा-संमेलनों के प्रारंभ में सभी धर्मों के पुरोहितों को इकट्ठा कर प्रार्थना की जाय। क्या इतने मात्र से सभी धर्मों में परस्पर समान भाव जाग सका है? इसके लिये तो गंभीरता से एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की, तर्कपद्धति से हर-एक मजहब के गुण-दोषों की समीक्षा की अपेक्षा है। क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध— सभी धर्मों और दर्शनों में खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थ की पद्धति से सैकड़ों वर्षों तक विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है। क्या आज के मजहबी घरौदों में वह संभव है? सर्वधर्म-समभाव की वास्तविक प्रतिष्ठा तो तब हो सकती है, जब धर्मान्तरण पर पूरी तरह से पाबन्दी लगा दी जाय और विभिन्न वर्गों में सही समालोचना को सुनने-समझने की मनोवृत्ति जाग सके। मानवता के कल्याण

के लिये धर्मों की ज्येष्ठता-कनिष्ठता पर भी हमें विचार करना होगा। समभाव के रहते यह संभव नहीं है, तो भी हम सभी धर्मों का आदर करना तो सीख ही सकते हैं।

आज तो विश्व भर में हिन्दुत्व को सबसे निकृष्ट विचारों का वाहक सिद्ध करने का योजनाबद्ध प्रचार चल रहा है और कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय पत्रकारिता भी इसमें किसी से पीछे नहीं है। ऐसा क्यों है? विचार करेंगे तो पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति के प्रतीक हिन्दुत्व को आज संस्कृति के स्थान पर धर्म से जोड़ दिया गया है और ब्राह्मणवाद एवं मनुवाद की एक संकीर्ण परिधि में उसको दुनिया के सामने पेश किया जा रहा है। ***विश्व में अपना स्थान बनाने के लिये जैसे हमें परमाणु-विस्फोट करना पड़ा, उसी तरह से विश्व को भारतीय संस्कृति का सही स्वरूप समझाने के लिये एक सांस्कृतिक-विस्फोट की भी आज आवश्यकता है ।***

इसके लिये बौद्ध, जैन और सिक्ख धर्म को हिन्दुत्व की परिधि में लाना होगा, क्योंकि वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि धर्मों की तरह उनका भी उद्भव और विकास प्रथमतः भारत में हुआ है, किन्तु आजकल यह फैशन सा चल पड़ा है कि ***अपने को प्रबुद्ध और प्रगतिशील सिद्ध करने के लिये प्रत्येक विचारक हिन्दु धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं रखना चाहता। एकेश्वरवादी मनोवृत्ति से यह समरस है।*** हमने "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" नामक अपने ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति का परिनिष्ठित स्वरूप कैसा होना चाहिये, इस पर पूरे भारतीय वाङ्मय की पृष्ठभूमि में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने वैदिक और औपनिषद धारा के साथ इस्लाम और खीष्ट धारा का भी समावेश कर पौराणिक, आगमिक एवं सन्तधारा के साथ बह रही संस्कृति-गंगा की अवधारणा स्थापित की है। इस विषय पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना होगा।

हिन्दू धर्म की अपेक्षा ***बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता के समान ही आजकल गंगा-यमुनी संस्कृति की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने का भी अबाध प्रयत्न चल रहा है।*** महर्षि पतंजलि के शब्दों में यह एक प्रकार का विकल्प-व्यापार है। गंगा और यमुना की धाराएं थोड़ी दूर तक अलग-अलग चलती अवश्य दिखाई देती हैं, किन्तु अन्त में वे एकरस हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति की इस एकरसता को ही 'सनातन धर्म' नाम दिया गया है। यह भारतीय धर्मों की विभिन्न शाखाओं एवं उनके प्रवर्तकों के प्रति पूरा आदरभाव प्रदर्शित करती है और उनके श्रेष्ठ अवदानों को स्वीकार कर लेने में कोई संकोच नहीं दिखाती। यह इस्लाम एवं खीष्ट धर्म के उत्कृष्ट अवदानों को भी अपने में समेटने में तत्पर है। सनातन धर्म की परिभाषा में आने वाले अधिकांश धर्मों ने अपने परस्पर के मतभेदों को मिटाने का प्रयत्न किया है, किन्तु ***खीष्ट धर्म एवं इस्लाम धर्म ने इस प्रक्रिया को अभी तक स्वीकार नहीं किया । जब तक धर्मान्तरण की प्रक्रिया चलती रहेगी, तब तक यह संभव भी नहीं है।***

मीमांसाशास्त्र के एक प्राचीन विद्वान् ने कहा था कि हम भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वह चर्मपात्र में रखे घृत के समान अग्राह्य है। उनका यह मत स्वीकार्य नहीं हुआ और आज प्रत्येक संकल्प-वाक्य में बुद्धावतार को स्मरण किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों की आज कमी नहीं है, जो अणु विस्फोटों को इस लिये महत्त्व नहीं देना चाहते कि भारतीय जनता पार्टी ने यह किया है। वे इस शासन को भी एक सप्ताह के भीतर हटाना चाहते हैं, क्योंकि ऐसा न करने पर उनकी दृष्टि में भारत की छवि बिगड़ जायगी। ऐसे व्यक्तियों में सद्बुद्धि का संचार तभी हो सकता है, जब भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप से इनको परिचित कराया जाय। आज भी मन्द गति से यह प्रक्रिया चल रही है। इसमें गति तब आ सकती है, जब प्रशासनिक स्तर पर भी यह कार्य किया जाय। किन्तु जैसी परिस्थितियाँ उपस्थित हैं, उससे तो ऐसा लगता है कि इस कार्य को पूरा होने में अभी पर्याप्त समय लगेगा।

प्रशासनिक स्तर पर यह कार्य दो राजनीतिक दल कर सकते हैं। वे हैं—राष्ट्रीय कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी। कांग्रेस नेहरू-संस्कृति एवं तुष्टीकरण के प्रभाव से मुक्त होकर यह कार्य कर सकती है और भाजपा "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" इस नारे से मुक्त होकर। इस्लाम में उग्रवाद के रहते संघ-परिवार अथवा शिवसेना जैसे संगठनों की उपयोगिता मानी जा सकती है, किन्तु भाजपा को हिन्दुत्व के स्थान पर अपने नाम के अनुरूप भारतीयता से जुड़ना चाहिये। क्या ये दोनों दल वर्तमान समय में अपने स्वरूप को बदलने में समर्थ हैं? यह हमारे लिये शुभसंकेत है कि १५ अगस्त को लाल किले की प्राचीर से भारत के प्रधानमंत्री माननीय अटलबिहारी वाजपेयी हिन्दुत्व की अपेक्षा भारतीयता पर जनता का ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

विश्व हिन्दु परिषद् अयोध्या, काशी और मथुरा के प्रश्न को धर्म से जोड़कर उसका समाधान खोज रही है, यह भी सही नहीं है। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर सांस्कृतिक समस्या है और यह उन सभी देशों से जुड़ी है, जहाँ-जहाँ मध्यकालीन बर्बरता ने मठों, मन्दिरों, पुस्तकालयों और विश्वविद्यालयों के ध्वंस के रूप में कभी अपना कहर ढाया था। चीन के द्वारा अभी हाल में जिस तरह तिब्बतियों को उजाड़ने का प्रयत्न किया जा रहा है, उसकी अपेक्षा अधिक घिनौने रूप से यह कार्य हुआ था। जिस सांस्कृतिक विस्फोट की हम चर्चा कर रहे हैं, उसकी परिधि में भारत के साथ पूरी दुनिया में इस तरह के सभी अतिक्रमणों को लाना होगा। इसराइल इस कार्य में हमारा सबसे गहरा मददगार हो सकता है। मिस्र, मेसोपोटामिया (ईराक), ईरान (फारस) आदि देश अपनी समृद्ध संस्कृतियों से सम्पन्न थे। आज पुनः इन सब

देशों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बयार बहे, यह बहुत जरूरी है। अन्यथा बंगला देश की स्वतंत्रता के समान हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होंगे।

इसके लिये हमें पाकिस्तान, चीन और अमेरिका के शासकों से नहीं, पूरे विश्व की जनता के साथ अपेक्षित संपर्क साधना होगा और *भारतीय संस्कृति के सार्वभौम स्वरूप की न केवल भारतीय प्रजा, अपितु सारी मानवता को जानकारी देनी होगी। यह तभी हो सकेगा, जब भारत और पाकिस्तान को एक तराजू पर तौलने की विश्व की मनोवृत्ति को नियन्त्रित किया जा सके।* इसके लिये भारतीय प्रशासन को चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि कोई भी देश भारत और पाकिस्तान की यात्रा एक साथ न कर सके। इसमें कम से कम तीन मास का अन्तराल अवश्य रहे, इस बात पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। इसके लिये अणु विस्फोट की निर्भयता एवं सुदृढ़ संकल्प-शक्ति अपेक्षित है।

भारतीय संस्कृति की उदार दृष्टि

आजकल के विभिन्न धर्मों के प्रचारक भारतीय संस्कृति और धर्म पर मिथ्या आरोप लगा कर उसको धूलि-धूसरित कर देना चाहते हैं और वर्तमान राजनेतागण एवं बुद्धिजीवी वर्ग इस प्रचार से अभिभूत-से हो गये हैं। इसी कारण प्रजा पर भी इस दुष्ट प्रचार के बादल मंडराने लगे हैं। ब्राह्मणवाद, मनुवाद, वर्णाश्रमव्यवस्था जैसे शब्दों का उन अर्थों में प्रयोग होने लगा है, जिनको स्वयं भारतीय संस्कृति ने आज से कम से कम एक हजार वर्ष पहले अवश्य ही नकार दिया था। कौआ कान ले गया, सुनकर कान सही सलामत हैं या नहीं, इसको बिना जाने हम कान की खोज में निकल पड़े हैं। इस दुष्प्रचार में कुछ प्रबुद्ध भारतीय सुधारवादियों का भी कम हाथ नहीं है, जिन्होंने धर्म, दर्शन और संस्कृति के क्षेत्र में हुई एक लम्बी विकासवादी परम्परा को नकार दिया।

सिद्धान्तवादी २८ शैवागमों में मुकुटसंहिता का विशेष स्थान है। इसके वचनों को उद्धृत कर कश्मीर (उत्तर) के महान् शिवाचार्य अभिनवगुप्त ने और दक्षिण (चोल देश) के महेश्वरानन्द ने समान विचार प्रकट किये हैं। उदाहरण के लिये यहाँ दो श्लोकों का अर्थ प्रस्तुत किया जा रहा है— "मायावी द्विज परित्याज्य है और सरलचित्त म्लेच्छ संग्राह्य। यह शिव को प्रिय है, अहंकारी चतुर्वेद का अध्येता नहीं।। ब्राह्मण पाप करता है और शूद्र सुकृत। ऐसी स्थिति में धर्म और अधर्म के प्रति जाति की कोई भूमिका नहीं होती।।" अभिनवगुप्त के परमेष्ठी गुरु (चौथी पीढ़ी के) शिवदृष्टिकार सोमानन्द कालपादा संहिता के प्रमाण से श्वपचों को भी दीक्षा-योग्य मानते हैं।

महाभारत और आगम-तन्त्रशास्त्र के समान पुराणों में भी इस तरह के वचन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। आज भारतीय समाज की जिन समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर परोसा जा रहा है, उनका समाधान यहाँ बहुत पहले खोज लिया गया था और पूरे भारत की सन्त-परम्परा उसी मार्ग का उद्‌घोष कर रही है। यह भी हमारी मूढ़ता ही है कि इस सन्तों की वाणियों को हम स्वयंप्रसूत मान बैठे हैं और भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा से —रामायण, महाभारत, पुराण, आगम-तन्त्रशास्त्र से उनकी सम्बद्धता को भुला बैठे हैं। संस्कृत भाषा के प्रति फैलाये गये द्वेष की इसमें प्रधान भूमिका है। आज अपने-अपने राज्य की भाषा का मोह उस अमृतस्रोत को सुखाने जा रहा है, जो इस दुनिया की सबसे प्राचीन, सबसे समृद्ध भाषा से प्रसूत होता रहा है और आज के कम्प्यूटर युग में भी जिसने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी है।

आज वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के उस प्राचीन स्वरूप को तो जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनमें विषमता प्रधान थी, किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक संघर्षों के कारण जो परिवर्तन आये, आगम-तन्त्रशास्त्र ने भारतीय धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का जो महनीय कार्य किया, उसको हम भुला बैठे हैं। हमने एक जगह लिखा है कि धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न आगम-तन्त्रशास्त्र ने किया है और उसी में यह सामर्थ्य है कि अन्ततः वह आन्तर आध्यात्मिक दृष्टि और बाह्य भौतिकवाद में भी समन्वय स्थापित कर सकेगा।

तन्त्रशास्त्र की कुछ मान्यताएँ हमारे लिये समालोच्य हो सकती हैं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हम पूरे आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र का तिरस्कार कर दें। आश्चर्य इस बात का है कि तन्त्रशास्त्र का जो हेय पक्ष है, उसीसे आज के योगी, स्वामी, ब्रह्मचारी नामधारी जीव ज्यादातर जुड़े हुए हैं और उनको सामान्य जनता में ही नहीं, भारतीय समृद्ध वर्ग, राजनेतागण और तथाकथित बुद्धिजीवियों के बीच भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। आगमशास्त्र में ऐहिक और आमुष्मिक सामान्य सुख (अभ्युदय) के अर्थ में प्रयुक्त भोग शब्द को जिन्होंने सम्भोग के अर्थ में ला पटका है, उनको आज भगवान् से भी ऊँची जगह में पहुँचा दिया गया है।

वर्णाश्रमव्यवस्था को नये सिरे से जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः" (४.१३) गीता का यह वाक्य इनका प्रधान सम्बल है। पर हम देखते हैं कि बड़े परिश्रम से कोई शास्त्री उपाधि प्राप्त करता है; दो-तीन या चार वेदों को पढ़कर नये सिरे से द्विवेदी, त्रिपाठी, चतुर्वेदी बन पाता है, किन्तु उसके उत्तराधिकारी बिना परिश्रम के ही अनायास इन उपाधियों को हथिया लेते हैं, इनसे अपना मोह नहीं छुड़ा पाते। समाज में बुद्धिबल, बाहुबल, धनबल और श्रमशक्ति की सदा प्रतिष्ठा रहेगी, किन्तु आज परिस्थिति पहले जैसी नहीं रह गयी है।

अकेली बुद्धि, अकेली शक्ति, अकेला धन, अकेला श्रम आज कुछ भी करने में असमर्थ है। सबको एक-दूसरे की अपेक्षा है। यह सब होते हुए भी हम वर्णों की और जाति-उपजातियों की शृंखला को तोड़ नहीं सकेंगे।

एक काम हम कर सकते हैं कि इनमें घुसे मिथ्याभिमान को तोड़ने का प्रयत्न करें। वह इस तरह से कि ऊँच-नीच की भावना को हम मिटा दें, बुद्धि को श्रेष्ठ और श्रम को कनिष्ठ मानना बन्द कर दें। धर्म, जाति, कुल, वंश, धन, विद्या और सांसारिक ऐश्वर्य के स्थान पर हम मनुष्य के चरित्र को वरीयता दें। आगम-तन्त्रशास्त्र ने इस कार्य को किया है। स्त्री-पुरुष और ब्राह्मण-चाण्डाल के भेद को उसने मिटाने का प्रयत्न किया है। बिना धर्म, जाति, विद्या और लिंग का विचार किये सन्तों को समाज में ऊँचा स्थान मिला है। मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा और डॉ. भीमराव अम्बेडकर को बाबासाहब बनाया है।

ख्रीष्टीय और इस्लामिक एकेश्वरवाद की पृष्ठभूमि में वैदिक धर्म की नयी व्याख्या करने का प्रयास हुआ है। भारत में बौद्ध धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न भी थेरवाद की पृष्ठभूमि में हुआ है। इसमें महायान और मन्त्रयान को, चीनी-जापानी-तिब्बती आदि भाषाओं में हुए विशाल अनुवाद साहित्य को उसी प्रकार भुला दिया गया है, जैसे वैदिक धर्म के पुनरुद्धारकों ने आगम-तन्त्रशास्त्र और पौराणिक वाङ्मय को नकार दिया। इस विचारधारा के समर्थक कुछ अखबार और बुद्धिजीवी भारत की दो ढाई-हजार वर्ष की वैचारिक परतन्त्रता की चर्चा करते रहते हैं। जाने-अनजाने में ऐसे विचारक पाश्चात्य दुष्प्रचार के मोहरे बन गये हैं।

सर्वधर्म-समभाव एक अच्छी कल्पना है, किन्तु हमें इतना तो देखना ही होगा कि क्या सभी धर्मों के अनुयायी इसके लिये आवश्यक योग्यता की कसौटी पर खरे उतर रहे हैं? धर्मान्तरण एक अत्यन्त हीन अधिनायकवादी मनोवृत्ति की उपज है। पूरी मानवजाति को उच्च मानसिक धरातल तक पहुँचाने के लिये हमें दो-ढाई हजार वर्षों में विकसित भारतीय साहित्य का ही मुख्य रूप से सहारा लेना होगा। तभी हम भारतीय धर्म और संस्कृति पर बिना सोचे-समझे किये जा रहे मिथ्या आक्षेपों का सही उत्तर दे सकेंगे और दुनिया के अत्यन्त पिछड़े मजहबों के चंगुल में फँसी मानवता का उद्धार कर सकेंगे। क्या हम आतंकवाद को प्रश्रय देने वाले और सर्वत्र सुख-शान्ति का संदेश देने वाले धर्मों को एक तराजू पर तौलने को सही मानेंगे? वेदों के साथ खींचतान करने से यह सम्भव नहीं हो सकेगा। सभी धर्मों की इस तरह की खींचतान के कारण ही भारत में आज एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की प्रतिष्ठा नहीं होने पा रही है।

भारतीय संस्कृति और धर्मनिरपेक्षता

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गायी गयी है। भूः, भुवः और स्वः शब्दों से ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्युनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषत् क्या बला है? उसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्ट विचारों का अद्भुत खजाना है। करुण रस को उत्कृष्टतम कोटि में पहुँचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की वाणी का अनुगमन करता है, अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के धर्मनिरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस बुरी घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था केवल भारतीय प्रजा के लिये ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिये उपयोगी है। इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य अपसंस्कृतियों की चकाचौंध के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है और उन्होंने चार पुरुषार्थों में से प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में सारी ताकत झौंक दी है तथा देश को अर्थ और काम की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं— इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार का आचरण मात्र दिखावे के लिये भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं— सन्तोष, क्षमा, मन को वश में रखना, न्याय से धन कमाना, पवित्रता, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया गया है। हमें मानव-मन की शुद्धि के लिये बाह्य आडम्बरों को छोड़कर धर्म के इस आन्तर स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिये, जिससे पूरी मानव जाति सुख-शान्ति से रह सके।

योगभाष्यकार का कहना है कि चिकित्साशास्त्र के समान योगशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। जैसे चिकित्साशास्त्र रोग के स्वरूप और उसके कारणों की परीक्षा कर मनुष्य के शरीर को स्वस्थ करता है, उसी तरह से योगशास्त्र भी दुःख के स्वरूप और उसके कारणों की समीक्षा कर मानव-मन को उससे छुटकारा दिलाता है। महात्मा बुद्ध ने इस तथ्य का साक्षात्कार चार आर्यसत्यों के रूप में किया था और तीर्थंकर महावीर ने हमें अहिंसा आदि पांच महाव्रतों की शिक्षा दी थी। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को नये आयाम दिये हैं।

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पुंजीभूत स्वरूप है। इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष का अर्थ होता है नैतिकताविहीन समाज, अर्थ और काम का दास समाज। यह धर्मनिरपेक्ष शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ नैतिकताविहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है, सत्ता में आने के साथ इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह बनी रहे।

भारतीय दर्शन और संस्कृति में चार पुरुषार्थों को स्वीकार किया गया है। इनमें धर्म का पहला स्थान है। धर्म के बिना अर्थ और काम अनियन्त्रित हो जाते हैं, जैसा कि आजकल हो रहा हैं। सिनेमा और टेलीविजन इसमें घी की आहुति दे रहे हैं। ***इन माध्यमों से समाज को सुसंस्कृत किया जा सकता था, किन्तु धर्मनिरपेक्षता हमें ऐसा नहीं करने दे रही है।*** अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' के पर्याय के रूप में 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' शब्द गढ़ा गया है। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गयी हैं कि एक 'सेक्युलर' शब्द के लिये 'धर्म-निरपेक्ष' जैसे दो शब्द गढ़े जायँ और वे भी ऐसे जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। ***अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम अन्य आशा भी क्या रख सकते हैं?***

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत-धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है, वह अविकृत कभी हो ही नहीं सकती। इस देश का जब तक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक एक संस्कृति की बात करना बेकार है। यह प्रसन्नता की बात है अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में यह शब्द प्रयुक्त नहीं होता। वहाँ सेक्युलर शब्द का अनुवाद 'बिन सम्प्रदाय' किया गया है। ***यदि हमें भारत में एक संस्कृति की स्थापना करनी है, तो सबसे पहले हमें इस धर्मनिरपेक्ष शब्द से पूरे प्रचारतन्त्र को मुक्त करना होगा*** **और सेक्युलर शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा।**

भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम नहीं कर पाये हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के स्तानों और लैण्डों के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बांट देने के

लिये हमें आमादा कर दिया है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिये थी, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया है। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है? आज की भारतीय संस्कृति के तो प्रवक्ता शंकर, रामानुज, निम्बार्क और वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण के आलवार और नायनार, वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रचारित उस भक्ति सम्प्रदाय का ही तो आसाम तक सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें लिंग और वर्ण का भेदभाव किये बिना "हरि को भजे सो हरि का होई" जैसे उदात्त सिद्धान्त की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, मुक्ताबाई, मीराबाई, रहीम, दादूदयाल जैसे भक्त-सन्तों को दिया है। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गांधी को महात्मा कहा गया और डॉ. भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी इसी परम्परा की देन है। तो क्यों हम पाश्चात्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृभूमि को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिये उतावले हो उठे हैं? क्या यह धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रभाव नहीं है?

आखिर कैसे थमे धर्मान्तरण की गति ?

दैनिक 'आज' के दो अंकों (दिनांक १६-१७ नवम्बर, सन् १९७२) में हमारा "वर्णाश्रम धर्म, दलित जातियाँ और धर्म परिवर्तन" शीर्षक लेख छपा था। उसी समय हमने "बौद्ध दीक्षा : एक समीक्षा" शीर्षक लेख भी लिखा था और इसी विषय से सम्बद्ध तीसरा लेख १.१०.८१ के दैनिक 'आज' में ही "क्या धर्मपरिवर्तन की गति थमेगी?" शीर्षक से छपा। ये सभी लेख पुस्तक का आकार ले चुके हैं। हम देखते हैं कि उस समय इस विषय पर कोई चर्चा नहीं हो पायी और आज इस समस्या ने विकराल रूप ले लिया हैं। हमने उसी समय इस समस्या का अपना समाधान भी प्रस्तुत किया था कि इसके लिये देश में ईसाईकरण, इस्लामीकरण, हिन्दूकरण आदि की चर्चा बन्द हो और समग्र भारतीय प्रजा में भारतीयकरण की प्रक्रिया चालू हो। डाक्टर बलराज मधोक ने इस चर्चा को उठाया, तो उत्तर मिला कि सारी प्रजा तो भारतीय है ही, इसके लिये किसी प्रयत्न की क्या दरकार है? एक महान् देश के प्रधानमन्त्री का यह कितना हास्यास्पद छिछला उत्तर था।

उस समय हमने लिखा था कि भारतीयकरण की प्रक्रिया से इस राष्ट्र की प्रधानमन्त्री प्रियदर्शिनी इन्दिरा गांधी को भी गुजरना पड़ेगा और अब हम इसमें इतना और जोड़ना चाहते हैं कि इस देश के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को भी इस

प्रक्रिया में से गुजरना होगा कि राष्ट्र की सत्ता सर्वोपरि है। एक राष्ट्र की सत्ता को ही नकार देने वाले तत्त्व जब सक्रिय हों, तब उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है, किन्तु यहाँ तो शाहबानो जैसे केसों में सर्वोच्च न्यायालय को ही पंगु बना दिया जाता है। देश के प्रबुद्ध विचारक विभिन्न खेमों में बंटे हुए हैं, विभिन्न मतवादों से घिरे हुए हैं। आज देश की बजाय उनको अपने 'अहं' की अधिक चिन्ता है। प्राचीन गणतन्त्र कैसे नष्ट हो गये, इसके विषय में संस्कृत में एक श्लोक है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद् व्यक्तमवसीदति।।

जहां ढेर सारे नेता हैं, सब अपने को दूसरे से बढ़कर बुद्धिमान् मानते हैं और सभी सर्वोच्च पद को पाना चाहते हैं, वह गणतन्त्र अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

आज भारतीय मनीषा की भी यही स्थिति हो गयी है। "अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग" सब कोई गा-बजा रहे हैं। देश की विकराल समस्याओं के समाधान के लिये भी इनमें कोई ऐकमत्य नहीं है। धर्मान्तरण भी एक ऐसी ही समस्या है। इस पर भी ये एकमत न हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। ***धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्मान्तरण की अनुमति हो, यह भी भारतीय संविधान की अनोखी खोज ही मानी जायगी***। भारतीय राजनीति जब एकमति से इसको समस्या ही नहीं मानती तो उसके समाधान की खोज का प्रश्न ही कहाँ उठता है। उसने तो उसको और भी विकराल रूप दे दिया है। अब यह इस राष्ट्र को ही निगल जाने को उद्यत है। विश्व साहित्य में बाइबिल के बाद भगवद्गीता के विश्व की सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद बिना किसी धार्मिक जुनून के हुए हैं। भगवद्गीता का कहना है कि भले ही अपने धर्म में कुछ कमी निकाली जाय, बिना किसी संकोच के मनुष्य को उसीका आचरण करना चाहिये। अपने धर्म के लिये मर मिटना ठीक है, किन्तु अन्य के धर्म का अनुसरण कभी निरापद नहीं माना जा सकता।

इस वचन के विपरीत देश का अधिकांश भाग धर्मान्तरण की चपेट में आ चुका है, तो भी काशी का पण्डित-समाज आज भी शास्त्रों की कुछ पंक्तियों में ही उलझा हुआ है और लोकैषणा में आकण्ठ डूबे काशी के मठाधीश इनको इस घेरे से बाहर नहीं निकलने देते। धर्मान्तरण जैसी देश की ज्वलन्त समस्या का समाधान खोजने की इनको फुरसत नहीं है। शास्त्रार्थ देश की सामयिक समस्याओं पर भी किया जा सकता है, किन्तु आँख पर पट्टी बाँधे और कान में रुई डाले ये लोग अपने रास्ते से डिगना नहीं चाहते। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि आज के बहुसंख्यक समाज का संचालक विद्वान् ब्राह्मण नहीं, ये मठाधीश हैं। ब्राह्मणों की भूमिका तो आज चारणों की-सी हो गयी हैं।

भारतवर्ष में दो तरह की दृष्टि बहुत पहले से चली आ रही है--एक तरफ वशिष्ठ-विश्वामित्र की और दूसरी तरफ सत्यकाम-जाबाल से लेकर सत्याग्रही महात्मा गांधी तक की। पहली दृष्टि को हम धर्म से और दूसरी को संस्कृति से जोड़ सकते हैं। इनमें कभी धार्मिक दृष्टि प्रबल हो जाती है, तो कभी सांस्कृतिक। शान्तिकाल में सांस्कृतिक और आपत्काल में धार्मिक दृष्टि का प्रबल हो उठना स्वाभाविक है। हम कह सकते हैं कि विगत एक हजार वर्षों में धार्मिक दृष्टि प्रबल थी और यह ठीक भी था, क्योंकि इसी धार्मिक कट्टरता ने तथा अपनी भाषा और शास्त्रों के प्रति अगाध अनुराग ने इस देश को मिटने नहीं दिया। अब देश स्वतन्त्र हो गया है। उसी दृष्टि का अनुवर्तन अब देश के लिये अधिक उपयोगी नहीं रह गया है। अब सांस्कृतिक दृष्टि के प्रवर्तन की अपेक्षा है।

उत्तेजना के क्षणों में बाबरी ढांचे को ढहाये जाने की घटना हो, या अल्पसंख्यकों से सम्बद्ध अन्य कोई भी छोटी-मोटी घटना, तिल का ताड़ बनाकर प्रचारित करने वाले पेट्रो-अमेरिकन डालर के दास प्रचार-माध्यम एवं राजनेतागण तथा पण्डित नेहरू से लेकर आज तक के प्रायः सभी प्रधानमन्त्री, बहुसंख्यकों को भारतीय सहिष्णुता की याद दिलाने से बाज नहीं आते, किन्तु उन्होंने इस बात पर क्या कभी गौर फरमाया है कि विगत एक हजार वर्ष से इस देश में रह रही विदेशी संस्कृतियों ने इस गौरवमयी परम्परा का, जिसका कि वे निरन्तर गुणगान करते रहे हैं, अनुसरण क्यों नहीं किया? सलमान रुश्दी को बीसा देने की चर्चा उठी। इसके खिलाफ सोचे-समझे तरीके से आवाजें उठ रही हैं और उसमें अब सेक्युलर राजनीतिज्ञ भी शामिल हो गये हैं। शाहबानो, धर्मस्थल-विधेयक, वन्देमातरम्, सरस्वती वन्दना, देवियों का नग्न चित्रण जैसे अवसरों पर इस विकृति को हम देख चुके हैं। क्या युवा-तुर्कों को अब सांप सूँघ गया है। काश, ऐसे लोग आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे प्रबुद्ध चिन्तक की भारतीय संस्कृति की परिभाषा से परिचित होने का तथा अन्य वर्गों को भी भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाने का कष्ट उठाते। क्या इनके सारे उपदेश बहुसंख्यकों के लिये ही हैं? ***हमारी समझ में जब तक हम 'सेक्युलर' शब्द का सही अनुवाद नहीं खोज लेते, तब तक के लिए मूल अंग्रेजी शब्द से ही व्यवहार चलाना उचित होगा। टी.वी. के माध्यम से जब हमें प्रतिदिन नये-नये अंग्रेजी शब्द परोसे जा रहे हैं, उस स्थिति में एक 'सेक्युलर' शब्द से परहेज कर 'धर्म-निरपेक्षता' जैसे दो शब्दों में उसका असांस्कृतिक अनुवाद करने की क्या आवश्यकता है? धर्मान्तरण की अपेक्षा धर्मनिरपेक्षता हमारे लिये अधिक घातक है, क्योंकि धर्मान्तरण तो कुछ कर्मकाण्डों तक ही सीमित है, जबकि धर्मनिरपेक्षता भारतीय भावनाओं को ही निस्तेज बनाये जा रही है। पेट्रो-अमेरिकन डालर द्वारा***

संचालित पूरा प्रचार-माध्यम इसीमें लगा हुआ है। धर्मनिरपेक्षता के वशीभूत व्यक्ति भारतीय संस्कृति को समझ ही नहीं सकता।

धर्मान्तरण एक अशुभ कार्य है। अन्य धर्मों के प्रति घृणा की गन्ध इसमें से निकलती है। महात्मा गांधी के सर्वधर्म-समभाव के विपरीत इसमें धर्मों की श्रेष्ठता और कनिष्ठता के भाव भरे हुए हैं। स्वामी विवेकानन्द रोमन जाति के अत्याचारों से पीड़ित यहूदियों की और इस्लाम के आक्रमण से पीड़ित पारसी जाति की भारत में शरण लेने की चर्चा करते हैं और सारे संसार को चुनौती देते हैं कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में एक भी ऐसी उक्ति दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि हिन्दुओं का ही उद्धार होगा, दूसरों का नहीं। दुनिया की सारी असहिष्णु संस्कृतियाँ मिलकर सबको शरण देने वाले इस देश में घुसकर इस पवित्र भारतीय संस्कृति पर चारों तरफ से आक्रमण कर रही हैं। पूरे साहस और दृढ़ता के साथ निर्भय होकर हमें इस दुष्प्रचार का सामना करना होगा।

असत्य का, छल-छद्म का सहारा लेकर अथवा जोर-जबर्दस्ती धर्मान्तरण कराया जा रहा है, इस विषय में प्रायः सभी प्रबुद्ध भारतीय चिन्तक एकमत हैं। भारतीय धर्मशास्त्रों में वैदिक एवं तान्त्रिक द्विविध श्रुतियों को मान्यता दी गयी है। इसमें तान्त्रिक श्रुति में मानवमात्र को अधिकारी माना गया है। इस शास्त्र से अनुप्राणित पूरे भारतवर्ष के भक्तों, सिद्धों, नाथों, सन्तों, गुरुओं और सूफियों के द्वारा निर्मित भाषा-साहित्य में— "जात-पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई" जैसे कथनों की गूँज सुनाई पड़ती है। जात-पाँत को तोड़ने की नहीं, इसके भीतर घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि का परिष्कार करने की आज आवश्यकता है। सन्त साहित्य में चरित्र को वरीयता दी गयी है। उसीको आज सर्वोच्च मान्यता मिलनी चाहिये, तभी धर्मान्तरण की गति थमेगी। ईसाई मिशनरी असत्य आक्षेपों के सहारे भारतीय धर्मों के दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हुए अभावग्रस्त व्यक्तियों के धर्मान्तरण में सेवाभाव के बहाने लगी हुई है। आक्रमण और हिंसा इनके प्रतीकार के उपाय नहीं है। आज आवश्यकता है कि ***सन्त-महात्मा समाज से अपनी सेवा लेने के बजाय अभावग्रस्त पीड़ित मानवता की सेवा के लिये भी कुछ समय निकालने का प्रयत्न करें। धर्मान्तरण की गति तभी थम सकेगी।***

छद्म-धर्मनिरपेक्षता बनाम भारतीय सहिष्णुता का क्षरण

हम बता चुके हैं कि धर्मनिरपेक्षता एवं हिन्दुत्व—इन दो शब्दों के कारण आज भारतीय प्रबुद्ध वर्ग दो खेमों में बँटा हुआ है। वही स्थिति 'छद्म-धर्मनिरपेक्षता' और 'भारतीय सहिष्णुता का क्षरण' की भी है। हमें ऐसा लगता है कि पहला शब्द संघ परिवार के थिंक टैंक द्वारा प्रचारित है और भारतीय सहिष्णुता के क्षरण की अधिकाधिक चर्चा गुजराल-डाक्ट्रिन के इर्द-गिर्द घूम रही है। आजकल इस क्षरण से सर्वाधिक पीड़ित व्यक्ति माननीय चन्द्रशेखर सिंह जी हैं। बाबरी ढांचे के ढहाये जाने के बाद से ही वे हिन्दुत्व से जुड़े व्यक्तियों में सहिष्णुता के क्षरण के प्रति बहुत अधिक चिन्तित हैं। थोड़ा ठहर कर हम इन दोनों शब्दों पर विचार कर लें तो अच्छा होगा।

आज की दूरदर्शन की खिचड़ी भाषा को हजम कर लेने वालों को थिंक, टैंक, डाक्ट्रिन जैसे शब्दों का प्रयोग अनोखा नहीं लगेगा, किन्तु काशी में कभी ऐसे भी विद्वद्गोष्ठियाँ होती थी, जिनमें भूल से भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करने वालों को प्रत्येक शब्द के लिये जुर्माना देना पड़ता था। अंग्रेजी भाषा के खिलाफ डॉ. राममनोहर लोहिया ने और उनके शिष्य जनाब मुलायम सिंह यादव ने भी आवाज उठाई थी, किन्तु यह दिन-दुगुनी रात-चौगुनी गति से बढ़ रही है। अंग्रेजों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने के लिये महात्मा गांधी ने विदेशी वस्त्रों की होली जलाने जैसे प्रतीकात्मक उपाय का सहारा लिया था, अंग्रेजी भाषा को भारत से भगाने के लिये भी उसी तरह के नेकटाई की होली जलाने जैसे प्रतीकात्मक उपाय का सहारा लिया जा सकता है, ***जिसने थिंक टैंक और गुजराल-डाक्ट्रिन वालों की एक साथ नटिया दबा रखी है।*** गांधी और लोहिया के अभाव में यह काम कौन करेगा? राग-द्वेष की राजनीति में डूबे जनाब मुलायम सिंह यादव क्या यह कर सकेंगे?

धर्मनिरपेक्षता तो स्वयं अपने में ही छल-छद्म से भरी हुई है। आज गुजराल-डाक्ट्रिन की धर्मनिरपेक्षता का अर्थ मात्र हिन्दुत्व-निरपेक्षता है। दुनिया के सारे भले-बुरे धर्मों से ही नहीं, धर्मान्तरण जैसे कुकृत्यों से भी यह पूरी तरह से जुड़ी हुई है। उसके साथ छद्म शब्द को जोड़कर थिंक टैंक वाले क्या कहना चाहते हैं? होना यह चाहिये था कि सेक्युलर शब्द का हिन्दी भाषा में एक ही शब्द में सही अनुवाद किया जाता। यह कार्य कोई कठिन नहीं था। जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय है, ***ऐसा राज्य जो व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के परलोक-संबन्धी विचारों में किसी तरह का हस्तक्षेप किये बिना केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये 'लोक-राज्य' शब्द अधिक सशक्त है। चार्वाक दर्शन को***

राजदर्शन माना गया है। इसके अनुसार स्वर्ग, नरक, आत्मा, ईश्वर आदि की कोई सत्ता नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को नहीं मानता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं दे सकता। यह बात अलग है कि गुजराती कहावत के अनुसार "आँखों के आड़े कान" आ जांय। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में 'लोक-राज्य' शब्द का अर्थ वही होगा, जो 'सेक्युलर-स्टेट' का है।

इस शब्द पर थिंक टैंक वालों को ध्यान देना चाहिये। धर्मनिरपेक्षता जैसे अभद्र शब्द से जुड़े रहने के बजाय इन लोगों को उन विषयों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये, जो भारतीय भाषाओं के साथ भारतीय संस्कृति को भी विकृत करने में लगे हैं। वर्धापन दिवस के रूप में मनाया जाने वाला जन्म दिन अब *'बर्थ डे'* के रूप में मनाया जाता है, जिसमें ***मोमबत्ती के रूप में दीपक को बुझाकर पूरे वातावरण में दुर्गन्ध फैला दी जाती है। वैलेन्टाइन डे भी अब प्रतिवर्ष अपनी बाँहें फैलाता चला जा रहा है। बाबरी ढांचे की वर्षी भी अंग्रेजी तारीख के हिसाब से मनाई जाती है।*** पूर्व प्रधानमन्त्री मुरारजी भाई देसाई का जन्म २९ फरवरी को हुआ, तो उनकी जन्मतिथि चार वर्ष बाद आती थी। शीघ्र ही फरवरी मास ३० दिनों का होने वाला है। मात्र इतना जान लेने पर भारतीय समाचारपत्रों की चिन्ता यह थी कि उस दिन पैदा हुए व्यक्ति का जन्म दिन तो चार सौ वर्ष बाद आवेगा। भारतीय पंचांग की इनकी दृष्टि में कोई गिनती नहीं है, तब विक्रम अथवा शक संवत् की चर्चा कैसे उठेगी? चैत्र शुक्ल प्रतिपदा दक्षिणभारत में युगादि के नाम से मनाई जाती है। ***उत्तरभारत में नव वर्ष हम १ जनवरी को मनाते हैं।*** क्या इन सब स्थितियों के रहते हम अंग्रेजी भाषा को हटाने अथवा धर्मान्तरण की गति को रोकने की कल्पना कर सकते हैं? थिंक टैंक वाले थोड़ा विचार करें। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हम धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्द का प्रयोग न कर *'सेक्युलर' शब्द से ही काम चलावें।*

पंचतन्त्र में एक कहानी है। पड़ोसिन धुले हुए तिलों के बदले बिना धुले तिल लेने पड़ोस में पहुँची। पड़ोसिन की पुत्री समझदार थी। वह अपनी मा को ऐसा करने से रोकती है। आजकल भारतीय सहिष्णुता की जो जोरदार चर्चा होने लगी है, उसकी भी यही स्थिति है। यह सहिष्णुता का नारा बहुसंख्यक भारतीयों को बेवकूफ बनाने का उपक्रम है। धर्मान्तरण जैसे कुकृत्यों को छिपाने की, बहुसंख्यकों में हीनभावना को फैलाने की यह सोची-समझी साजिश है। यह भारतीयता के विनाश का कारण बन सकती है। ***यह सहिष्णुता जब इतनी ही श्रेष्ठ है, तो पूरी दुनिया इसका अनुसरण करने से क्यों कतराती है?***

यही स्थिति अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की भी है। जनाब फिदा हुसैन के चित्र और सिने तारिकाओं के अभद्र प्रदर्शन के खिलाफ जो कुछ कहा जाता है, वह कला

एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुठाराघात माना जाता है, लेकिन ***सलमान रुश्दी या तसलीमा नसरीन को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता।*** अभी कुछ दिन पहले कोई खाँ साहब फरमा रहे थे कि भारत में शैतानों की कौन कमी है कि नये शैतान का आयात किया जा रहा है। खाँ साहब को याद रखना होगा कि जहाँ शैतानों की भरमार हो जाती है, वहाँ देवदूत को बुलाया जाता है। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री जनाब नवाज शरीफ की भारत आने की इच्छा है। वे आगरा या दिल्ली की उन जगहों को देखना चाहते हैं, जिससे उसकी समृद्ध संस्कृति एवं इतिहास का पता चलता है। इस पर क्या टिप्पणी की जाय।

भारतीय संस्कृति को आज संगीत, नृत्य, आदि तक ही सीमित कर दिया गया है, जबकि भारतीय शास्त्रों के अनुसार इनका कला में समावेश माना जाता है। ***देश की भौतिक समृद्धि को सभ्यता तथा आध्यात्मिक समृद्धि को संस्कृति कहा जाता है।*** संस्कृति की गलत परिभाषा के ही कारण आज भारतीय संस्कृति विकृति की ओर पर्याप्त आगे बढ़ चुकी है और पूरे भारतीय समाज को हीन ग्रन्थि से जकड़ती जा रही है। इसी हीन ग्रन्थि के कारण यह अपने ऊपर लगाये जा रहे गलत आक्षेपों का सही उत्तर देने में भी असमर्थ हो गया है। ***अल्पसंख्यक आयोग या मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएं भी संस्कृति की इस विकृति के चंगुल में फँस गई हैं।*** अल्पसंख्यकों और तथाकथित प्रताड़ित जातियों के प्रतिनिधियों से पूछा जाना चाहिये कि वे अपने मानसिक विकास में किन बाधाओं को देखते हैं? क्या उनको सभ्य आचरण करने से कोई रोकता है? क्या उत्तरप्रदेश और गुजरात की विधानसभा तथा अब लोकसभा के सदस्यों का आचरण भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप माना जायगा? भैंस चराने की मानसिकता को छोड़ कर डॉ. राममनोहर लोहिया, लोकमान्य जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे महानुभावों की मानसिकता तक ये सब कोई अनायास पहुँच सकते हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के स्वरूप की नये परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की है। ***पूर्व प्रधानमन्त्री चन्द्रशेखर सिंह तथा पण्डित नारायणदत्त तिवारी जैसे उनके शिष्य संस्कृति के इस स्वरूप के सहारे अपने भूले-भटके इन सब साथियों को ही नहीं, रूस और चीन की मानसिकता से संचालित कम्युनिस्ट भाइयों को भी सही रास्ते पर ला सकते हैं। इसके लिये समाज में विग्रह पनपाने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नहीं, भारतीय सहिष्णुता के साथ सभी विचारों में परस्पर समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है।***

थिंक टैंक वालों से भी हमारा निवेदन है कि वे भी एक बार वेदों से लेकर महात्मा गांधी तक की लम्बी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का स्वरूप पहचाने।

आलू-प्याज के भाव के पीछे जो गुप्त शक्तियाँ कार्यरत रही हैं, वे किसी भी रूप में, किसी भी समय पुनः प्रकट हो सकती हैं। इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि *इसके पीछे बाह्य शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, भारतीय राजनीतिक दल उनके खिलौने मात्र हैं। ये शक्तियाँ आजकल भारतीय सहिष्णुता के नाम पर इस राष्ट्र को सोनिया गांधी का तोहफा देने जा रही हैं। भारतीय मनीषा इसके सामने नतमस्तक है।*

सांस्कृतिक अवसाद में डूबता-उतराता भारत

"यूनान मिस्र रोमा सब मिट गये जहाँ से"— इस कड़ी में अब भारत का नंबर आने वाला है। यों ईरान को भी इसमें शामिल करना चाहिये था, क्योंकि ऋग्वेद के सहोदर जेन्दावेस्ता के प्राकट्य की भूमि में रहने वाले पारसीक जन अब भारत में आकर बस गये हैं। यूनान, मिस्र, ईरान, रोम-- ये सब मिटे नहीं हैं, विश्व के भूगोल में आज भी बने हुए हैं, किन्तु ये सब देश सांस्कृतिक अवसाद से ग्रस्त हो अपना वर्चस्व गँवा बैठे हैं। अब भारत के साथ भी वही होने जा रहा है। अलग सिक्खिस्तान की माँग करने वाले *हमारे सिक्ख बन्धु तो अपने सभी गुरुओं की जयन्ती भारतीय पंचांग के अनुसार मनाते हैं, किन्तु कुछ पत्रकार बन्धुओं की दृष्टि में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दु तिथियों के अनुसार अष्टमी और प्रतिपदा को छुट्टी होती है। भारतीय पंचांग के अनुसार कहने में उन्हें शर्म आती है।*

जब लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, महामना मदनमोहन मालवीय जैसे महानुभावों का जन्मदिन अंग्रेजी तारीख के अनुसार मनाया जाय, देश का स्वतन्त्रता दिवस अंग्रेजी तारीख का मुहजात हो और अब बाबरी ढांचे की वर्षी भी अंग्रेजी तारीख के हिसाब से मनाई जाती हो, प्रत्येक परिवार में बच्चों का 'बर्थ डे' मनाया जाने लगा हो और मोमबत्ती को जलाकर फूंक देकर बुझाया जाता हो, *उस देश का पत्रकार और कुछ लिख भी क्या सकता है? धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्द के खिलाफ लिखने का साहस उसमें कहाँ से आ सकता है? हिन्दु शब्द के नाम पर पुराना सब कुछ उसे हेय दिखाई पड़ता हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इस सांस्कृतिक अवसाद में आकंठ डूब जाने पर भारत की भी वैसी ही स्थिति होने वाली है। क्या यह हमें स्वीकार है?*

हिन्दु और धर्मनिरपेक्षता-- इन दोनों शब्दों के विषय में हम पर्याप्त लिख चुके हैं। ८०० वर्ष की इस्लाम की और २०० वर्ष की अंग्रेजियत की गुलामी ने आम भारतीय को दब्बू बना दिया है। हिन्दु शब्द से जुड़ी हुई प्रत्येक वस्तु से आज की दुनिया को नफरत करना सिखाया जा रहा है। इस्लामिक कालगणना भारतीय पंचांग

की चान्द्र पद्धति पर तथा ईसवीय कालगणना सौर पद्धति पर टिकी हुई है। दोनों कालगणनाओं में समन्वय स्थापित करने के लिये भारत में अधिक मास और क्षय मास की व्यवस्था की गई है। इस्लाम ने इसे स्वीकार नहीं किया। ***प्रत्येक तीन वर्ष के बाद उसकी कालगणना में विकृति आ जाती है। उसने तो अपनी इस गलती को सुधारने का आज तक भी कोई उपाय नहीं किया, किन्तु हीनभावना से ग्रस्त भारतीय प्रजा प्रत्येक वस्तु को छोड़ने को तैयार हो जाती है, जिसका संबन्ध उसको भरमाने के लिये ही सही, हिन्दुत्व से जोड़ दिया जाता है। शायद हम यह भी भूल गये हैं कि एक से दस तक की संख्या के परिचायक अंक विश्व को भारत की देन हैं। 'हिन्दस्का' के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। आज पूरे विश्व में रोमन अंकों का ये स्थान ले चुके हैं।*** आश्चर्य तब होता है, जब इसी अंकपद्धति के आधार पर आज विश्व को एक वर्ष पहले ही २१ वीं शती में पहुँचा दिया गया है और इस मिथ्या प्रचार का हमारी जानकारी में दैनिक पत्र 'आज' के अतिरिक्त किसी ने विरोध भी नहीं किया कि २००० वर्ष पूरे हो जाने पर ही २१ वीं शती प्रारंभ होगी। पूरा भारतीय प्रबुद्ध समाज भी हीनभावना से ग्रस्त है, इसका इससे बड़ा दूसरा कौन सा उदाहरण मिलेगा। कुतर्कों के सहारे राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।

अंकगणित के साथ रेखागणित और खगोलविद्या विश्व को वैदिक संस्कृति की देन है। ऊपर हमने जेन्दावेस्ता की चर्चा की है। पूना के वैदिक शोध-संस्थान ने अब इसका देवनागरी संस्करण निकाल दिया है। भारत में मोहेंजोदड़ो-हड़प्पा की तरह पश्चिम एशिया में 'उर' नाम की एक पुरानी बस्ती मिली है। ***वहाँ के इष्टका-लेखों में सन्धिपत्र पर इन्द्र, वरुण, नासत्य जैसे वैदिक देवताओं के नाम अंकित हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ईसा-पूर्व की शताब्दियों में यूनान से भारत का भृगुकच्छ (भड़ौंच) से सीधा जलमार्ग से व्यापार होता था। छठी-सातवीं शती में हुए पंचतंत्र के पारसी अनुवाद ने विश्व को सर्वप्रथम बालसाहित्य से परिचित कराया था। अरब यात्री अलबेरुनी ने १८ पुराणों का अरबी भाषा में अनुवाद अनुवाद किया था*** और पतंजलि के योगसूत्र पर लिखे व्यासभाष्य का भी अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका था। कंबोडिया में मिले शिलालेखों में ८ वीं से १० वीं शताब्दी तक के भारतीय राजाओं और भारतीय शास्त्रों की चर्चा मिलती है और अंकोरबाट-बोरोबुदुर जैसे शैव-वैष्णवों के विशाल मन्दिर आज भी उनकी साक्षी दे रहे हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया जैसे देशों में सुरक्षित भारतीय वाङ्मय के विशाल अनुवाद-साहित्य की चर्चा हम इसलिये नहीं करना चाहते कि आजकल के ***प्रबुद्ध विद्वानों ने बौद्ध धर्म से इसको जोड़ दिया है और श्रीलंका जैसे देशों के बौद्धों ने हिन्दुत्व से अपना नाता तोड़ लिया है,*** यद्यपि यह एक प्रकार की बकवास ही है। इसीके कारण वह देश समस्याग्रस्त है।

भारतीय समाज के तीव्र हीनभावना से ग्रस्त होने के दो उदाहरण हम और देना चाहते हैं। देश-विभाजन के समय पश्चिम से आरही प्रजा को कश्मीर में बसाने का विचार पं. नेहरू की वजह से कार्यान्वित न हो सका। अब कश्मीर घाटी से अल्पसंख्यकों को निकाल दिया गया है। इनके लिये अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग मानवीय विद्रूपता का ही उदाहरण माना जायगा। लद्दाख की बौद्ध प्रजा और जम्मू की बहुसंख्यक प्रजा तेजी से घटाई जा रही है। श्री बलराज मधोक ने जम्मू-कश्मीर के लद्दाख और जम्मू विभाग को कश्मीर घाटी के शासन से मुक्त करने की सामयिक चेतावनी दी थी। इनकी संरक्षा के लिये तो भारतीय प्रशासन ने कुछ नहीं किया, किन्तु कश्मीर घाटी से आरही नई बन्दर-घुड़कियों से वह परेशान है। वह धारा ३७० को हटाने के अपने वायदे से मुकर गया है। अशोक महान् बनने के पं. जवाहरलाल नेहरू के सपने ने कश्मीर और तिब्बत की यह दुर्दशा की। ***मनुष्य की लोकैषणा उसके पतन का सबसे बड़ा कारण बनती है। शीर्ष पुरुषों को इससे सावधान रहना होगा।*** द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त इस्लाम की नहीं, ब्रिटिश कूटनीति की उपज है और इसके साथ अब अमेरिका भी जुड़ गया है। ***कश्मीर की समस्या का सही समाधान न होने पर यह देश भी सोवियत संघ की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, जो ब्रिटिश और अमेरिकी कूटनीति का अन्तिम लक्ष्य है। इसके साथ ही यह देश सांस्कृतिक अवसाद में डूब जायगा।***

पूरे विश्व को २१ वीं शती में पहुंचाने के समान ही, एक दूसरा शिगूफा विश्व-समुदाय के सामने छोड़ा गया है--भारत में ईसाइयों पर आक्रमण। इस विषय में अब नये-नये तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं। तदुपरान्त भी इतना स्पष्ट है कि इधर एक-दो वर्षों में जो भी घटनाएँ हुई हैं, वे सब धर्मान्तरण से संबद्ध हैं। इनकी वास्तविकता यह है कि ये ***सब घटनाएँ धर्मान्तरण व्यापार में लगे चर्च के इर्दगिर्द घटी हैं, इसका ईसाई प्रजा से नाममात्र का भी संबन्ध नहीं है।*** तब इस मिथ्या प्रचार का पर्दाफाश क्यों नहीं किया गया? पत्रकार जगत् अपने को राष्ट्र की रक्षा का चतुर्थ स्तंभ मानता है। वह अनायास ऐसे मिथ्या दुष्प्रचारों से कैसे प्रभावित हो जाता है? थोड़ा ठहर कर उसको आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। अतिथि के रूप में आये धर्मगुरु के उस वक्तव्य का भी विरोध होना चाहिये था कि अब ***तीसरी सहस्राब्दी में सारी दुनिया को ईसाई बनाया जाएगा।*** अतिथि धर्म के साथ किया गया यह विश्वासघात स्वयं उस धर्म की असलियत को उजागर कर देता है। मौनावलम्बन ही नहीं, ऐसे व्यक्तियों के सामने हमारा अपराधी के समान नतमस्तक होना *शिष्टाचार नहीं, कायरता है।* एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल में यह हमारी नस-नस में भर गई है। यह आचरण राष्ट्र द्वारा स्वीकृत 'सेक्युलर' सिद्धान्त के भी विपरीत है। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" इस भारतीय शिक्षा को हम भूल बैठे हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी से पहले के भारत के ओजस्वी उद्बोधन के अभाव में ही आज अरब जगत् इस दुनियाँ को अपना कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं दे पा रहा है। *सांस्कृतिक अवसाद से मुक्त भारत ही यूनान, मिस्र, ईरान और रोम को ही नहीं, उस देश को भी सांस्कृतिक अवसाद से मुक्ति दिला सकता है,* जो आज 'ईराक' कहलाता है और पहले मेसोपोटामिया के नाम से जाना जाता था, जिसने दुनियाँ में सबसे पहले आकाशीय उद्यानों को साकार रूप दिया था और जिसने ज्योतिष विद्या के क्षेत्र में विश्व को अपना महनीय योगदान किया था। *इन सभी देशों का रचनात्मक सहयोग ही विश्वमानवता का कल्याण कर सकता है। अपने सही स्वरूप को भुला बैठा भारत क्या इस कार्य को करने में समर्थ हो सकेगा?*

चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझा भारत

इस जहाँ में भारत को छोड़कर ऐसा कोई देश नहीं होगा, जिसकी अपनी राष्ट्रीयता, अपनी राष्ट्रभाषा और अपनी संस्कृति न हो। भारत की आज अपनी कोई राष्ट्रीयता नहीं है। एक विदेशी भाषा के चंगुल में यह फँसा है और इसका फन्दा दिन-प्रतिदिन कसता चला जा रहा है। पंडित जवाहरलाल नेहरू के मानसपुत्र यहाँ की संस्कृति को गंगा-जमुनी संस्कृति नाम देना पसन्द करते हैं। ऐसी स्थिति में भारत में कभी एक राष्ट्रीयता, एक भाषा और एक संस्कृति पनप पायेगी, इस पर विचार करने की भी फुरसत किसी को नहीं है। बहुत से प्रगतिशील महानुभाव तो इसकी आवश्यकता भी नहीं मानते। आज हम इसी विषय पर विचार करना चाहते हैं।

जैसा कि शीर्षक से सूचित होता है, यह देश चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझा हुआ है। ये चार कोण हैं-- हिन्दु, मुस्लिम, खीष्ट और कम्युनिज्म। कल्पित धर्मनिरपेक्षता के नाम पर ये दो वर्गों में बांट दिये गये हैं। हिन्दु वर्ग को छोड़कर बाकी तीन वर्गों ने मिलकर अपने को धर्मनिरपेक्ष तथा हिन्दु वर्ग को साम्प्रदायिक घोषित कर दिया है। ये अंग्रेजी भाषा और गंगा-जमुनी संस्कृति के पक्षपाती हैं। यों इन तीनों वर्गों का भी अपना-अपना लक्ष्य अलग-अलग है, किन्तु इस देश की मूल मान्यताओं को तहस-नहस कर देने में ये सब एकमत हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान हिन्दु समाज ने इन वर्गों की मंशा के अनुसार अपने को एक अलग कौम मान लिया है और यह बेचारा भारत देश इस चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझ गया है।

"गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" इस गर्व को छोड़े बिना यह देश उस उलझन से निकलने वाला नहीं है। भारतीय संविधान में इस देश का नाम मूलतः 'इण्डिया' है

और दिखावे के लिये 'भारत'। जब तक भारत भारत नहीं बनेगा और यहाँ रहने वाली पूरी जनता 'भारती प्रजा' नहीं कहलायेगी, तब तक यह देश इस उलझन से बाहर नहीं निकल पावेगा। इससे निकलने का सबसे सरल उपाय यह है कि इसमें एक स्वर से "गर्व से कहो हम भारतीय हैं" यह नारा बुलन्द हो और ऊपर चर्चित सभी वर्ग इस नारे को तहेदिल से आत्मसात् कर सकें। भारत में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भारतीय है, यह कहना तो सही है, किन्तु भारतीयता क्या है? इसकी जानकारी होना और तदनुसार आचरण करना भी इसके लिये जरूरी है।

एक हजार वर्ष से यहीं रहता हुआ मुसलमान इसको समझ न सका और न हम उसको समझा सके। इस्लाम के आने से पहले भी यहाँ अनेक धर्म-सम्प्रदाय-मत प्रचलित थे। इनमें हम बाहर से शरण लेने आये धर्मों और सम्प्रदायों की भी गिनती कर सकते हैं, जिनकी चर्चा भारतीय उदारवाद को उजागर करने के लिये स्वामी विवेकानन्द ने महिम्नस्तोत्र का गान करते हुए की थी। वीरशैव मत के पारमेश्वरागम में बताया गया है कि शैव मत का पालन करने वाली स्त्री वैष्णव पति के साथ और वैष्णव स्त्री शैव पति के साथ यावज्जीवन अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रह सकती है। इसके साथ आप सेमेटिक धर्मों की तुलना कीजिये, जहाँ धर्म-परिवर्तन के बिना मुक्ति को असम्भव मान लिया गया है। पूरी दुनिया को इस्लाम या ख्रीष्ट धर्म में दीक्षित करने को धार्मिक आदेश मानने वाले ये धर्म इस देश को छोड़िये, पूरी दुनिया को क्या कभी सुख-शान्ति से रहने देने के लिये तैयार हो सकेंगे? धर्म-परिवर्तन के बीज अपने धर्म के प्रति अहंकार में छिपे हुए हैं और एक अहंकार से दूसरे अहंकार की टकराहट अशान्ति को ही पैदा कर सकती है।

हमारे एक शुभचिन्तक का मानना है कि विगत एक हजार वर्षों में हिन्दु समाज इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म के अनुयायियों से शासित रहा है, अतः इनकी मानसिकता शासकों की और हिन्दुओं की शासितों की बन गयी है। इन मानसिकताओं में आज भी परिवर्तन नहीं आया है। थानों पर हमला करके अपराधियों को छुड़ा लेने की मनोवृत्ति उसी की सूचना देती है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित साम्यवाद ने इस मनोवृत्ति को बढ़ावा ही दिया है। धर्मान्तरण जैसे इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म की कमजोरी है, उसी तरह सबको आपस में लड़ाना साम्यवाद की कमजोरी है। रूस में तो यह साम्यवाद पराजित हो चुका है, किन्तु कम्युनिज्म के झण्डे को अब चीन ने थाम लिया है। अब दुनिया में धर्म की कोई भूमिका नहीं है, इसकी कलई तो पोप साहब और बुखारी साहब के फरमानों से ही खुल जाती है। इसके विपरीत हिन्दु यदि सिर उठाकर देखना चाहता है, तो विश्वव्यापी प्रचारतन्त्र उसको कुचल देने के लिये तो

तैयार बैठा ही रहता है, हमारे प्रबुद्ध चिन्तक और राजनीतिज्ञ भी, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहास को पढ़ा है, इस प्रचार में बह जाते हैं।

हालैण्ड के भारतीय विद्या के विद्वान् डाक्टर जे. गोण्डा ने एक पुस्तक लिखी है— "चेंज एण्ड कंटीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन"। इनके मत से भारतीय धर्म की यह विशेषता रही है कि इसमें निरन्तरता के साथ परिवर्तन भी होता रहा है। ध्यान देने की बात है 'रिलीजन' का एक वचन। यह वास्तविकता है कि सनातन धर्म में यह वाक्य पूरी तरह से घटता है और बहुत पहले महाकवि कालिदास भी "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" कहकर इस बात की पुष्टि कर चुके हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी भारतीय संस्कृति को इसी रूप में परिभाषित किया है। भारतीय संस्कृति में वैदिक, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव आदि धर्मों, स्मृति-पुराण, आगम-तन्त्रशास्त्र और भक्त-सन्त साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति-गंगा का पावन प्रवाह अबाध रूप से आज भी प्रवाहित है। भक्तों और सन्तों की वाणी को तो हम सुन सके हैं, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र को हम भुला बैठे हैं, जो भक्तों और सन्तों की वाणी का प्रेरणास्रोत रहा है।

इस प्रसंग में हमें यह याद रखना है कि महाकवि कालिदास के समय में भी प्रयाग में संगम-स्थल पर गंगा और यमुना का नजारा आज के जैसा ही था। ध्यान देने की बात यह है कि वे दोनों कुछ दूरी तक अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले प्रवाह आगे चलकर एकाकार हो जाते हैं। नाना नदियों के प्रवाह से समृद्ध भगवती गंगा अन्त में गंगासागर में विलीन हो जाती है, किन्तु काशी की गंगा में यमुना अन्तर्भूत है। भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को हमें मान्यता देनी चाहिये।

किस आधार पर यह संस्कृति परिपुष्ट हो सकती है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आज से ११ सौ वर्ष पहले कश्मीर में आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् विद्वान् अभिनवगुप्त का प्रादुर्भाव हुआ था। भगवान् बुद्ध और कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर इन्होंने बताया था कि सभी आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। इनके अनुसार आगम वही है, जिस पर जिसकी श्रद्धा जम गयी है। इस परिभाषा के अनुसार ईसाइयों की बाइबिल और मुसलमानों की कुरान भी आगम की कोटि में आ जाती है। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने ही महान् भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर की बृहत्संहिता के एक वचन को उद्धृत किया है कि जिस व्यक्ति को जिस देवता की उपासना करनी हो, वह उपासना उसे उस देवता के द्वारा उपदिष्ट विधि से ही करनी चाहिये। पंचायतन पूजा के माध्यम से भारत में इस व्यवस्था को मूर्त रूप भी दे दिया गया था। वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव--सभी अपनी-अपनी पद्धति से अपने इष्टदेव की आराधना के लिये स्वतन्त्र थे। उसी पद्धति से आज अपने धर्म की श्रेष्ठता और धर्म-परिवर्तन जैसे दुराग्रहों को छोड़कर, धर्मों के कालातीत तत्त्वों से छुटकारा

पाकर सेमेटिक धर्म भी भारत में सुख-शांति से रह सकते हैं। इसके लिये हम सभी धर्मों के पूज्य गुरुओं, उन भटके बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों को भी पूरे भारतीय वाङ्मय के अध्ययन का सुझाव देते हैं कि भारतीय संस्कृति में परिवर्तन के साथ निरन्तरता को बनाये रखने वाले तत्त्वों की पहचान कर वे अपने चिन्तन में उनका समावेश कर सकें।

आज का बुद्धिजीवी वर्ग ब्राह्मणवाद और मनुवाद के नाम पर जिन सामाजिक समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर परोस रहा है, उनका समाधान आगम-तन्त्रशास्त्र ने आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। यहाँ जाति की श्रेष्ठता को नकार कर चरित्र को वरीयता दी गयी है। पुराण-इतिहास साहित्य को तथा भक्तों और सन्तों की लम्बी परम्परा को भी इसके उदाहरण के रूप में पेश कर सकते हैं, जिसमें वर्ण और लिंग के भेद को छोड़कर पूरी मानवता को संमान मिला है, चरित्र के आधार पर व्यक्ति को समाज में ऊँचा स्थान मिला है। एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल ने हमारी इस विशेषता को धूमिल कर दिया। सम्पूर्ण भारत में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से सन्तों और भक्तों के उपदेशों से अनुप्राणित भारतीय प्रजा को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। तभी यह चतुष्कोणीय संघर्ष समाप्त हो सकेगा।

भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप

(भावात्मक एकता)

निगमागम विवेचन

सन्त तुलसीदास अपने रामचरितमानस को नानापुराण-निगमागम-संमत बताते हैं। यहाँ निगम शब्द वैदिक वाङ्मय का और आगम शब्द तन्त्रागमशास्त्र का बोधक है। कश्मीर के महान् आगमाचार्य तान्त्रिकप्रवर श्रीमान् अभिनव-गुप्तपाद भी निगम पद के इसी अर्थ को मान्यता देते हैं। ये ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में निगम पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि धर्म को समझने के लिये हमारे जानने लायक उपायों की निश्चित सूचना देने वाला शास्त्र निगम, अर्थात् वेद है-- "वेद्यं धर्माद्युपायं निश्चितं गमयतीति निगमो वेदः" (भा. १, पृ. १५)।

आगम पद की व्याख्या वे भिन्न पद्धति से करते हैं। तन्त्रालोक में वे कहते हैं कि समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि को आगम नाम से जाना जाता है--

इह तावत् समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
प्रसिद्धिमनुसन्धाय सैव चागम उच्यते ।। (३५.१-२)।

प्रसिद्धि की भी परिभाषा उन्होंने वहीं बताई है कि प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट वचन ही प्रसिद्धि की परिधि में आते हैं— "प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका" (३५.१९)। ई.प्र.वि.वि. में वे कहते हैं कि आगमीय ज्ञान की संक्रान्ति एक शरीर से दूसरे शरीर में (गुरु से शिष्य तक) शब्द के माध्यम से होती है। इसमें वे भगवान् अनन्त के वाक्य को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि दूसरे व्यक्ति तक अपने ज्ञान को पहुँचाने के लिये शब्द की सहायता ली जाती है-- "आगमो हि नामायं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः। यथाह भगवाननन्तः-- परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते" (भा. ३, पृ. ८९)। योगसूत्र-व्यासभाष्य (१.७) में यह वचन आनुपूर्वी से मिल जाता है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि आगम पद उस व्यक्ति के लिये उस शास्त्र का वाचक माना जायगा, जिस पर उसका विश्वास जम गया हो-- "स च यो यस्य हृदये निरूढिमागतः स एव" (ई. प्र. वि. वि., भा.३, पृ. ९६)। वे पुनः कहते हैं कि बुद्ध कोई निश्चित व्यक्ति नहीं है। अपनी भावना के सहारे क्षणिकवाद में जो दृढ़ आस्था जमा लेता है, वही बुद्ध हो जाता है। वर्तमान बुद्ध में इस ज्ञान का संचार पूर्व बुद्ध ने किया था और उसमें भी उसके पूर्व के बुद्ध ने। इस तरह से पारमेश्वरी विमर्श-शक्ति ही वस्तुतः अन्ततः इस ज्ञान की भी उपदेष्ट्री सिद्ध होती है। इसी तरह से प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों की भावना का उपदेश देने वाले कपिल मुनि के विषय में भी समझना चाहिये—"नहि बुद्धो नाम नियतः कश्चित्, अपि तु भावनाबलप्रतिलब्ध-क्षणिकादिदृढविमर्शः। तस्य क्षणिकादिभावनोपदेशी गुरुः पूर्वबुद्धः, तस्याप्यन्य इति क्रमेणानियतवक्तृकत्वात् पारमेश्वरविमर्शमयतैव वस्तुतः। एवं चतुर्विंशतितत्त्वभावनाभावितः कपिलो मन्तव्यः। अत एव सर्वागमा अनादय एव" (ई.प्र.वि.वि., भा.३, पृ. ९७-९८)।

कहने का अभिप्राय यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस पद्धति से हम सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सभी शास्त्रों का आगमशास्त्र में समावेश कर सकते हैं। इस प्रसंग में अभिनवगुपत ने वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि उपास्य देवों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसको यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित पद्धति के अनुसार ही करनी चाहिये—

> विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजा
> मातॄणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः।
> शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
> यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया।।

(ई.प्र.वि.वि., भा.३, पृ. १००)।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५९.१९) में यह श्लोक उपलब्ध है।

वराहमिहिर का वह श्लोक भी बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि म्लेच्छों (यवनों) में ज्योतिषशास्त्र व्यवस्थित रूप में विद्यमान है, अतः उनका भी ऋषियों के समान आदर किया जाता है— "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते"।

इस पूरे प्रकरण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज पूरी दुनियाँ में वर्तमान सभी धर्मों के आकर-ग्रन्थों का निगमागम-शास्त्र में समावेश माना जा सकता है, क्योंकि इन सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि-अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया था। अतः इनकी आप्तता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिए।

निगमागम का पुराणों पर प्रभाव

पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं, इस विषय पर तो अनेक विद्वानों ने विचार किया है, किन्तु पुराणों में आगमार्थ का भी उपबृंहण हुआ है, इस विषय पर अभी विचार नहीं के बराबर हुआ है। अग्निपुराण के ३९-७० अध्याय हयशीर्ष पंचरात्र के आदिकाण्ड में तथा वहीं के ७१-१०६ अध्याय सोमशंभु-कृत कर्मकाण्डक्रमावलि में आनुपूर्वी से मिलते हैं। सोमशंभु ने संवत् ११३० में इस ग्रन्थ को पूरा किया था और उसका यह प्रकरण लीलावती नामक शिवागम की सहायता से लिखा गया था। वैरोचन-कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.१७९-१८१) में शिवोक्त २१ प्रतिष्ठा-तन्त्रों के नाम दिये गये हैं। ये नाम शैवागमों, उपागमों अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। यहाँ (२.१५६) बताया गया है कि लिंग, प्रासाद, द्वार, मण्डल आदि के बनाने और उनकी प्रतिष्ठा करने की विधि वेद से वर्णित नहीं है। बृहन्नारदीय (२.२४. १९-२१) में भी उन विषयों की सूची दी गई है, जिनका वर्णन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। पुराणों में ये सब विषय आगम अथवा तन्त्रशास्त्र से ही लिये गये हैं। भविष्यपुराण (२.१.११. १) में वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तटाक आदि की प्रतिष्ठा तान्त्रिक विधि के अनुसार बताई गई है।

इष्ट और पूर्त— ये दो धर्म के अंग माने गये हैं। भोजदेव के तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि इष्ट पारलौकिक धर्म है और पूर्त ऐहलौकिक। पुराणों में इष्ट और पूर्त— इन दोनों ही प्रकार के धर्मों का विशद वर्णन मिलता है। इसी तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि का निर्माण और प्रतिष्ठाविधि तथा वापी, कूप आदि का निर्माण और प्रतिष्ठाविधि का वर्णन पुराणों में तन्त्रागमशास्त्र से ही लिया गया है।

इससे आगम और पुराण की परस्पर अनुस्यूतता स्पष्ट होती है। वैष्णवागमों का चतुर्व्यूह सिद्धान्त और प्रादुर्भाववाद (अवतारवाद) महाभारत के नारायणीय-

उपाख्यान, पद्मपुराण आदि में स्पष्ट ही उपबृंहित है। पुराणों में शिव और नारायण की ही एकता नहीं प्रतिपादित है, किन्तु शक्ति, स्कन्द, गणेश, सूर्य आदि की भी उपासना पंचायतन पूजा के अन्तर्गत समन्वित रूप से प्रपंचसार और शारदातिलक की पद्धति से वर्णित है। अग्निपुराण आदि में विशेष रूप से और अन्यत्र भी सामान्य रूप से यह प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों में केवल वेदार्थ का ही उपबृंहण नहीं हुआ है, अपितु ऐसे विषयों को भी यहाँ संकलित किया गया है, जिनकी चर्चा वेदों में नहीं मिलती। इनमें से अधिकांश विषयों का संकलन तन्त्रागमशास्त्र से किया गया है। अतः पुराण आगमों का भी उपबृंहण करते हैं, इस विषय में किसी प्रकार के संदेह की कोई स्थिति नहीं रह जाती।

तन्त्रागमशास्त्र की प्राचीनता

पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव) आगमों की प्राचीनता के विषय में अब पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक) के आधार पर ही महाभारत तथा वर्तमान महापुराणों की प्रवृत्ति हुई है। आजकल के इतिहासज्ञ वायुपुराण की प्राचीन पुराणों में गणना करते हैं। ६-७ वीं शताब्दी के महाकवि बाणभट्ट के हर्षचरित में इसकी चर्चा है। इसमें पाशुपत आदि आगमों में निर्दिष्ट विषय उपलब्ध हैं। इससे यह स्पष्ट हो ज़ाता है कि इस तरह की बातें कोरी कल्पना की उड़ानमात्र हैं कि आठवीं शताब्दी से पहले तन्त्रागमशास्त्र की कोई स्थिति नहीं थी। अग्निपुराण, गरुडपुराण, बृहन्नारदीयपुराण की ही तरह अन्य पुराणों में भी प्रयत्न करने पर तन्त्रागमशास्त्र के अनेक प्रकरण पूरी आनुपूर्वी के साथ मिल सकते हैं। पौराणिकों की यह पद्धति रही है कि वे अन्य शास्त्रों से गृहीत प्रकरणों को, संबोधन आदि में थोड़ा परिवर्तन करके आनुपूर्वी से ग्रहण कर लेते हैं। अग्निपुराण को हम यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

दुर्गासप्तशती-पाठ के अंगभूत कीलक-स्तोत्र का पहला श्लोक (विशुद्धज्ञानदेहाय०) भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक का प्रथम मंगल पद्य है। "सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये" (११.७) दुर्गासप्तशती का यह श्लोक भी ६०८ ई. में उत्कीर्ण दधिमती (मातृ) शिलालेख में उपलब्ध है। छठी शताब्दी के महाकवि सुबन्धु की वासवदत्ता में बौद्ध तान्त्रिक देवी तारा स्मृत है। उदयपुर के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित ४९० ई. का शिलालेख चित्तौड़ के पास विद्यमान छोटी सादड़ी के भ्रमराम्बा के मन्दिर में उपलब्ध हुआ था। दुर्गासप्तशती (११.५५) में भ्रामरी देवी के रूप में इनकी महिमा वर्णित है। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की मनसा देवी की प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। इन सब उदाहरणों से शक्ति की उपासना की भी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। इस तरह से यही

माननना उचित होगा कि पुराणों में वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आगमों को प्रायः प्रमाण के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

समन्वयात्मिका दृष्टि

पुराण ब्रह्मा, विष्णु और महेश को एक ब्रह्म की तीन मूर्तियाँ मानते हैं। पुराणों के समान वैष्णव और शैव दृष्टियों में समन्वय के वाहक कश्मीर के उत्पल वैष्णव ने अपने ग्रन्थ स्पन्दप्रदीपिका में मायावामनसंहिता के प्रमाण से कहा है कि विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि के रूप में भगवान् एक ही हैं (पृ. ९२)। नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) के १३ वें अधिकार में जयाख्या, मायावामनसंहिता, सौरसंहिता आदि के प्रमाण से इनकी पूजाविधि भी वर्णित है। विभवावतारों में भगवान् बुद्ध की गणना सर्वप्रथम पांचरात्र संहिताओं में मिलती है। वायुपुराण (१०४.१६) में ब्राह्म, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त और आर्हत नामक छः दर्शनों को मान्यता दी गई है। शक्तिसंगमतन्त्र (१.३. ८५-८८) में तारा, त्रिपुरा और छिन्नमस्ता के भेद से छः-छः दर्शनों का वर्णन है, जिनमें बौद्ध एवं जैन दर्शन भी समाविष्ट हैं। कश्मीर के सद्योज्योति शिवाचार्य और भट्ट रामकण्ठ के सभी आगमों के प्रामाण्य के प्रतिपादक सर्वागमप्रामाण्य जैसे ग्रन्थों का उल्लेख मोक्षकारिकावृत्ति (पृ. २७५) में मिलता है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि निगम और आगम में समन्वय का कार्य पुराण-वाङ्मय द्वारा तथा अनेक आगमाचार्यों के द्वारा भी बहुत पहले किया जा चुका है। हम निगम और आगम शब्द की नई व्याख्या कर पूरे जागतिक ज्ञान का इनमें समावेश कर सकते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म की यह मान्यता है कि ईश्वर ने, किसी अलौकिक शक्ति ने प्रत्येक धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसी शक्ति ने मनुष्य को ज्ञान भी दिया है। ऐसे अलौकिक ज्ञान को हम निगम विभाग के अन्तर्गत रख सकते हैं और दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ परम्परा द्वारा प्राप्त ज्ञान को आगम विभाग के अन्तर्गत। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, पुराण आदि में किये गये निगमागम धर्म के समन्वय में निगम दृष्टि की प्रधानता रही है। यहाँ दी गयी निगमागम शब्दों की नई परिभाषा के अन्तर्गत आने वाले धर्मों में परस्पर समन्वय का आधार आगम दृष्टि हो सकती है, जो मानवमात्र को ज्ञान का ही नहीं, मुक्ति का भी अधिकारी मानती है। सही अर्थों में मानवाधिकारों की प्रतिष्ठा तभी हो सकती है।

मुकुटसंहिता का कहना है कि कोई ब्राह्मण पापकर्म में लगा हुआ है और शूद्र सन्मार्ग पर चलता है। ऐसी स्थिति में किसी जाति को सदाचरण और दुराचरण का आधार नहीं माना जा सकता। उसका यह भी कहना है कि द्विज भी यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है, तो उसका परित्याग कर देना चाहिये और म्लेच्छ यदि पवित्र मन का है, तो उसका आदर होना चाहिये। पवित्र आचरण वाला म्लेच्छ शिव को प्रिय है,

चारों वेदों को पढ़ने वाला कपटी ब्राह्मण नहीं। मनुस्मृति (४.२४५) का भी कहना है कि उत्तम आचरण करने वाला और हीनभावनाओं से मुक्त ब्राह्मण श्रेष्ठता की ओर बढ़ता है तथा इसके विपरीत आचरण करने से वह पतन के रास्ते पर निकल पड़ता है—

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्।।
(४.२४५)।

इसी आगमिक और स्मार्त दृष्टि को आगे कर हम आज सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

तन्त्रागमीय संस्कृति

तान्त्रिक शब्द आज बदनाम सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही यह शब्द सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास-ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गई है। वहाँ शैव और वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका संबन्ध तान्त्रिक वाङ्मय से न जोड़ कर पुराणों से जोड़ा जाता है। भारतीय इतिहास, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की इस त्रुटि की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

केवल महाभारत ही नहीं, प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव स्तेन और तस्कर ही नहीं, शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन का प्रयत्न किया सही, तो भी इसने कभी भी बौद्ध और जैन दृष्टि के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय ही पहले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित हुआ।

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा में वर्णाश्रम-व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाता था। हिंसाप्रधान कर्मकाण्डों की कभी इसमें प्रचुरता हो गई थी। इसका औपनिषद, आगमिक, बौद्ध और जैन धाराओं ने विरोध किया। औपनिषद धारा का वैदिक ज्ञानकाण्ड में समावेश हो गया। बौद्ध एवं जैन धाराओं ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर दिया। आगमिक धारा इन वैदिक और अवैदिक धाराओं के बीच समानान्तर रूप से बहती रही। महाभारत-काल से लेकर महिम्नस्तोत्र की रचना के समय तक भारतीय साहित्य में वेदारण्यक, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का

समान स्वतन्त्र प्रामाण्य अभिप्रेत था। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता और पुराणों में इन सभी मतों के समन्वय का प्रयत्न हुआ। परवर्ती धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने भी इनको वेद के बाद स्मृति के समान ही प्रमाणभूत माना है। वीरशैव धर्म-दर्शन के महान् ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि को भी इनका प्रामाण्य अभिप्रेत है—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः।।

पांचरात्र आगम की अहिर्बुध्न्यसंहिता के पूरे १२ वें अध्याय में इनका विस्तार से परिचय दिया गया है। संहिता की ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि अन्य मतों का परिचय दे देने के बाद यहाँ अन्त में पांचरात्र मत की चर्चा की गई है। इसके साथ आप आजकल के तथाकथित सेक्युलरिस्टों की तुलना कीजिये।

तन्त्रागमीय धर्म की अन्य शाखाओं के समान बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों में भी तान्त्रिक योग और विशिष्ट कर्मकाण्ड-पद्धति का विकास हुआ है। इनकी मूल मान्यताएँ सर्वत्र समान हैं। आज के भारतीय धर्मों पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तन्त्रागमीय धारा का अधिक गहरा प्रभाव है। आगमिक संस्कृति की पांचरात्र और पाशुपत धारा के सातत्य में शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का किस प्रकार विकास हुआ और आज वे किस रूप में भारतीय संस्कृति में घुल-मिलकर एक हो गईं, यह एक रुचिकर अनुशीलन का विषय है।

इस तन्त्रागमीय संस्कृति ने बौद्ध एवं जैन धाराओं के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान प्राप्त किये अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इनको अवदान प्राप्त हुआ, इस विवाद में हम अभी नहीं पड़ना चाहते हैं। इस विषय में सही निर्णय तो तभी किया जा सकता है, जब सिन्धु-घाटी में उपलब्ध लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तन्त्रागमीय संस्कृति, विशेष कर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने उनको दर्शाया भी है। अन्तर इतना ही है कि इन्होंने पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव एवं शैव शब्दों का प्रयोग किया है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं। हमारी दृष्टि में पौराणिक साहित्य ने किसी नवीन दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं के बराबर किया है, किन्तु कृतान्तपंचक के अतिरिक्त बौद्ध एवं जैन विचारों का तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द, सौर आदि मतों के सिद्धान्तों का भी समन्वय कर नवीन स्मार्त धर्म एवं समग्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा में महनीय योगदान किया है। इस दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करने पर ही हम यहाँ के धार्मिक एवं

सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों, अपितु साम्प्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिये। यही मानना उचित और तर्क-संगत प्रतीत होगा कि भारतीय संस्कृति के अविरल पावन प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयत्न हुआ। अल्लोपनिषत् को हम इस प्रकार के उपक्रम की कड़ी मान सकते हैं।

औपनिषद दृष्टि

तान्त्रिक उपासना में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकार प्राप्त है। इसमें वर्ण या आश्रम प्रयुक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषत् की इस शास्त्र से बहुत समानता है। सत्यकाम जाबाल (४.४७), महिदास ऐतरेय (३.१६) और रैक्व जानश्रुति (४.१२) के उपाख्यान इस तान्त्रिक दृष्टि का ही पोषण करते हैं। देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद (३.१७.६) हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण कराते हैं। यहाँ (७.१२) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का ही अपर नाम है। यहाँ (७.२६.२) वर्णित ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है, जो उनका स्वोपज्ञ विचार न होकर परम्परा से प्राप्त मालूम होता है। भगवद्गीता को पांचरात्र सिद्धान्त से अनुप्राणित माना जाता है। यहाँ (५.८) बताया गया है कि विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, श्वान और चाण्डाल को पंडितजन समान दृष्टि से देखते हैं। वहीं (९.३२) स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है।

समाजवादी दृष्टि

समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा की है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसना मूल मन्त्र है— "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"। इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" और "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं— एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं। इन उभयविध मानसों के परिष्कार के लिये हम सभी प्राचीन संस्कृतियों के कालातीत तत्त्वों के स्थान पर नूतन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश कर एक समग्र विश्व संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। तन्त्रागमशास्त्र में प्रतिपादित उपर्युक्त दृष्टि अवश्य ही इसमें सहायक हो सकती है।

निष्कर्ष

अन्त में हम अपने कुछ विचार रखना चाहते हैं। सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस तरह के उदात्त विचारों का आलोडन कर, अपने-अपने धर्म एवं संस्कृति की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनके कालातीत तत्त्वों का परिहार एवं उपादेय तत्त्वों का संग्रह कर और उनमें परस्पर सामंजस्य बैठाकर हमें एक विश्व-संस्कृति के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसके अभाव में परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस दुनियाँ में एकता स्थापित करना कठिन हो जायगा। इसके लिये प्राथमिक आवश्यकता यह है कि हम "परस्परदेवो भव" इस उपनिषत्कल्प वाक्य के सहारे परस्पर के अविश्वास को हटा कर राग-द्वेष आदि से कलुषित अपने चित्त को निर्मल (प्रभास्वर) करने का प्रयास करें और धीरे-धीरे उसे विश्वाहन्ता की ओर उन्मुख करें। उसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्वसंस्थाओं की सार्थकता हो सकती है। उनके द्वारा सारे विश्व को एक राजनीतिक धरातल प्रदान किया जा सकता है, विश्व-नागरिता के उच्चावच भेदों को मिटाया जा सकता है और उनमें परस्पर भावात्मक एकता स्थापित की जा सकती है।

देश, काल आदि का भेद रहते हुए भी मानव की विचार-धारा कल्याण मार्ग में प्रायः एक-सरीखी बहती है। भारत और यूनान के विद्वानों के विचारों की समानता इसका एक उदाहरण हैं। सम्पूर्ण विश्व के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में भी इस तरह की समानता खोजी जा सकती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम सारे विश्व के वाङ्मय को देश, धर्म आदि की सीमा से हटाकर काल-क्रम से हुए इसके विकास अथवा ह्रास का क्रमिक अनुशीलन करें। तभी मानव मन के विकास अथवा ह्रास के क्रम को सही रूप से समझा जा सकेगा। काल-क्रम और देश(स्थान)-क्रम से विकसित भारतीय वैदिक, बौद्ध, जैन और तन्त्रागमीय साहित्य में अद्भुत समानता देखने को मिलती हैं। इसकी ओर से आँख फेरकर आजकल धर्म पर आधारित अध्ययन ही प्रधान रूप से प्रचलित है। फलतः एक ही धर्म में विभिन्न दृष्टियों का विकास कैसे हो गया? इस प्रश्न का सही समाधान वे दे नहीं पाते । अतः इस संकीर्ण धार्मिक दृष्टि को छोड़कर, परलोक की चिन्ता को थोड़ा शिथिल कर, वर्तमान मानवता के मानसिक परिष्कार के लिये आज तक उपार्जित सारे मानवीय आध्यात्मिक ज्ञान का सदुपयोग हमें करना होगा। तभी समग्र मानवीय संस्कृति का विकास संभव हो सकेगा। राज्य, राष्ट्र, भाषा, धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के घरौंदों में बँटा हुआ मानव तभी संघबद्ध हो सकेगा, राष्ट्रों और राज्यों के विभाजन की प्रक्रिया तभी थम सकेगी, विभिन्न भू-खण्डों में स्थित राष्ट्रों की एकता तभी संभव हो सकती है।

इसके लिये कौन पहल करेगा? संयुक्त राष्ट्रसंघ! या इस दुनिया का प्रबुद्ध चिन्तक!! अस्तु.

प्रस्तुत प्रसंग यह है कि उपासना के क्षेत्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के गरीयस्त्व की घोषणा तन्त्रागमीय वाङ्मय की विशिष्ट उपलब्धि थी। पूरे भारत के सन्त-साहित्य में इसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। यही वह शम्बल था, जिसके सहारे यह राष्ट्र परतन्त्रता-काल के एक हजार वर्षों में अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रख सका। महात्मा गांधी को इस सन्त-धारा की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारा विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की इस धारा में वह अमृतरस-सिंचिनी शक्ति अभी भी मौजूद है, जिसकी सहायता से इस नवीन भारतीय राष्ट्र के लिये एक समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा। यहूदी एवं ईसाई सन्तों की और सूफी सन्तों की भक्तिधारा ने इस ओर लम्बा रास्ता तय किया है। इन धाराओं को भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह में एकाकार कर लेने की मात्र आवश्यकता है। धर्म-परिवर्तन इस प्रक्रिया में विषबीज के समान है। ***सम्प्रदायवाद और सेक्युलरिज्म के स्थान पर आज राष्ट्रवाद और विघटनवाद पर विचार अपेक्षित है। पता चलेगा कि तथाकथित सेक्युलरिज्म विघटनवाद की ओर तेजी से बढ़ रहा है।***

सेमेटिक धर्म इतने असहिष्णु क्यों?

अमेरिका के शिकागो शहर में धर्मसंमेलन को संबोधित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया था। मुझे यह बताने में गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था, उसी वर्ष कुछ आभिजात्य यहूदी आश्रय लेने दक्षिणभारत में आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने इस्लाम के आक्रमण से पारसीक जाति की अपने यहाँ शरण प्रदान कर रक्षा की। स्वामी विवेकानन्द की इस सत्योक्ति का क्या सेमेटिक धर्मों पर प्रभाव पड़ा? स्वयं सबल ईसाई-सम्प्रदाय से प्रताड़ित उसी सम्प्रदाय का दुर्बल वर्ग भी कभी यहाँ शरण लेने आया था और चीनी तानाशाहों से प्रताड़ित तिब्बती जाति को यहाँ शरण मिली, यह तो अभी हाल की बात है।

इस्लाम के इतिहास पर आप नजर डालिये। खीष्ट धर्म के मिशनरी भी यही सब करते आ रहे हैं। धर्म के नाम पर विभिन्न जातियों का उन्मूलन, प्रताड़न करना

इनके धर्म का अंग है। कुछ जातियों पर किये गये अत्याचारों पर भारत आने से पहले अभी हाल में खीष्ट्र धर्म के सर्वोच्च धर्मगुरु ने खेद प्रकाशित किया, क्षमायाचना की। गोवा के मूल निवासियों पर किये गये ऐसे ही अत्याचारों के लिये भारत के प्रबुद्ध चिन्तकों के द्वारा आग्रह करने पर भी ऐसा उन्होंने नहीं किया। ऐसा क्यों? अपराध-बोध होने पर व्यक्ति क्षमायाचना करता है। २००१ ई. से आरंभ होने वाली २१ वीं शताब्दी में बची हुई पूरी दुनिया को खीष्ट धर्म में दीक्षित कर देने का संकल्प व्यक्त करने वाला व्यक्ति क्या ऐसे आग्रहों को स्वीकार कर सकता है? इस्लाम के धर्माचार्यों ने तो इतना भी नहीं किया। उसके स्थान पर दिल्ली की जामा मस्जिद से इमाम की बदमजगी हमें सुनाई पड़ती है। कश्मीर में मध्यकालीन इस्लामिक बर्बरता और पूर्वोत्तर राज्यों में खीष्ट धर्म की छल-छद्म पूर्ण गतिविधियाँ आज भी देखने को मिलती हैं। हमें मालूम है कि काशी से शिलांग (बोड़ोलैंड) गये एक अध्यापक और एक प्रोफेसर को कैसे नौकरी छोड़कर वापस आ जाना पड़ा था।

एक तरफ आप चार्वाक दर्शन को देखिये कि वहाँ वेदों के बारे में क्या लिखा गया है? आज भी वह हमारे पाठ्यक्रम का अंग है। दूसरी तरफ आप देखेंगे कि सलमान रुश्दी और तसलीमा नसरीन का जीना दूभर कर दिया गया है। यह भी कम दिलचश्प बात नहीं है कि तुष्टीकरण के तहत 'सेनेटिक वर्सेज' पर सबसे पहले रोक भारत में लगाई गई थी और ईराक के तानाशाह को समर्थन दिया गया था। भाजपा भी अब उसी ओर बढ़ रही है। इस प्रसंग में पहले हम सर्वधर्म-समभाव और अब धर्मनिरपेक्षता शब्द की भूमिका को उजागर करना चाहते हैं कि ये दोनों शब्द भारतीय दर्शन और संस्कृति की प्रकृति के विपरीत हैं। भारतीय दर्शन के ग्रन्थों में प्रत्येक दर्शन के तरतमभाव की, विचारों की दृष्टि से उनकी ज्येष्ठता और कनिष्ठता की परीक्षा गुण-दोष के आधार पर की गई है। श्रद्धेय कविराज जी ने इस क्रम में कुछ संशोधन उपस्थित कर इसे अधिक तर्कसंगत बना दिया है। भारतीय वाङ्मय में विशेष कर आगम-तन्त्रशास्त्र में तर्क की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है।

इसी तर्क की कसौटी पर हमें सभी धर्मों की परीक्षा करनी होगी। सर्वधर्म-समभाव वाली मनोवृत्ति यह कार्य नहीं कर सकती। पूरी मानवता का कल्याण धर्म का उद्देश्य है। क्या सेमेटिक धर्म इस कसौटी पर खरे उतरते हैं? वे तो दूसरों को मिटा कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं। ***इस्लाम का भाईचारा व्यक्ति के मुसलमान बन जाने पर चालू होता है और खीष्ट धर्म के सेवाभाव की अन्तिम परिणति भी व्यक्ति को ईसाई बना लेने में ही होती है। क्या ये धर्म इस संकीर्णता का परित्याग कर सकेंगे?*** **सहिष्णुता के अभाव में यह सब असंभव है। सभी धर्मों को मान्यता देने पर ही यह संभव हो सकता है।** ***इसके लिये हमें सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर सर्वधर्म-समादर शब्द को स्वीकार करना होगा। कोई***

भी व्यक्ति अपने धर्म की श्रेष्ठता को भले ही मानता रहे, उसे दूसरे धर्म के प्रति भी आदरभाव तो रखना ही चाहिये। भारत में बहुत पहले यह कार्य हो चुका है। इसका कारण यह है कि *भारत में धर्म के क्षेत्र में भी परिवर्तन एवं नैरन्तर्य के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था।*

भारत में प्रथमतः वैदिक एवं वैदिकेतर धर्मों में तथा बाद में बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और शाक्त धर्मों में स्मार्त धर्म के रूप में सामंजस्य स्थापित करने का सार्थक प्रयास हुआ था। *अपने धर्म की श्रेष्ठता को कायम रखते हुए यहाँ अन्य धर्मों के प्रति पूरी पूरी सहिष्णुता को जगाने की पद्धति विकसित हुई थी।* इन सभी धर्मों के आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसे देखा जा सकता है। सूफी एवं ईसाई सन्तों के माध्यम से इस सहिष्णुता का विकास अन्य वर्गों में भी हुआ, किन्तु *ब्रिटिश कूटनीति ने उस पर पानी फेर दिया। स्वामी विवेकानन्द के उपदेश से क्रुद्ध ईसाई मिशनरी ने उस आन्दोलन को विपथगामी बना दिया और आज ये सब मिलकर बया पक्षी के उपदेश से क्रुद्ध वानर की तरह भारतीयता को ही नष्ट कर देने के लिये जुट गये हैं।*

आज पूरा विश्व धर्म से ही संचालित है और पूरे विश्व को एक धर्म की काली छाया में ढक देने की, साथ ही धर्मनिरपेक्षता के मोहक जाल में सारी दुनिया को कस लेने की दुरभिसन्धि भी चल रही है और उसीके माध्यम से भारतीय धर्मों के उन्मूलन का षड्यन्त्र भी। आज भारतीयों में ही भारतीय मूल्यों के प्रति विद्वेष फैलाया जा रहा है। वर्णाश्रमधर्म, ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे कालातीत शब्दों के माध्यम से भारतीयता के प्रति नफरत बढ़ाई जा रही है। आश्चर्य यह है कि भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को बिना जाने अनेक भारतीय प्रबुद्ध चिन्तक भी उन्हींका साथ देने में लगे हुए हैं।

धर्मनिरपेक्ष और सांप्रदायिक शब्दों का मकड़जाल इतना घना हो गया है कि कश्मीर घाटी में भारतीयता के पक्षपातियों को निकाल बाहर करने के बाद भी जम्मू और लद्दाख का साम्प्रदायिक विभाजन करने को भारत सरकार तैयार नहीं है। *कश्मीर घाटी के समान इन दोनों क्षेत्रों में भी इस्लाम का वर्चस्व स्थापित हो जाने पर इनको दुनिया की तरफ से धर्मनिरपेक्ष होने का जो प्रमाणपत्र मिला जायगा।* भारत के एक प्रधानमन्त्री के अशोक महान् बनने के चक्कर ने भारतीयता को संकटग्रस्त कर दिया है। *दुनिया की सद्भावना को जुटाने में लगे आज के शासक भी वही कार्य कर रहे हैं। भारतीय शास्त्रों में लोकैषणा को सर्वाधिक विनाशक माना है। मुसलमानों में मानसिक गुणवत्ता को बढ़ाने की आवश्यकता थी। अपने घोषित एवं भावनात्मक एकता के लिये आवश्यक सिद्धान्तों से विमुख होकर उनको उसी रूप में अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न उनके अपने लिये ही नहीं, अन्ततः देश के लिये भी घातक सिद्ध होगा।*

इस्लामिक आतंकवाद के विरुद्ध कोई भी देश भारत की तरफदारी नहीं करेगा। भारतीयता को नष्ट कर देने का यह सेमेटिक धर्मों का संमिलित षड्यन्त्र है और भारत में पनप रहा कम्युनिज्म ईसाई मत से न सही, इस्लाम से समरस है। विश्व हिन्दु परिषद् के एक प्रभावी सज्जन ने ख्रीष्ट धर्म की सहायता से इस्लाम के आतंकवाद से निपटने का अपना मन्तव्य प्रकट किया था। अभी हाल में अमेरिका में संपन्न हुए विश्व धर्म संम्मेलन ने उनकी आँखें खोल दी होंगी। ऐसे लाल-बुझक्कड़ी सुझावों के स्थान पर उनको समस्त भारतीयता को एकजुट करने का प्रयत्न अपने अपने दुराग्रहों को छोड़ कर करना चाहिये। *एक अनबूझ महिला के चंगुल में जाने से बचाकर श्री मुलायमसिंह यादव ने इस देश का महान् उपकार किया है, धर्म के अन्तरराष्ट्रिय षड्यन्त्र से इस देश को बचाया है। इस देश को अंग्रेजी भाषा से मुक्ति दिलाने के लिये एक आन्दोलन चलाया गया था, अंग्रेजी भाषा और नेकटाई का फंदा अपने गले में डाले, मेकाले के दास तथाकथित भारतीय प्रशासनसेवा के सदस्यों के शिकंजे से इस देश को मुक्ति दिलाये बिना यह आंदोलन अधूरा रह जायगा। संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रति उनके विचार अधकचरे हैं। इस देश की उत्कृष्ट सांस्कृतिक परम्परा, विशेष कर विगत एक हजार वर्ष में देशी भाषाओं के माध्यम से पूरे भारत में विकसित सन्त-विचारधारा से उन्हें पूरी तरह से परिचित होना चाहिये। वे देखेंगे कि इन सबका उत्स संस्कृत भाषा से लिया गया है।*

हमारी समझ में भारत में जयचन्द के समय से ही बाहरी व्यक्ति को महत्त्व देने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। इसीके कारण हम अपनी एक भाषा और संस्कृति के निर्माण में असमर्थ हो रहे हैं। सिनेमा, आकाशवाणी और दूरदर्शन जैसे सशक्त साधनों का उपयोग आज हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति को ही नहीं, भारतीयता को भी विकृत करने में हो रहा है, विकृत धन और विकृत विचारों का साम्राज्य फैलाया जा रहा है। इसके कारण हमारी सारी सामर्थ्य क्षीण हो गई है। जब हम स्वयं ही संकीर्णता और असहिष्णुता से घिसते-पिसते जा रहे हैं, तो दूसरों को इससे मुक्ति कैसे दिला सकते हैं?

सेमेटिक धर्मों का शिकारगाह भारत

अभी हाल की अपनी भारतयात्रा के समय माननीय पोप जान पाल द्वितीय ने २१ वीं शताब्दी में बची हुई दुनिया को ख्रीष्ट धर्म में दीक्षित कर लेने की अपने अनुयायियों को नेक सलाह दी थी। इस्लाम के कुछ सिरफिरे अलमदार भी जेहाद के नाम पर पूरी दुनिया में आतंकवाद को फैलाने में लगे हुए हैं। ईसाई मिशनरियों के द्वारा की जा रही कोढ़ियों की सेवा जैसे भले कामों की हम प्रशंसा करें, यह तो उचित ही है, किन्तु इसके साथ ही भारतीय प्रजा में परस्पर विद्वेष की भावना भरना, आदिवासी जनों में भारतीय मूल के धर्मों के प्रति अनर्गल प्रचार कर घृणा फैलाना कहाँ तक उचित माना जा सकता है? मौलाना वहीदुद्दीन खाँ साहब एक सुलझे हुए इस्लामिक विद्वान थे। सन् १९९६ में पूना में सम्पन्न हुई विश्व दर्शन परिषद् में हमने उनके सुलझे हुए विचार सुने थे। वे भी शिक्षा-संस्थानों में प्रविष्ट अवांछनीय तत्त्वों के खिलाफ की गई कार्यवाही को सहन नहीं कर पाये और भारतीय संस्कृति में आई अच्छाइयों का श्रेय पारसियों और ईसाइयों को देना चाहते हैं। श्री कुलदीप नैयर जैसे स्तंभकारों को और श्री मुलायमसिंह यादव जैसे राजनीतिज्ञों को इस्लाम में तो अच्छाइयाँ दिखाई पड़ती हैं, किन्तु भारतीय धर्म उनकी दृष्टि में घृणा के ही पात्र हैं। अंग्रेजी के अखबारों की तो भारतीयता के तिरस्कार में अग्रणी भूमिका रहती ही है।

पूना नगरी लोकमान्य तिलक की तपोभूमि रही है। ऊपर चर्चित विश्व दर्शन परिषद् के अवसर पर हमने देखा कि फूल-माला और गुलदस्ता को तिलांजलि देकर उस परिषद् में पूना के प्रबुद्ध विद्वानों की उपस्थिति में 'बुके' को पूरी तन्मयता के साथ स्वीकार कर लिया गया था। आज परस्पर आदरभाव को प्रदर्शित करने के लिये प्रणाम का स्थान 'हेंड सेक' ने ले लिया है। यह प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ चुकी है कि अब स्त्रियों से हाथ मिलाने में भी कोई संकोच नहीं रह गया है। बाहरी संमान्य अतिथियों के आने पर उनके स्वागत की प्रक्रिया में पत्नियों की स्थिति बदल जाती है। भारत की इस विषय में विचित्र स्थिति है कि यहाँ के प्रथम प्रधानमन्त्री विधुर थे और वर्तमान प्रधानमन्त्री कुँवारे हैं। भारतीय तिथि के अनुसार आज विरले ही अपना जन्मदिन मनाते हैं। बच्चों के जन्मदिन के पूरे कर्मकाण्ड में भारतीयता सिसकती रहती है। राजनीतिक पार्टियों का परस्पर का व्यवहार मध्यकालीन कबीलाई संस्कृति की याद दिलाता है। भारत के अनेक क्षेत्रों में हम इस अपसंस्कृति का साक्षात् दर्शन आज भी कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति में बालक, वृद्ध और स्त्रियों पर आक्रमण वर्जित था। आत्महत्या जघन्य कृत्य माना जाता था। आत्मदाह के रूप में आज इसको बढ़ावा मिल रहा है। इस कुकृत्य के जनक अब भी कुछ न कुछ खुराफात करते रहते हैं। भारत

में आज इनकी निन्दा करने वाले भी नहीं रह गये हैं। ऐसी स्थिति में यह देश सेमेटिक धर्मों का शिकारगाह बना रहे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भारत में ऐसा क्यों हो रहा है? दुनिया की उदारतम संस्कृति और सभ्यता के धनी इस देश पर यह किसकी काली छाया पड़ रही है? इस पर हमें गंभीरता से विचार करना होगा। यह भी हमें सोचना है कि आज की काशी डॉ. भगवान् दास, पण्डित गोपीनाथ कविराज, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसी विभूतियों को देने में क्यों असमर्थ है? "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" यह अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त का वचन है, ऋग्वेद का नहीं। यहाँ तक तो गनीमत है। भारतीय संस्कार किस तरह से सिमटते जा रहे हैं, इसका एक अच्छा उदाहरण २८ अक्टूबर की आकाशवाणी की प्रातः ८ बजे की बुलेटिन ने प्रस्तुत किया था। टिप्पणीकार ने हमें बताया कि भारतीय संस्कृति में ६० वर्ष में संन्यास लेने का और ७५ वर्ष पर वानप्रस्थी बन जाने का विधान है। इस परिस्थिति में इस पवित्र भूमि को माता और अपने को उसका पुत्र मानने वाले संस्कार कैसे पनप सकते हैं? आज तो इसके विपरीत आचरण हो रहा है। तभी तो दूरदर्शन ने समाचार बुलेटिन के प्रारंभ में इस पवित्र भूमि के मानचित्र को और उसकी कुछ विशिष्टताओं को दिखाना बन्द कर दिया। महात्मा गाँधी के प्रिय भजन को हमने सांप्रदायिक घोषित कर दिया है। "वन्दे मातरम्" पर किसकी कुदृष्टि पड़ी है?

दुनिया में सेमेटिक धर्मों की धाक जमाने वाली हस्तियों ने भारत सरकार को ध र्मनिरपेक्षता का छुनछुना पकड़ा दिया है। जब वह इसको बजाती है, तो इसे यह होश नहीं रहता कि हज यात्रियों की सुख-सुविधा के लिये किया गया करोड़ों रु. का खर्च धर्मनिरपेक्षता की परिधि में आता है या नहीं? ईसाई मिशनरियाँ इस देश के साथ जो विश्वासघात कर रही हैं, उसे देखने-सुनने वाला कोई नहीं है, किन्तु इनके विरुद्ध जब कोई छोटी-मोटी भी प्रतिक्रिया हो जाती है, तो उसे नमक-मिर्च लगाकर पूरी दुनिया के सामने परोस दिया जाता है। इस कार्य में भी विदेशी समाचार माध्यमों की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा के भारतीय पत्र बाजी मार ले जाने में सदा 'मोस्ट ओबिएन्ट सर्वेन्ट' की भूमिका अदा करते हैं। अंग्रेजी वेष-भूषा और भाषा के गुलाम भारतीय प्रशासन-सेवा के अधिकांश सदस्य और स्तंभलेखक भी उनसे पीछे नहीं रहते।

इस देश में अपराधी मनोवृत्ति को किसने बढ़ावा दिया है? सामूहिक रूप में अपराधियों को छुड़ा लेने वाले कौन हैं? बम्बई के बड़े-बड़े अपराधी कहाँ दुबके हुए हैं? अल्पसंख्यक आयोग और मानवाधिकार आयोग की कृपादृष्टि किस पर पड़ती है? देश के भीतर जामा मस्जिद से, उत्तर में कश्मीर से और पूर्वोत्तर भारत से किस तरह के सुर फूट रहे हैं? दुनिया को यह सब भी बताया जाय, इसके लिये कोई फुरसत में नहीं है। चालाकी भरे धर्मान्तरण और जेहाद की ओट में हो रहे आतंकवाद से जब

तक दुनिया छुटकारा नहीं पावेगी, मानवजाति सुख-शान्ति से नहीं जी सकेगी, मानवाधिकारों की डुग्गी पीटने वालों को पहले इस पर विचार करना चाहिये। यरूसलम पर पहला अधिकार किसका है? इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है। विगत दो सौ वर्षों में यूरोप में भारतीय शास्त्रों का अनुवाद हुआ। उसका वहाँ की प्रबुद्ध जनता पर प्रभाव पड़ा, विशेष कर आध्यात्मिक क्षेत्र में, किन्तु उससे लाभ उठाने के बजाय ईसाई मिशनरी ने उसका मजाक ही उड़ाया है। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया के इस उत्कृष्ट अवदान को दुनिया के सामने रखने की उनकी कोई मंशा नहीं है। यह कार्य तो हमें स्वयं ही करना पड़ेगा।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण ने, वैदिक कर्मकाण्ड स्वर्ग तक ही सीमित है, यह कह कर उसकी समालोचना की थी। चार्वाक दर्शन तो इससे भी बहुत आगे बढ़ गया था। आज के सेमेटिक धर्म भी स्वर्ग-नरक से ऊपर नहीं उठ पाये हैं। इन धर्मों के अनुयायी आज भी इतना साहस नहीं जुटा सके हैं कि वे इनकी समालोचना कर सकें। हमनें अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" के प्रथम खण्ड की प्रस्तावना (पृ.१३) में इस विषय पर विचार किया है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों को उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करनी चाहिये।

सुधारवादी आन्दोलन की एक गलत प्रवृत्ति की हम चर्चा करना चाहते हैं। यह प्रचारित किया जाता है कि इधर ढाई हजार वर्षों में भारत ने कोई नया अवदान नहीं दिया। पश्चिम पयोधि (अरब सागर), पूर्व सागर (बंगाल की खाड़ी), दक्षिण जलनिधि (हिन्द महासागर) जैसे शब्दों की वे चर्चा करते हैं। उनकी जानकारी के लिये हम यह सूचना देना चाहते हैं कि रामेश्वर की यात्रा पर गया प्रत्येक श्रद्धालु भारतीय समुद्र-स्नान करते समय संकल्प वाक्य में "रत्नाकर-महोदधिसङ्गमे" पढ़ता है। विशेष जानकारी के लिए स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का "सारस्वती सुषमा" (व.६, पृ. ३३९-४३) में प्रकाशित "अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्" शीर्षक संस्कृत निबन्ध देखा जा सकता है।

दूसरी तरफ कुछ यूरोपीय विद्वान् इससे पहले भारत ने दुनिया में कोई अवदान दिया हो, ऐसा मानने को तैयार नहीं है। मिशनरियों को हम इनमें शामिल कर सकते हैं। इन दोनों दृष्टियों से हमें ऊपर उठना होगा। पूर्ववर्ती अवदानों को अब विश्व की मान्यता मिल चुकी है और उत्तरवर्ती अवदानों को उजागर करने के लिये इस बीसवीं सदी में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। इसमें हमने भी अपना कुछ सहयोग किया है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हिन्दस्का दुनिया को भारत की देन है और तदनुसार सन् २००१ से २१ वीं शती प्रारंभ होगी। अंकों को सावधानी से देखिये।

अन्त में संघ परिवार से हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। अभी उनकी तरफ से भारतीयकरण की बात उठाई गई है। बहुत पहले डॉ. मधोक ने इस प्रश्न को छेड़ा था। उस सयम हमने लिखा था कि इस प्रक्रिया से हम सभी को गुजरना पड़ेगा। पर जब संघ परिवार की तरफ से यह चर्चा की जाती है, तब उसका अर्थ हिन्दूकरण हो जाता हैं। यह आश्चर्य की ही बात है कि भारतवर्ष की भारती प्रजा को यह नाम मुसलमानों और ईसाइयों ने दिया, जिसमें उनकी भी गिनती होनी चाहिये। अब यह नाम देने वाले इससे दूर भाग रहे हैं और संघ परिवार इससे पूरी तरह से जुड़ गया है। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की जैसी इनकी स्थिति हो गई है। संघ परिवार से हमारा अभिप्राय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद्, शिवसेना, बजरंग दल जैसे सभी संघटनों से है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अध्यक्ष जब भारतीयकरण की चर्चा उठाते हैं, तो "नाम्ना तु भारतं वर्षं भारती यत्र सन्ततिः" महाभारत के इस वचन के अनुसार हमें सर्वप्रथम 'भारती प्रजा' शब्द पर ध्यान देना चाहिये। यह भारत का दुर्भाग्य है कि ज्वलन्त राष्ट्रीय समस्याओं पर भी हम मिल-बैठ कर विचार नहीं कर सकते। उपनिषदों में और चरक-सुश्रुत जैसे चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिये परिषदों के आयोजन की चर्चा मिलती है। नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों के संवाद से अधिसंख्य प्रजा परिचित है। चीन और जापान राष्ट्रीय आम सहमति के आधार पर ही आगे बढ़ रहे हैं। पूरे राष्ट्र में भावनात्मक एकता की स्थापना के लिये कुछ राष्ट्रीय प्रश्नों पर हमें सर्वसंमत निर्णय करने के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। ***इस देश के सेमेटिक धर्मों का शिकारगाह बने रहने तक यह प्रक्रिया प्रारंभ नहीं हो सकती। इसके लिये हमें सबसे पहले भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम अवदानों को दुनिया के सामने उजागर करना होगा।***

मजहबी कर्मकाण्ड की सरलता ने भारतीय धर्मों के कठोर नियन्त्रण को झकझोर दिया है। सामान्य जनता के लिये कीर्तन जैसे कर्मकाण्डों को अवश्य मान्यता दी गई, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस ओर आगे बढ़ने से पहले परस्पर के सन्देहों को मिटाना आवश्यक है। ***इस प्रसंग में भट्ट कुमारिल की एक उक्ति को उद्धृत कर हम इस वक्तव्य को पूरा करना चाहते हैं। वह उक्ति है— "दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते"। कहीं कोई बुराई के न रहने पर भी मनुष्य कभी उसकी कल्पना कर लेता है। आज भारत में इसी मनोवृत्ति का प्राबल्य है। अब आगे हम कहाँ तक सिकुड़ेंगे?***

प्रगतिशील और प्रतिगामी : एक विश्लेषण

हमने कहीं लिखा है कि अधिसंख्य भारतीय प्रजा को उपदेश देने में आज वे भी पीछे नहीं हैं, जिनकी जड़े भारतवर्ष में हैं ही नहीं। ऐसे ही लोग प्रगतिशीलता का बाना भी पहन लेते हैं। अधिसंख्य प्रतिगामी प्रजा का उद्धार करना वे अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। आजकल इस देश में प्रगतिशील कहलाने की इच्छा इतनी प्रबल हो उठी है कि गांधीवादी संस्थाओं में आर्थिक घोटालों को सरंजाम देनेवाले भी अपने को प्रगतिशील मानकर अधिसंख्य भारतीय प्रजा को प्रतिगामिता से ऊपर उठाने के लिये तथाकथित सन्त-वचनों का भी सहारा लेने से नहीं चूकते। महात्मा गांधी के हत्यारे नाथूराम गोडसे के उदाहरण से ये अधिसंख्य भारतीय प्रजा को प्रतिगामी मानते हैं और यह भूल जाते हैं कि प्रतिस्पर्धी की हत्या कर देना सेमेटिक धर्मों से आये कुसंस्कार हैं। भारतीय संस्कृति में इस तरह के उदाहरण बिरले ही मिलेंगे। ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि में शिवसेना के प्रमुख बाल ठाकरे प्रतिगामी हैं और दिल्ली की जामा मस्जिद के इमाम अब्दुल्ला बुखारी, जनाब शहाबुद्दीन जैसे व्यक्ति प्रगतिशील। ये लोग हिन्दुवादी संगठनों को सांप्रदायिक और अपने को धर्मनिरपेक्ष बताने के लिये दिन-रात लगे रहते हैं। आज का धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति प्रगतिशील और साम्प्रदायिक प्रतिगामी जो माना जाता है। कम्युनिस्ट विचारधारा से ये दोनों शब्द पनपे हैं, ऐसा हम मान सकते हैं।

धर्मनिरपेक्ष और सांप्रदायिक शब्दों की समीक्षा हम अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। इसी तरह से इन दोनों शब्दों की भी हमें समीक्षा करनी होगी, एक विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा कि उक्त शब्दों का प्रयोग भी सही अर्थों में होता है या नहीं? आजकल 'गरीबी हटाओ' जैसे ढेर सारे नारे उछाले जाते हैं, जिनका वास्तविकता से कोई संबन्ध नहीं रहता। धर्मनिरपेक्षता और सांप्रदायिकता जैसे शब्दों की तरह प्रगतिशील और प्रतिगामी शब्दों की प्रवृत्ति भी आज एकदम विपरीत अर्थों में होने लगी है। कम्युनिस्ट परिभाषा में प्रगतिशील वह है, जो प्राचीनता को पूरी तरह से नकार चुका है और प्रतिगामी वे कहलाते हैं, जो प्राचीनता से पूरी तरह से चिपके हुए हैं। क्या यह सोच सही है? भारतीय दृष्टि ने इस सोच को बहुत पहले नकार दिया है। महाकवि कालिदास के अनुसार ये दोनों ही दृष्टियाँ सही नहीं है। उनके अनुसार तो समझदार व्यक्ति किसी बात को उसकी परीक्षा कर लेने के उपरान्त ही मानता है। महाकवि कालिदास के "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" इस श्लोक का चौथा पाद है-- "मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः", अर्थात् नासमझ आदमी जल्दी दूसरे के कहने में आ जाता है। इस पर टिप्पणी अपेक्षित नहीं है।

आज का बुद्धिजीवी वर्ग, जिसमें हम नोबेल पुरस्कार के विजेता प्रो. अमर्त्यसेन को भी शामिल कर सकते हैं, कम्युनिस्टों के द्वारा परिभाषित प्रगतिशीलता की मृगमरीचिका में फँसकर समस्त पुरातन दृष्टि को नकार देने में लगा हुआ है। इनकी मन्द पड़ी संकीर्ण दृष्टि पाश्चात्य चश्मे के सहारे ही भारतीयता को देख पाती है। यह पाश्चात्य चश्मा उनके सामने भारतीयता के दुर्गुणों को ही उजागर कर पाता है। यह उन शाश्वत मूल्यों को नहीं देख पाता, जिनका प्रतिपादन उपनिषदों से लेकर भारत की समस्त भाषाओं में निबद्ध सन्त साहित्य में निरन्तरता से हुआ है। वे समय-समय पर हुए उन परिवर्तनों को भी नहीं देख पाते, जिनको भारतीय संस्कारों ने सहर्ष स्वीकार किया है। कुछ चुने हुए गांधीवादी विचारकों और आचार्य नरेन्द्रदेव के कुछ गिने-चुने समाजवादी अनुयायियों के अतिरिक्त आजकल भारत में प्रचारित अन्य समस्त विचारधाराओं के बुद्धिजीवी सेमेटिक धर्मों के पुरोहितों के द्वारा निर्धारित भारतीय संस्कृति के स्वरूप से परिचित होकर, उसे प्रतिगामी तथा अपनी-अपनी दृष्टि को प्रगतिशील सिद्ध करने में लगे रहते हैं। इनके पोषक राजनीतिज्ञों के और इनके सामने तो अनेक प्रलोभन हो सकते हैं, किन्तु गांधीवादी विचारधारा से जुड़ी सुश्री निर्मला देशपांडे जब जामा मस्जिद के इमाम जनाब अब्दुल्ला बुखारी के सुर में सुर मिला कर सारी परिस्थितियों को जानते हुए भी वामियान की बुद्धमूर्ति के विध्वंस की तुलना बाबरी ढांचे के विध्वंस से करती हैं, तब समझ में आता है कि आज गाँधी जी का प्रिय भजन "वैष्णव जन तो.........." कैसे सांप्रदायिक बन गया।

काशी के जंगमवाड़ी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से इधर दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इनमें भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर किये गये, ब्राह्मणवाद और मनुवाद से प्रभावित होने जैसे समस्त मिथ्या आक्षेपों का समाधान कर, उसके परिष्कृत समग्र स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। आचार्य नरेन्द्रदेव के निकट सहयोगी प्रो. मुकुटबिहारीलाल के "साम्ययोगमीसांसा" नामक ग्रन्थ में विविध आयामों से समाजवादी भारतीय संस्कृति की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उन्होंने ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है—
आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में हमें एक ऐसी संस्कृति का विकास करना है, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में हो, जिसका रूप-रंग देशी हो, जिसमें पुरातन संस्कृति के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित हों और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश हो, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने नवीन आदर्श उपस्थित करते हैं। प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, निष्काम सेवा, शील और संयम तथा अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद एवं इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या ही इस

पुस्तक में प्रतिपादित विचारों के मूल आधार हैं। मनुष्यता का समुचित आदर और उसका सर्वांगीण विकास ही पुस्तक का मूल मन्त्र है, मानवमात्र का अभ्युदय ही इसका लक्ष्य है।

इन विचारों की आप आधुनिक प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से तुलना कीजिये। सर्वत्र कलह के बीज खोजने वाले साम्यवादी प्रगतिशील और मानव मात्र की समृद्धि और सुख-शान्ति की खोज में निरन्तर सचेष्ट भारतीय विचारधारा इनके लिये प्रतिगामी है। भारतवर्ष में सर्वत्र इसी तरह की विचारधाराओं के अबाध प्राबल्य के कारण भारत का प्रथम प्रधानमन्त्री अशोक महान् बनने का सपना देखता हुआ पंचशील की गलत व्याख्या में फँस गया था और आज का प्रधानमन्त्री हीनभावना से ग्रस्त है। उनको मुम्बई के बाल ठाकरे के रूप में हिन्दुवादी दृष्टि में तो दोष दिखाई पड़ता है, जो केवल बोलता है; किन्तु पूरे देश में सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों के द्वारा फैलाई जा रही क्रूर हिंसा उन्हें नहीं दिखाई पड़ती। असम और उसके आसपास के क्षेत्रों में अनेक पीढ़ियों से रह रहे बिहार आदि राज्यों के गरीब कामगारों को तथा राजस्थान आदि से आये व्यापारियों को सामूहिक हत्या, उत्पीड़न आदि के माध्यम से निकाल बाहर करने की दुश्चेष्टा उनको दिखाई नहीं पड़ती। काश्मीरी पंडितों को निकाल बाहर करने की बात तो अब पुरानी पड़ चुकी है। प्रत्येक भारतीय को भारत के किसी भी कोने में बसने का अधिकार क्या अब मुम्बई तक ही सीमित रह जायगा? यह आश्चर्य की ही बात है कि हिंसा में लिप्त, मानवता को कलंकित करने वाले ये व्यक्ति अपने को धर्मनिरपेक्ष तो मानते ही हैं, अधिसंख्य भारतीय बुद्धिजीवियों की दृष्टि में भी ये प्रगतिशील हैं और वाक्शूर ठाकरे प्रतिगामी। साहस और दृढ़ संकल्प के अभाव में इस तरह की परिस्थितियों को पनपने से कैसे रोका जा सकता है?

हम अनेक जगह लिख चुके हैं कि हिन्दु शब्द हमारे ऊपर थोपा गया है। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में इसका प्रयोग कहीं भी देखने को नहीं मिलता। भारतीय सनातन धर्म को 'हिन्दु' नाम देकर हम अपनी हीनभावना को ही प्रकट करते हैं। इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो हिन्दुस्तान (पाकिस्तान के साथ) का प्रत्येक निवासी हिन्दु है, किन्तु हमें यह समझाया गया है कि भारत में तो मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि कई मजहबों को मानने वाले रहते हैं, उनसे अपने को अलग रखने के लिये हमें यह शब्द जोड़ना पड़ेगा। तुर्रा यह है कि हम इसमें बौद्धों, जैनों और सिक्खों को शामिल नहीं कर सकते। इसे हमने स्वीकार कर लिया है और विगत दो शताब्दियों का पूरी दुनिया का साहित्य इस पर मोहर लगा चुका है। हमारी दृष्टि में यह शब्द एक

पराजित जाति का सूचक है, जो सपने बहुत ऊँचे देखती है, किन्तु वास्तव में आकंठ हीनभावना से ग्रस्त है। अभी बंगलादेश की एक छोटी सी घटना इस पर अपनी मुहर लगा चुकी है।

यदि हमें दुनिया में अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखना है, तो हमें भारतीय सनातन मूल्यों को पूरी दुनिया के सामने लाना होगा। इन मूल्यों की विशद व्याख्या हमने एक हजार पृष्ठ के अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" में की है। हीनभावना से ग्रस्त हिन्दु समाज यह कार्य नहीं कर सकता। महात्मा गाँधी और समाजवादी आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में भारतीय सनातन धर्म ने सभी भारतीय धर्मों (बौद्धों और जैनों के साथ) की उत्कृष्ट मान्यताओं और संस्कारों के उदात्त तत्त्वों को सहर्ष स्वीकार किया है। इसको आजकल के तथाकथित बुद्धिजीवियों के सस्ते और भ्रामक उपदेशों की जरूरत नहीं है। ऐसे लोगों को भारतीय सनातन दृष्टि का अनुसरण कर सेमेटिक धर्मों की रूढिवादिता और हठधर्मिता को हटाने में अपनी बुद्धि का सही उपयोग करना चाहिये। भारतीय दृष्टि संस्कृति-संगम में, विचारों के आदान-प्रदान में विश्वास रखती है। महात्मा गांधी के बताये मार्ग से हम इस ओर आगे बढ़ सकते हैं। *इतना हमें अवश्य समझ लेना चाहिये कि सन्तधारा भारतीय उत्कृष्ट विचारों की चरम परिणति है, प्रथम नहीं। प्रथम स्थान तो हमें उपनिषदों को ही देना होगा।*

हमारा दृढ विश्वास है कि प्रबल झंझावातों के थपेड़े खाता हुआ भी यह भारत देश और यहाँ की भारती प्रजा अपनी संस्कृति की समन्वयात्मक सहिष्णुता के आधार पर एक दिन पूरे विश्व को "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इस वैदिक उपदेश को हृदयंगम कराने में समर्थ होगा आर्य-द्रविड़, बौद्ध-जैन जैसे शब्दों के माध्यम से भारती प्रजा में अवसाद के बीज बोने वालों का षड्यन्त्र एकदिन बेनकाब होकर रहेगा। शर्त यह है कि भारतीय सहिष्णुता का गुणगान हमें कहीं भ्रम में न डाल दे, यह हमें कायरता के किनारे ले जाकर न छोड़ दे।

इस घर को आग लग गई घर के चिराग से

भारत की आज यही स्थिति है। तरह-तरह की विचारधाराओं और उन पर आग्रहशील बुद्धिजीवियों के कारण यह देश आज जल रहा है। इसका दुष्प्रभाव राजनीति पर भी पड़ रहा है। आधुनिक लोकतन्त्र में बहुमत के आधार पर दलीय शासन को मान्यता मिली हुई है। इसमें पक्ष और विपक्ष की अपनी-अपनी भूमिका रहती है। यहाँ दुराग्रह का कोई स्थान नहीं है, किन्तु इस देश की राजनीति में पक्ष-विपक्ष का स्थान शत्रुभाव और मित्रभाव ने ले लिया है। इसके कारणों की खोज हमें करनी होगी।

प्राचीन भारत में परस्पर विरोधी भावों और विचारों में सामंजस्य बैठाने के लिये, उनमें आपात रूप से दिखाई पड़ने वाले विरोध के परिहार के लिये प्रयत्न किया गया था। उदाहरण के रूप में महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय को प्रस्तुत किया जा सकता है। इनके समन्वयाध्याय और अविरोधाध्याय शीर्षक से ही विषयवस्तु का ज्ञान हो जाता है। वर्तमान में भारत में चल रहे चतुष्कोणीय संघर्ष की हमने ऊपर चर्चा की है। इनमें परस्पर के विरोध को दूर कर सामंजस्य बैठाने की आवश्यकता है। यही आज नहीं हो रहा है। यह इसलिये नहीं हो रहा है कि आज हम भटक गये हैं।

मौलाना वहीदुद्दीन खाँ साहब को अपने लेखन में हमने अनेक जगह पूरे आदर के साथ स्मरण किया है। वह इसलिये कि इनकी दृष्टि सांस्कृतिक एकता की ओर अग्रसर है, किन्तु इस एकता का श्रेय जब वह पारसियों और ईसाइयों को देते हैं, तो हमारी समझ में यह नहीं आता कि पारसी और ईसाई धर्म की उत्पत्ति से पहले प्रचलित हुई ब्रह्मसूत्र की विचारसरणि उनकी आँखों से कैसे ओझल हो गई। कृतान्तपंचक (सांख्य-योग-पांचरात्र-पाशुपत-वेदारण्यक) में परस्पर सामंजस्य बैठाने की प्रक्रिया भी यहाँ प्राचीन काल में ही प्रारंभ हो गई थी। पारसियों और ईसाइयों ने ही क्यों? सूफी सन्तों के माध्यम से इस्लाम ने भी इस ओर अपने डग भरे थे, किन्तु आज हम देखते हैं कि इतिहास की इस दिशा को उलटा मोड़ देने की कोशिशें हो रही हैं।

इस्लाम के आतंकवाद और जेहादी नारों की तथा कम्युनिज्म के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की इसमें बड़ी शोचनीय भूमिका है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तो अपने आप अपनी मौत भर जायगा, किन्तु इस्लामी जेहादी नारों से उत्प्रेरित आतंकवाद पूरी मानवता के विनाश का कारण बन सकता है, यदि उसे समय रहते रोका न गया। इस प्रसंग में हमे श्रीमद्भागवत महापुराण का एक श्लोक याद आता है (जुगुप्सितं. १.५.१५)। उसमें

बताया गया है कि धर्म के नाम पर घिनौनी बातों का प्रचार करने वाला यह समझ नहीं पाता कि मैं कितना अनर्थ करने जा रहा हूँ। किसी समय भारत में प्रवृत्त कौलमत की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को देखकर भागवतकार ने यह लिखा लगता है। वह पूरी तरह से आज के इस्लाम की वर्तमान बर्बर गतिविधियों पर भी लागू होता है। धर्म के नाम पर प्रचारित किये जाने वाले इस तरह के कार्यकलापों की आज का प्रगतिशील बुद्धिजीवी-वर्ग आलोचना नहीं करता। इसके स्थान पर वह अपनी सारी बुद्धि का उपयोग भारतीय वर्णव्यवस्था को गरियाने में करता है। वर्णव्यवस्था की समालोचना उसमें विद्यमान ऊँच-नीच की भावना के कारण होनी चाहिये।

हम बता चुके हैं कि आज से एक हजार वर्ष पहले भारतीय शास्त्रों में इसकी पर्याप्त समालोचना हो चुकी है। इस समस्या का समाधान महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव की दृष्टि का अनुसरण कर किया जा सकता है। हमें यह स्मरण रखना है कि डॉ. राममनोहर लोहिया की दृष्टि वर्गसंघर्ष के, पार्थक्यवाद और परस्पर की घृणा के साम्यवादी सिद्धान्त पर टिकी हुई थी। वह समाज में वर्गविद्वेष को ही फैला सकती है। परस्पर में सामंजस्य की स्थापना में इसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। यह अनपेक्षित चर्चा हमें इसलिये करनी पड़ी कि कुछ समाचारपत्र और बुद्धिजीवी प्रयत्नपूर्वक इस दृष्टि को आगे बढ़ाने के लिये निरन्तर सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। वर्णों का ज्येष्ठ-कनिष्ठभाव समय के साथ शिथिल होता जा रहा है। भारतीय सन्तों की लम्बी परंपरा ने अधिसंख्य भारतीय प्रजा को सुशिक्षित कर दिया है। इसके लिये अब भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ बुद्धिजीवियों के उपदेश अनपेक्षित हैं।

वामियान की दुर्घटना ने मानव जाति को चेताया है। आज जेहादी आतंकवाद मानवता का सबसे बड़ा शत्रु है। पूरी दुनिया को मिलकर इसका सामना करना चाहिये। यह भी भारत की ही विशेषता है कि इस तरह की जनूनी हरकतों के खिलाफ उठ खड़े होने वाले यहूदियों की समालोचना में यहाँ के अधिसंख्य बुद्धिजीवी अपनी लेखनी का उपयोग तो करते हैं, किन्तु संपूर्ण मानवता के विपरीत हो रहे आचरणों की अनदेखी कर देते हैं। इस्लामिक आतंकवाद के नये स्वरूप के कारण भारतीयों के द्वारा यरूसलम की समालोचना कुछ धीमी पड़ी है, क्योंकि वामियान की दुर्घटना ने इनकी चूलें हिला दी हैं, तो भी कुछ शिरफिरों को बाबरी ढाचे से इसकी तुलना करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। "मस्जिद में देवमुक्ति यज्ञ का विहिप का प्रयास विफल" इस तरह के शीर्षकों से जान-बूझ कर क्यों समाचार परोसे जोते हैं? १५ नवम्बर, सन् १९९७ के दैनिक जागरण में प्रकाशित इमाम मुहम्मद बिन अब्दुल्लाह अल हुसैन के वक्तव्य के अनुसार तो ऐसे स्थानों को अपने मूल रूप में आ जाना चाहिये था। इसके लिये किसी आग्रही को बहुत खुला प्रमाण देखना हो तो वह

सिद्धपुर (गुजरात) के रुद्रमहालय को देख सकता है। हमें इतना तो अवश्य ही सोचना पड़ेगा कि फिलिस्तीनियों का पक्ष लेकर कहीं हम जेहादी आतंकवाद को तो बढ़ावा देने नहीं जा रहे हैं? संघ परिवार की आलोचना करते समय जब हम इस्लामिक आतंकवाद की अनदेखी करते हैं, उस समय भी हम इसी भूल को दुहराते हैं। बात-बात पर अल्पसंख्यकों की धार्मिक भावनाओं के आहत होने और फिर उन घावों पर मरहम लगाने की बात तो इन बुद्धिजीवियों और उन तथाकथित राजनेताओं को भी समझ में आती है, किन्तु इनमें इतनी असहिष्णुता कहाँ से आ गई है कि रह रह कर छुई-मुई की तरह इनकी धार्मिक भावनाएँ और विचार-शक्ति भी सकुचाने लगती है! इस्लाम की इस असहिष्णुता में परिष्कार अपेक्षित है।

बृहत्तर भारत की सांस्कृतिक पहचान के भीतर हमें भारत में बस रहे सभी धर्मों के अनुयायियों को लाना होगा। श्रीलंका और वर्मा भी इसके अभाव में भटक रहे हैं और भारत पर भी इसकी काली छाया पड़ गई है। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की कल्पना श्रीलंका के बौद्धों की देन है। महायानी और मन्त्रयानी बौद्ध धर्म ने इसको बहुत पीछे छोड़ दिया है। किन्तु इधर भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार श्रीलंका के माध्यम से हुआ है, जहाँ ईसा-पूर्व पहली शताब्दी के महाकवि अश्वघोष का बुद्धचरित भी नहीं पढ़ाया जाता। क्यों? इसी प्रश्न के उत्तर में श्रीलंका की अशान्ति के बीज छिपे हुए हैं। वर्मा भी बहुत कुछ इसी व्याधि का शिकार रहा है। अखबारों में गौतम बुद्ध के दाँत को ताइवान को भेंट कर देने की खबर देते समय बौद्धभिक्षुओं की इस मंशा को प्रकट किया गया है कि वे भारत में इसकी रक्षा नहीं कर पावेंगे। क्या यह सही है?

भारत का सुधारवादी आन्दोलन प्रायः ढाई हजार वर्ष पहले की विचार-सरणि से जुड़ा हुआ है। विगत ढाई हजार वर्षों में हुए उन धार्मिक और सांस्कृतिक अवदानों की उसने उपेक्षा-सी कर दी है, जिनके कारण इस कालावधि में कभी बृहत्तर भारत की कल्पना साकार हुई थी। इस उपेक्षा का फल यह हुआ है कि ब्राह्मणवाद और मनुवाद जैसे मिथ्या आक्षेप भारतीय प्रजा को विचलित करने मे समर्थ हो रहे हैं। अब महायानी और मन्त्रयानी बौद्ध धर्म भी कम्युनिस्टों से प्रेरणा लेने लगा है। भोट देश (तिब्बत) का अपना पंचांग है, किन्तु भोट प्रजा अब अंग्रेजी तिथिक्रम का अनुसरण करने को उद्यत हो रही है। भारतीय पत्रकारों की दृष्टि में भारतीय पंचांग हिन्दू पंचांग बन कर रह गया है। सभी सिक्ख गुरुओं की जयन्ती भारतीय पंचांग के अनुसार मनाई जाती है, किन्तु महात्मा गांधी और महामना पं. मदनमोहन मालवीय की जयन्ती ने अंग्रेजी तिथिक्रम को स्वीकार कर लिया है। बाबरी ढांचे के विध्वंस को भी अंग्रेजी तिथिक्रम से याद किया जाता है। संघ के कार्यकर्ताओं को भी यह पता नहीं है कि उस दिन भारतीय तिथि कौन सी थी? 'कल्याण' जैसी धार्मिक मासिक पत्रिका में श्राद्ध की

तिथि के रूप में अंग्रेजी तारीख मान्य होने जा रही है। भारत के पूर्व प्रधानमंत्री मुरार जी भाई देसाई की जन्मतिथि चार वर्ष बाद आती थी। सन् दो हजार की फरवरी में ३० तारीख होने की चर्चा बड़े जोर-शोर से चली थी। हमारे पत्रकार-बन्धु परेशान थे कि ३० फरवरी को जो पैदा होगा, उसके अभिभावक और वह स्वयं भी अपना जन्म दिवस नहीं मना सकेगा, क्योंकि ३० फरवरी तो ४०० वर्ष बाद फिर आवेगी। यहाँ आकर भारतीय पंचांग की उपेक्षा शोचनीय स्थिति तक पहुंच गई है।

भारतीय प्रबुद्धवर्ग भारतीयता की उपेक्षा कर इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो गया है। लोकमान्य तिलक की कर्मभूमि पूना में भी आज फूलमाला और कलात्मक गुलदस्तों की जगह अनगढ़ 'बुके' ने ले ली है। भारतीय शिष्टाचार में एक-दूसरे के मिलने पर हाथ जोड़ा जाता है। उसकी जगह हाथ मिलाने और लम्बे समय तक झटके देते रहने को हमने स्वीकार कर लिया है। महिलाओं के साथ भी हम यही करने लगे हैं। हमें याद है कि किसी मुस्लिम देश में पूर्व राष्ट्रपति महामान्य डॉ. शंकरदयाल शर्मा जी की धर्मपत्नी को हवाई अड्डे पर ही रुक जाना पड़ा था। भारतीय शास्त्रों में एक से परार्ध पर्यन्त दस-गुणित बीस संख्याओं की नामावली मिलती है। आज हम करोड़ की संख्या से आगे अरब या खरब तक मुश्किल से पहुंच पाते हैं। दस हजार करोड़, दस लाख करोड़ जैसे वाक्यों का प्रयोग हमारी नियति बन गई है। भगवद्गीता के इस देश में धर्मान्तरण को पूरी मान्यता मिली हुई है। अपने स्वरूप को पूरी तरह से भुला देने के लिये क्यों हम इतने उतावले हो उठे हैं। अंग्रेजियत का व्यामोह क्यों हमारे ऊपर इतना हावी हो गया है? क्या ऐसा कर हम अपने घर को उजाड़ देने में नहीं लगे हुए हैं? नेकटाई की होली जलाकर ही हम अपने स्वरूप में फिर वापस आ सकते हैं। ईसाई शिक्षण-संस्थाओं ने बालिकाओं की वेशभूषा में परिवर्तन कर अच्छा कदम उठाया है। बच्चों की बिना टाई की वेशभूषा को भी वे मान्यता दे सकते हैं। भारतीय पंचांग के अनुसार तिथि-परिवर्तन सूर्योदय के साथ होता है, मध्यरात्रि में नहीं। स्त्रियों, वृद्धों और बालकों की हत्या विश्व को सेमेटिक धर्मों की देन है।

सर्वधर्म-समभाव बनाम सर्वधर्म-समादर

उदारवादी विचारकों की मंडली में आजकल सर्वधर्म-समभाव शब्द का प्रयोग बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इसको धर्मनिरपेक्षता का पर्याय माना जाता है। संभवतः महात्मा गांधी ने सर्वधर्म-प्रार्थना के साथ इस शब्द को भी प्रचलित किया। आज हमें इसी शब्द की समीक्षा करनी है।

सर्वधर्म-समभाव एक अच्छा शब्द है, किन्तु महात्मा गांधी के अनुयायियों ने इसका एक ही अर्थ समझा है कि सभा-संमेलनों के प्रारंभ में सभी धर्मों के पुरोधाओं को एकत्र कर प्रार्थना की जाय। क्या इतने मात्र से सभी धर्मों में परस्पर सद्भावना आ पाई है? इसके लिये तो गंभीरता से एक-दूसरे के विचारों के आदान-प्रदान की, तर्कपद्धति से प्रत्येक मजहब के गुण-दोषों की समीक्षा अपेक्षित है। क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध— सभी धर्मों और दर्शनों में खण्डन-मण्डन और शास्त्रार्थ की पद्धति से सैकड़ों वर्षों तक विचारों का आदान-प्रदान होता रहा है। क्या आज के मजहबी घरौंदों में यह संभव है? सर्वधर्म-समभाव की वास्तविक प्रतिष्ठा तो तब हो सकती है, जब धर्मान्तरण पर पूरी तरह से रोक लगा दी जाय और विभिन्न वर्गों में सही समालोचना को सुनने-समझने की मनोवृत्ति जाग सके। जब तक यह संभव नहीं होता, तब तक के लिये हमें सर्वधर्म-समादर शब्द तक ही सीमित रहना होगा।

श्रीलंका से अभी हाल में आयातित बौद्ध धर्म 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। मध्यकालीन इस्लामिक बर्बरता अभी बरकरार है। मिशनरी टोली सेवाभाव के बहाने खीष्ट धर्म की सर्वोत्कृष्टता को स्थापित करने में और भारतीय संस्कारों के विरुद्ध अनर्गल प्रचार करने में लगी है। हमारे कम्युनिस्ट भाई और बहके हुए कुछ समाजवादी इन्हीं सबको धर्मनिरपेक्ष ताकत मानकर इनको एकजुट करने में प्राणपण से लगे हुए हैं। ऐसी स्थिति में सर्वधर्म-समभाव बन ही नहीं सकता। इसीलिये हम अब तक इस शब्द के सहारे कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सके हैं।

अब हमें सभी धर्मों का समादर करते हुए, इन सबकी त्रुटियों का परिष्कार करते हुए इनमें सहिष्णुता और समन्वय की भावना जगानी होगी, तथाकथित धर्मान्तरण को आपराधिक कृत्य घोषित करना होगा, पूरी भारती प्रजा में समग्र भारतीयता का प्रादुर्भाव करना होगा। पातंजल योगसूत्र में और बौद्ध एवं जैन शास्त्रों में भी चित्त के परिष्कार के लिये मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा नामक चार उपाय वर्णित हैं। कम्युनिस्टों के लिये हमें चौथे उपाय का ही सहारा लेना होगा।

हमने अनेक स्थानों पर लिखा है कि समन्वय संस्कृति में होगा, धर्मों में नहीं। अब हम यह कहने की स्थिति में हैं कि स्मार्त तन्त्रों की पद्धति में पंचायतन पूजा जैसे माध्यमों से धार्मिक दृष्टि में भी उदारता का प्रवेश करा सकते हैं। महात्मा गांधी ने प्रार्थना-सभा के रूप में इस ओर एक अच्छा कदम बढ़ाया था। इसको सफल बनाने के लिये भी हमें सभी धर्मों का संमान करते हुए उनके तरतमभाव पर विचार करना ही होगा।

"आत्मनि सति परसंज्ञा" इत्यादि उक्तियों के माध्यम से राग-द्वेष जैसे दोषों से छुटकारा पाने के लिये बौद्ध दार्शनिक आत्मा को ही अस्वीकार कर देते हैं, दूसरी तरफ "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना के विकास के लिये परिमिताहन्ता को विश्वाहन्ता में विकसित करने वाले दर्शनों का भी यहाँ प्रादुर्भाव हुआ है। क्षणिकवादी मान्यताओं ने चिरस्थायी स्मारकों का निर्माण किया और दूसरी तरफ नित्य आत्मेश्वरवादी मान्यता सब कुछ अग्नि को समर्पित कर देती है। वर्तमान समय में सीमान्त की बौद्ध प्रजा पर बौद्धेतर कर्मकांडों का प्रभाव देखकर कुछ लोग परेशान हो उठते हैं, जबकि अन्य विचारक इसको समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर विकसित पंचायतन पूजापद्धति का अंग मानते हैं। जैन धर्म का अनेकान्तवाद भारतीय राष्ट्रीयता के अधिक अनुकूल है, किन्तु राष्ट्रवाद के विघटन में संलग्न पाश्चात्य दृष्टि के साथ ही उससे प्रभावित भारतीय बुद्धजीवियों की दृष्टि भी अत्यन्त संकीर्ण हो गई है। इस तरतमभाव की हम अनदेखी नहीं कर सकते।

इसीलिये हमारा कहना है कि आज सर्वधर्म-समभाव की नहीं, सर्वधर्म-समादर की अपेक्षा है। सभी धर्मों के प्रति आदरभाव को रखते हुए भी हमें तर्क को उनका अनुचर न मानकर उसके सहारे विश्व में वर्तमान सभी धर्मों की समीक्षा करनी चाहिये। तन्त्रागमशास्त्र की सभी शाखाओं में निर्दिष्ट षडंग योग में तर्क का विशिष्ट स्थान है। "तर्कमृषिं प्रायच्छन्" यह निरुक्तकार यास्क मुनि की उक्ति है। इनका स्थिति-काल पाणिनि मुनि से पहले माना जाता है। इसी तर्क का सहारा लेकर हम भी मीमांसाशास्त्र की आवाप और उद्वाप (ग्रहण और त्याग) की पद्धति से पुरातन कालातीत तत्त्वों का परित्याग और नूतन उपादेय तत्त्वों का परिग्रह कर अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त कर सकते हैं।

भारतीय संस्कृति के उदारवादी दृष्टिकोण को समझने के लिये हम ब्राह्मण और श्रमण शब्दों के स्थान पर ऋषि और मुनि शब्दों को अधिक सशक्त समझते हैं। प्रथम शब्द नैगमिक और दूसरा आगमिक दृष्टि का परिचायक माना जा सकता है। ऋषि

सपत्नीक आश्रम में रहता था। सामाजिक शिक्षा के साथ राजनीति को अनुशासित रखना भी उसका कार्य था। मुनि वैराग्य-प्रधान जीवन जीता था। वह सदा दार्शनिक चिन्तन में लगा रहता था। ऋषि की ऐहलौकिक दृष्टि प्रधान थी, जबकि मुनि प्रधान रूप से पारलौकिक जीवन जीता था। ऋषिसंस्था वर्णाश्रम-प्रवण थी, जबकि मुनिसंस्था इस तरह के बन्धनों से मुक्त। बुद्ध और महावीर के पूर्वकालीन साहित्य में उपलब्ध इनकी गतिविधियों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण अपेक्षित है और इस कार्य में उत्तर काल में विकसित बौद्ध और जैन साहित्य भी हमारी सहायता कर सकता है। यहाँ आते-आते इन दोनों दृष्टियों में स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है। इनको हम ब्राह्मण और श्रमण शब्दों से संबोधित कर सकते हैं।

ऋषि-संस्था प्रवृत्ति-प्रधान और मुनि-संस्था निवृत्ति-प्रधान थी, किन्तु युवावस्था में संन्यास की स्वीकृति के साथ इनमें तीव्र परिवर्तन हुए। आगमिक संस्कृति ने वर्णव्यवस्था को बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि धर्मों से जोड़ दिया और आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थ एवं संन्यासी ही बचे रह गये। ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ अब शब्द के रूप में ही बचे हैं, अथवा विकृत हो गये हैं। ब्राह्मण आज धर्माचार्यों की कृपा पर टिका है। संन्यासी बनने के लिये ७५ वर्ष की आयुसीमा आज अपेक्षित नहीं है। वैदिक अथवा अवैदिक सभी धर्मों ने इसे मान्यता दे दी है। ऋषि-संस्था की यह पराभूति दुनिया के लिये अशुभ सिद्ध होगी। ऋषि-संस्था और मुनि-संस्था में पुनः सामंजस्य बैठाया जाना चाहिये। ऋषि और मुनि दोनों के लिये सभी एषणाओं से मुक्ति अपेक्षित है। तभी वे समाज और राजनीति को विपथगामी होने से बचा सकेंगे।

वर्तमान समय में संस्कृति के माध्यम से यह कार्य हो सकता है। इसके लिये हमें वेदों से लेकर महात्मा गांधी तक की पूरी परम्परा को मान्यता देनी होगी। हम इसमें इतना ही संशोधन करना चाहते हैं कि सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर ऊपर बताई गई युक्तियों के आधार पर सर्वधर्म-समादर को वरीयता दी जाय। तन्त्रागमशास्त्र की सहायता से यह कार्य त्वरित गति से संपन्न हो सकता है।

नवसंस्कृति के निर्माण में तन्त्रागमशास्त्र की उपयोगिता

'श्रमण-ब्राह्मणम्' की ही तर्ज पर आजकल 'हिन्दु-मुस्लिम' की स्थिति बना दी गई है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोढ़ में खाज़ का काम कर रहा है। सामंजस्य के स्थान पर सर्वत्र विग्रह खड़ा करना ही इसका परम लक्ष्य है। एक हजार वर्ष पहले के संस्कृत साहित्य में 'हिन्दु' शब्द की कोई स्थिति नहीं थी, किन्तु अब बिना प्रसंग के भी यह शब्द प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय तन्त्रागमशास्त्र का अध्ययन आजकल पूरे विश्व में बौद्ध, जैन और हिन्दु शब्दों के माध्यम हो रहा है और हिन्दु शब्द की परिधि में वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त शाखाओं का ग्रहण किया जाता है। बौद्ध और जैन तन्त्रों के अनुशीलन के प्रसंग में हमने देखा है कि बौद्ध तन्त्र कहीं वैष्णव आगमों से तो अन्यत्र कौल तन्त्रों से समरस हैं, जबकि जैन तन्त्र कहीं सिद्धान्त शैवागम के तथा अन्यत्र त्रिपुरा-तन्त्रों के अधिक नजदीक हैं। इस तरह के प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा में हिन्दु शब्द पूरी तरह से असमर्थ है।

भारत में आज वर्गविद्वेष के रूप में अथवा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये फैलाये गये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मायाजाल से देश को उबारने के लिये भी हिन्दु शब्द के स्थान पर भारतीय शब्द का प्रयोग होना चाहिये और इस शब्द की परिधि में बौद्ध-जैन जैसे धर्म ही नहीं, इस्लाम और ख्रीष्ट धर्मों का भी समावेश होना चाहिये। पारसीक धर्म तो इससे समरस है ही, सिक्ख धर्म के लिये खड़ा किया गया विवाद भी तब अपने-आप शान्त हो जायगा। धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्दों की या उसके स्थान पर पन्थ-निरपेक्षता जैसे शब्दों की सिफारिश करने की तब कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि यह देश तब इस विश्व की उदारतम संस्कृति से अनुशासित होगा, जिसकी प्रशंसा इस देश को उजाड़ देने की मंशा वाले राजनेतागण भी मुक्तकण्ठ से करने से नहीं अघाते।

आज विश्व की इस उदारतम, उत्कृष्टतम भारतीय संस्कृति को नष्ट कर देने के लिये चारों तरफ से हमले हो रहे हैं, उनमें हिन्दु और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों की एक-सरीखी भूमिका है। धर्मान्तरण जैसी घिनौनी प्रवृत्ति में लगे हुए धर्माचार्यों की मानसिकता इसमें देखी जा सकती है। आधुनिक भारती प्रजा को हिन्दु-धर्म के नाम

पर डराने वाले ये धर्मनिरपेक्षतावादी इससे परिचित ही नहीं हैं कि जिन दुर्गुणों को वे भारतीय संस्कृति पर आरोपित करते हैं, उनका समाधान आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया गया था और ब्राह्मणवाद-मनुवाद के नाम से आज प्रचारित हो रही दुष्प्रवृत्तियाँ नामशेष होती जा रही थीं। सुधारवादी आंदोलनों के माध्यम से भी इस तरह की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आन्दोलन अन्य धर्मों की दुष्प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये अर्गला का काम करता है। उन राष्ट्रविरोधी दुःप्रवृत्तियों के रुक जाने पर यह आन्दोलन भी अपने आप थम जायगा।

यह सही है कि हिन्दुत्ववादी संगठनों को भी हम पूरी तरह से सही नहीं मान सकते, किन्तु उनके खिलाफ जो दुष्प्रचार किया जा रहा है, वह भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने तिब्बत और कश्मीर की समस्या को पैदा कर राष्ट्र के साथ जो विश्वासघात किया, उसको छिपाने के और अपनी कुर्सी को बरकरार रखने के घिनौने प्रयास की कड़ी का एक हिस्सा मात्र है। जाने-अनजाने इससे राष्ट्रविद्वेषी धर्मान्तरण की पोषक अपसंस्कृतियों की भी स्वार्थ-सिद्धि हो रही है। इसे रोकना ही होगा।

यूरोप में फिलासफी को बुद्धि का विलासमात्र माना जाता है, उसी तरह से अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी वहाँ बुद्धिविलास के लिये अथवा धर्म-प्रचार के लिये होता है, किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिये। औद्योगिक विकास, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वहाँ अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु मानव-मन को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। मानव-समाज के सामने उपस्थित होने वाली समस्याओं के समाधान के लिये भी मानसिक विश्लेषण की नई-नई पद्धतियों और दर्शनों की उद्भावना होती रहनी चाहिये। हमने "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" में इसी विषय को स्पष्ट किया है कि यहाँ भारतीय समाज के ही नहीं, पूरी मानवता के मानसिक विकास के लिये उपयोगी सांस्कृतिक चिन्तन को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि परलोक की चिन्ता किये बिना पूरी मानवता परस्पर के राग-द्वेष को भुला कर सहज भाव से जी सके। भारतीय संस्कृति के संरक्षक बंगाल के राजा वल्लालसेन ने कालामुख, कापालिक, कौल, बौद्ध वज्रयान आदि के माध्यम से भारतीय समाज में प्रविष्ट विसंगतियों की समालोचना कर उनके परिमार्जन का प्रयत्न किया था। उसी तरह का प्रयत्न आज भी अपेक्षित है।

केरल, कश्मीर और गौड (बंगाल) देश की पद्धति से त्रिविध तान्त्रिक उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा इनमें अपसंस्कृतियों का प्रसार त्वरित गति से हुआ, इसके कारणों की खोज होना जरूरी है। साथ ही हमें उन आवश्यक उपादानों की भी खोज करनी होगी, जिनके सहारे अभिनव भारतीय संस्कृति का मूल ढाँचा खड़ा किया जा सके, जो पूरी मानवता को परिष्कृत करने में भी समर्थ हो। ख्रीष्ट और इस्लाम धर्म भी बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि धर्मों के समान इसमें अपना स्थान तब बना सकेंगे, जब वे अपनी आक्रामकता और हठवादिता का परित्याग कर इसके लिये सचेष्ट होंगे। सारी प्रबुद्ध भारतीयता की सहमति से यह संभव हो सकता है। भारतीय प्रजा में भावात्मक एकता की स्थापना का यही प्रशस्त राजमार्ग है।

तन्त्रागमशास्त्र के आलोडन से भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम एवं उदारतम उपादानों को दुनिया के सामने लाया जा सकता है। इस तरह से भारतीय संस्कारों पर लगाये जा रहे निराधार आरोपों का समाधान भी अपने आप हो जायगा। आवश्यकता एक ऐसे प्रयास की है, जिसके सहारे, पुराकाल में कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, वेदारण्यक) की मान्यता और पंचायतन पूजा की स्वीकृति की तरह, आज भी पूरी भारती प्रजा के लिये समरसता का नूतन आधार खोज लिया जाय। तन्त्रागमीय वाङ्मय के साथ सन्तों, भक्तों, गुरुओं और सूफियों की समरसता के सागर को मथ कर वैज्ञानिक विधि से उस अमृत की खोज की जाय, जिस पर अपसंस्कृति-रूपी विष का अकाण्ड-ताण्डव कोई प्रभाव न छोड़ सके। क्या हम ऐसा कर सकेंगे?

गोवर्धनपीठाधीश्वर शंकराचार्यवर्य अनन्तश्री निरंजनदेव तीर्थ जी महाराज गृहस्थाश्रम में

गुजरात के सोलंकी राजाओं की राजधानी सिद्धपुर-पाटण रही है। पाटण शब्द पत्तन (बन्दरगाह) शब्द का अपभ्रंश है। सोमनाथ-पाटण से इसकी भिन्नता दिखाने के लिये सिद्धपुर जोड़ा गया है। पाटण के सोलंकी राजाओं ने ही बाद में पवित्र सरस्वती नदी के तट पर सिद्धपुर को बसाया। सोमनाथ के मन्दिर के नीचे तो समुद्र अब भी हिलोरे भर रहा है। सिद्धपुर-पाटण में अब ऐसी कोई स्थिति नहीं रह गई है, तो भी ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यहाँ पर ही नहीं, मोढेरा (गुजरात) के सूर्यमन्दिर के आसपास भी कभी कोणार्क (उड़ीसा) के समान ही समुद्र विद्यमान था। अस्तु. यहाँ के परम शिवभक्त राजा मूलराज ने आज से एक हजार वर्ष पहले भारत में 'अन्तर्वेदि' के नाम से प्रसिद्ध परम-पावन गंगा-यमुना के मध्यवर्ती पवित्र क्षेत्र से एक हजार ब्राह्मणों को बुलाकर सरस्वती नदी के तट पर स्थित सिद्धपुर क्षेत्र में, जहाँ अपनी माता देवयानी को महर्षि कपिल ने सांख्य-शास्त्र का उपदेश किया था, रुद्र-महालय की प्रतिष्ठा करवाई थी और उन सभी निमन्त्रित विद्वानों को भूमिदान आदि से सत्कृत कर गुजरात में ही बसा लिया था।

कश्मीर के महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि उनके पूर्वज मध्यदेश से कश्मीर गये थे। उनके तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों से पता चलता है कि मध्यदेश में द्वैत, द्वैताद्वैत एवं अद्वैतवादी शैवागमों की क्रमशः आमर्दक मठ, शंखमठिका एवं त्र्यम्बक मठ में अध्ययन-परम्परा प्रचलित थी। द्वैतवादी सिद्धान्तशैवों के आमर्दक मठ की परम्परा में कदम्बगुहा, गोलकी, रणिपद्र आदि मठों की स्थापना हुई थी। मालवा, गुजरात आदि में ही नहीं, सुदूर दक्षिण में भी इन शैवाचार्यों को आदर-पूर्वक बुलाकर वहाँ बसाया गया था। वेणीसंहार नाटक के रचयिता नारायणभट्ट के वंशज ही कान्यकुब्ज से जाकर बंगाल में मुखोपाध्याय, वन्द्योपाध्याय, चट्टोपाध्याय, गंगोपाध्याय आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं।

दक्षिणभारत में शैवसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक त्रिलोचन शिवाचार्य के विषय में उनके ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि के टीकाकार अनन्तशंभु का यह वचन प्रसिद्ध है कि गंगास्नान के लिये आये चोलदेश के भूपति राजेन्द्र चोल प्रथम अनेक शैवाचार्यों को

आदरपूर्वक अपने साथ ले गये थे और कांची में इनको बसा दिया था। तंजोर के प्रसिद्ध बृहदीश्वर मन्दिर की स्थापना राजेन्द्र चोल प्रथम ने ही की थी। शिलालेखों एवं तद्विषयक साहित्य से इन सबकी पुष्टि होती है। छठी-सातवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक इन शैवाचार्यों की लम्बी परम्परा ज्ञात होती है, जो तत्कालीन शासकों के पथप्रदर्शक थे और प्रत्येक शिवाचार्य का नाम शिव या शंभु पद से अंकित था। इन शिवाचार्यों की यह विशेषता रही है कि ये भगवान् आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित स्मार्त शैव धर्म के ध्वजवाहक थे। सोलंकी राजा मूलराज के कुलगुरु का नाम कुमारदेव बताया गया है। धाराधिपति भोजदेव के शैवसिद्धान्त दर्शन के ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश पर कुमारदेव-कृत व्याख्यान इसी परम्परा का अनुसरण करता है। मूलराज के राजगुरु कुमारदेव टीकाकार कुमारदेव से भिन्न हैं या अभिन्न? इसका निर्णय करना अभी शेष है।

गुजरात में बस जाने के बाद यह सहस्रौदीच्य समाज औदीच्य ब्राह्मण के नाम से वहाँ फलता-फूलता रहा। औदीच्यप्रकाश जैसे संस्कृत, गुजराती और हिन्दी भाषा में लिखे गये अथवा अनूदित हुए ग्रन्थों में उन सहस्रौदीच्य परिवारों की पूरी परम्परा सुरक्षित है कि अन्तर्वेदि के किस विभाग में से ये गुजरात गये थे। इनके ऋषि, प्रवर, गोत्र आदि का भी विवरण इनमें सुरक्षित है। गुजरात में मिली इनकी सुरक्षा पर तब आघात लगा, जब मुसलमान आक्रान्ताओं ने गुजरात पर आक्रमण करना प्रारंभ किया। एक समय ऐसा भी आया कि रुद्रमहालय ध्वस्त कर दिया गया और इसके साथ ही आक्रान्ताओं की बर्बरता से अपने को बचाने के लिये इनको राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि के राज्यों में शरण लेनी पड़ी। इस निबन्ध के नायक श्रीमान् चन्द्रशेखर शास्त्री जी के पूर्वपुरुषों ने भी गुजरात से निष्क्रमण कर जयपुर राज्य के अन्तर्गत टोडा-रायसिंह में शरण ली। अरावली शृंखला की तलहटी में यह कस्बा बसा हुआ है और बुधसागर के नाम से प्रसिद्ध प्राकृतिक ह्रद (झील) यहाँ विद्यमान है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर बसे बीसलपुर में बनास नदी के किनारे गोकर्णेश्वर महादेव का मन्दिर है। कालिदास के रघुवंश महाकाव्य से हमें ज्ञात होता है कि दक्षिण सागर के तट पर बसे हुए गोकर्णेश्वर के दर्शन के लिये आकाश मार्ग से जा रहे नारद मुनि की वीणा से छटकी माला ने राजा अज की पत्नी इन्दुमती के प्राण हर लिये थे। शैव पाशुपत परम्परा का यह पावनतम प्राचीन तीर्थ है और नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर के पुजारी दक्षिण के इसी गोकर्ण के मूल निवासी हैं।

इस विवरण को प्रस्तुत करने का हमारा लक्ष्य इतना ही है कि शैव धर्म ने कैसे पूरे भारतवर्ष को अपनी गोद में बैठा लिया था। द्वादश ज्योतिर्लिंगों और अष्टमूर्ति

शिव के विग्रहों की भौतिक स्थिति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। नेपाल की पशुपतिनाथ की मूर्ति और गोकर्णेश्वर शिव के यजमान विग्रह के नाम से प्रसिद्ध हैं। हमारे चरित्रनायक वैदिक परम्परा से अनुप्राणित शैवागम के इस सम्पूर्ण उत्स का भी प्रतिनिधित्व करते रहे हैं।

बनास नदी गुजरात से नाथद्वारा के पास राजस्थान में प्रवेश करती है और यहाँ गोकर्णेश्वर महादेव के चरणों का प्रक्षालन करती हुई आगे बढ़ती है। किसी समय इस नदी के जल को पर्वतों ने अवरुद्ध कर लिया था, किन्तु जल के प्रबल वेग के आगे वे टिक न सके। पहाड़ और पानी के इस संघर्ष ने यहाँ दो ह्रदों (दह) का निर्माण कर दिया है। गोकर्ण महादेव के सामने वाले ह्रद में मकरों का निवास नहीं है, किन्तु इससे थोड़ी दूर पर स्थित ह्रद में अनगिनत हिंसक मगर रहते हैं। जल की निरन्तरता के रहते हुए भी वे इस ह्रद में नहीं आते। काशी की उत्तरवाहिनी परमपावनी गंगा माता की भी तो यही स्थिति है। आज तक के पूरे इतिहास में यह कभी सुनने को नहीं मिला कि किसी हिंसक जलचर के कारण कभी किसी को कोई हानि पहुँची हो। पण्डित श्री चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने अपना काशी का अध्ययन-तप पूरा कर लेने के उपरान्त यहाँ एक बृहत् यज्ञ का आयोजन कराया था, जिसमें काशी के उस समय के प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् संमिलित हुए थे।

गुजरात से निष्क्रमण कर टोडा-रायसिंह में बस गये एक औदीच्य परिवार ने बाद में ब्यावर (अजमेर, राजस्थान) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। यह परिवार ज्योतिष विद्या और कर्मकाण्ड के साथ भारतीय आध्यात्मिक विद्या के क्षेत्र में भी लब्धप्रतिष्ठ था। इसी परिवार में विक्रम संवत् १९६७ की आश्विन कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि रविवार के दिन हमारे चरित्रनायक का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम श्री गणेशलाल जी दवे था। ये ज्योतिष विद्या और कर्मकाण्ड के उद्भट विद्वान् थे। इनके बड़े भ्राता पं. श्री मोतीलाल जी दवे ज्योतिषशास्त्र के अतिरिक्त वेदान्तशास्त्र के भी पारंगत विद्वान् थे। पूरे राजस्थान में एक लम्बी परम्परा इनके शिक्ष्यों की फैली हुई थी। श्री चन्द्रशेखर शास्त्री जी ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा इन्हींकी देखरेख में पूरी की। इनका व्याकरण शास्त्री पर्यन्त अध्ययन ब्यावर की सनातन धर्म पाठशाला में चलता रहा। प्रवचन करने और शास्त्रार्थ करने की इनकी प्रतिभा स्वयंस्फूर्त थी और उसमें अपने प्रथम विद्यागुरु ताऊजी श्री मोतीलाल जी दवे का सहयोग चार चाँद लगा रहा था। एक समय ब्यावर में पधारे महात्मा गांधी को भी इन्होंने शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था।

व्याकरण शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त इन्होंने काशी में आकर काशी के विश्वविश्रुत राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में, जो आज आज सम्पूर्णानन्द

संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है, उस समय काशी के व्याकरणशास्त्र के मूर्धन्य विद्वान् पण्डित श्री गणपति शास्त्री मोकाटे जी से अध्ययन कर ससंमान व्याकरणाचार्य उपाधि प्राप्त की। पं. श्री रामयश त्रिपाठी (महाशय जी), पं. श्री सूर्यनारायण शास्त्री, पं. श्री नृसिंह शास्त्री, पं. श्री हाराणचन्द्र शास्त्री जैसे काशी के तदानीन्तन व्याकरणशास्त्र के उद्भट विद्वानों की भी इन पर पर्याप्त कृपा थी। म. म. पं. श्री हरिहरकृपालु जी से इन्होंने वेदान्तशास्त्र का गहन अध्ययन किया था तथा म. म. पं. श्री गोपीनाथ कविराज के निर्देशन में पोस्टाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर कलकत्ता से वेदान्त, न्याय और सांख्य शास्त्र में तीर्थ परीक्षाएँ उत्तीर्ण पर सपदक पदवी प्राप्त की थी। उस समय बड़ोदा (गुजरात) के संस्कृत महाविद्यालय की दर्शनविषयक मौखिक परीक्षाओं में वे प्रतिवर्ष संमिलित होकर लगातार पुरस्कार प्राप्त करते रहे हैं।

टोडा-रायसिंह के पास केकड़ी (जि. अजमेर, राजस्थान) में इनका ननिहाल और ससुराल भी था। हमारे पितामह पं. श्री रघुनाथ द्विवेदी मेयो कॉलेज, अजमेर से पूरी तरह से निवृत्त हो लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में केकड़ी में अपने गुजराती मोहल्ला के पैतृक निवास में आ चुके थे। अजमेर में रहते हुए इनका आर्यसमाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द जी के साथ जाति-बन्धु होने के कारण निकट का संबन्ध था। महान् इतिहासविद् म. म. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा जी ने भी अपना कार्यक्षेत्र अजमेर को ही बनाया था। इन दोनों महानुभावों के सभी ग्रन्थ इनके पास थे और ये प्रतिदिन भगवद्गीता की ज्ञानेश्वरी टीका के गुजराती अनुवाद के एक-एक अध्याय का पाठ किया करते थे। किसी ग्रीष्मावकाश में श्री चन्द्रशेखर शास्त्री जी का काशी से केकड़ी आगमन हुआ था। रात्रि की वेला थी। वे अपने नाना को कादम्बरी की कथा सुना रहे थे। हमारे जैसे कुछ बालक भी बड़े मनोयोग से यह कथा सुन रहे थे। लगभग दो घंटों में यह कथा पूरी हुई। इनकी वाणी में इतना आकर्षण था, वर्णन करने का ढंग इतना मनोहारी था और कथानक में इतने उतार-चढाव थे कि सभी श्रोतागण मन्त्रमुग्ध से हो इसका रसपान कर रहे थे।

कादम्बरी संस्कृत साहित्य का अद्भुत उपन्यास है। साहित्यशास्त्र में काम की दस अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इनमें अन्तिम अवस्था मृत्यु है। संभवतः इसका एकमात्र उदाहरण बाणभट्ट का यह कादम्बरी नामक गद्य महाकाव्य है। महाश्वेता के विरह में पुण्डरीक की मृत्यु भी हो जाती है और इस मृत्यु के उपरान्त ही पुण्डरीक का महाश्वेता से मिलन होता है। इसी कथानक को महाकवि बाणभट्ट ने अपने इस महान् गद्यकाव्य में बड़े ही मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया है। इस कथानक को सुनकर मेरे मन में संस्कृत भाषा के प्रति एक अनोखा आकर्षण पैदा हुआ।

कालान्तर में मैं इनके साथ संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिये काशी आ पहुँचा। काशी आगमन से पहले मैं केकड़ी से प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर चुका था।

यह सन् १९३६ की बात है। उस समय ये पं. चन्द्रशेखर शास्त्री जी के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इनकी अनुमति लेकर मैं ब्यावर आ पहुँचा। अजमेर से चलकर हम लोग जयपुर पहुँचे। हमारे साथ इनके छोटे भाई श्री दामोदर शास्त्री जी भी थे। उन दिनों जयपुर राज्य में वनस्पति घृत का प्रवेश वर्जित था। शास्त्री जी का प्रतिवर्ष का नियम था कि वे एक बड़ा कनस्टर घृत का जयपुर से लेकर काशी जाते थे। इस बार भी इन्होंने इस नियम का पालन किया। शास्त्री जी ने सिले हुए कपड़े पहनना छोड़ दिया था और साथ ही पादत्राण का भी परित्याग कर दिया। गंगास्नान और विश्वनाथ दर्शन का उनका प्रतिदिन का कार्यक्रम था। उन्हींका अनुसरण कर मैं भी प्रतिदिन इस नियम का पालन करता रहा। मेरा पादत्राण न ग्रहण करने का नियम केवल गंगास्नान एवं विश्वनाथ दर्शन तक ही सीमित रहा।

काशी की गलियों की सफाई-व्यवस्था से भुक्तभोगी पूरी तरह से परिचित हैं। जूता-चप्पल न पहनने पर जो कुछ इन गलियों में संभव है, उसीके शिकार एक बार शास्त्री जी हो गये। उनके पैर में सीसे का एक बड़ा सा टुकड़ा धँस गया और उसने पकाव ले लिया। आपरेशन तो हुआ ही, साथ ही वे ज्वर से भी ग्रस्त हो गये और उनके पिताश्री को आकर इन्हें वापस ब्यावर ले जाना पड़ा। उन दिनों शास्त्री जी अपने परिवार के साथ मणिकर्णिका घाट के पास गढवासी टोला में छन्नूलाल की घड़ी के पास एक प्रतिष्ठित सद्गृहस्थ श्री बलदेवदत्त जी ठाकर के घर में निवास कर रहे थे। अपने एक विश्वस्त मित्र के संरक्षण में मुझे कुछ समय के लिये छोड़ कर वे ब्यावर चले गये थे, किन्तु स्वस्थ होने के उपरान्त वे शीघ्र वापस आ गये। उस समय शास्त्री जी आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर सरस्वती भवन पुस्तकालय में पोस्टाचार्य उपाधि के लिये राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के स्वनामधन्य प्रिंसिपल महामहोपाध्याय पं. श्री गोपीनाथ कविराज के निर्देशन में प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे। शांकर वेदान्त के प्रसिद्ध मनीषी महामहोपाध्याय पं. श्री हरिहरकृपालु जी के निवासस्थान पर प्रतिदिन वेदान्तशास्त्र का अध्ययन करने के लिये भी वे जाते थे। शास्त्रीजी के अस्वस्थ हो जाने पर इसकी सूचना देने के लिये मुझे इन दोनों मनीषियों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पं. श्री हरिहरकृपालु जी तो कुछ दिनों बाद पटना चले गये, किन्तु कविराज जी का यह प्रथम दर्शन मेरे लिये बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुआ। मेरे भविष्य के निर्माण में शास्त्रीजी के अतिरिक्त कविराज जी का महनीय अवदान रहा है।

भगवान् महादेव के आदेश के अनुसार महर्षि वेदव्यास के काशी छोड़कर गंगाजी के उस पार चले जाने की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष माघ मास में इनका दर्शन करने के लिये काशी के भक्तजन वहाँ जाते हैं। अपनी मित्रमण्डली के साथ शास्त्री जी वेदव्यास की यात्रा के लिये जब चले, तो उन्होंने मुझे भी साथ ले लिया। महामहोपाध्याय, पद्मविभूषण आदि अनेक विरुदों से अलंकृत, भारतीय दर्शनों के अप्रतिम मर्मज्ञ विद्वान्, वर्तमान समय में आगम-तन्त्रशास्त्र के उद्धारक महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी के दुबारा दर्शन यहीं हुए। अपनी शिष्यमण्डली के साथ वे भी भगवान् वेदव्यास के दर्शन के लिये पधारे हुए थे। उस समय उनके हाथ में केमरा भी था। जो सज्जन उनके परवर्ती जीवन से परिचित हैं, उनके लिये यह परम आश्चर्यजनक अविश्वसनीय घटना है। इस रूप में उनका यह पहला और आखिरी दर्शन हुआ था।

बाद में श्रद्धेय श्री विशुद्धानन्द जी महाराज के सम्पर्क में आने पर उनका यह रूप तिरोहित हो गया और वे पूरी तरह से अध्यात्म को समर्पित हो गये। अब अनुसन्धान-प्रधान उनका लेखन आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने में लग गया। "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" पामर व्यक्ति के लिये यह उपनिषद् की उक्ति है। श्रद्धेय कविराज जी की आन्तर दृष्टि गुरुकृपा से खुल गई थी। हमारे शास्त्री जी पर तो उनकी यह कृपादृष्टि थी ही, साथ ही आज मैं भी उनके दर्शन और चरणस्पर्श मात्र से धन्य-धन्य हो गया।

संमान्य शास्त्रीजी की मित्रमण्डली के साथ एक बार पंचतीर्थी यात्रा का भी सुअवसर प्राप्त हुआ था। इसके अन्तर्गत अस्सी, दशाश्वमेध, आदिकेशव, पंचगंगा और मणिकर्णिका तीर्थों की यात्रा की जाती है। प्रधानतः यह यात्रा नाव से एक ही दिन में पूरी की जाती है। यात्रा अस्सी से आरंभ हो ऊपर बताये क्रम से चलकर मणिकर्णिका घाट पर पूरी होती है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में वरुणा और गंगा के संगम पर विराजमान भगवान् आदिकेशव की अपार महिमा का मनोहारी वर्णन मिलता है। प्रसंगवश यह बता देना आवश्यक है कि द्वादश केशवों की ही नहीं, पूरे भारतवर्ष में विद्यमान सभी प्रधान तीर्थों की उपस्थिति इस पवित्र नगरी काशी में मानी गई है। द्वादश ज्योतिर्लिंग, अष्टभैरव, चौसठ योगिनियाँ, छप्पन विनायक, सप्तपुरी आदि की यात्राएँ यहाँ यथासमय सविधि सम्पन्न होती रहती हैं। वासन्तिक नवरात्र में नवगौरियों की और शारद नवरात्र में नवदुर्गाओं की यात्रा भी अतिप्रसिद्ध है। नवदुर्गा की यात्रा यहाँ "प्रथमं शैलपुत्री च" इत्यादि चण्डीकवच में बताये गये क्रम से ही सम्पन्न होती है।

मेरे अध्ययन की व्यवस्था इन्होंने सांगवेद विद्यालय, रामघाट में कर दी थी। वहाँ मैं काशी के प्रसिद्ध भट्टवंश के प्रतिनिधि विद्वान् पं. श्री गोपाल शास्त्री भट्ट भट्ट जी से व्याकरण का अध्ययन करने लगा। इस वंश की काशी के विद्वानों में विशिष्ट परम्परा रही है। पण्डितसभा में इस वंश के विद्वानों का प्रथम पूजन होता था। भट्टवंशमहाकाव्य में इस वंश की चार सौ वर्षों की लम्बी विद्वत्परम्परा का परिचय मिलता है। म.म. भारतरत्न पी.वी. काणे महोदय के महान् ग्रन्थ "धर्मशास्त्र का इतिहास" नामक ग्रन्थ से भी इस महती विद्वत्परम्परा का परिचय मिल सकता है। अपनी इसी विशिष्टता के आधार पर इस वंश के प्रत्येक विद्वान् को अपने नाम के आगे भट्ट भट्ट शब्द जोड़ने का अधिकार प्राप्त हुआ था। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इस वंश की विशिष्टता अब लुप्त-सी हो गई है। पं. श्री राजाराम भट्ट भट्ट हमारे मित्र रहे हैं। इनके पुत्रों ने और हमारे शास्त्री जी के परममित्र श्रीराम भट्ट भट्ट जी ने काशी छोड़ दी है और वे अब बड़ोदरा (गुजरात) में बस गये हैं।

यह मेरा दुर्भाग्य रहा है कि पं. श्री गोपाल शास्त्री भट्ट भट्ट जी अल्पायु हो गये। व्याकरण और न्यायशास्त्र का प्रारंभिक अध्ययन मैंने इन्हींसे किया था। सांगवेद विद्यालय में प्रतिमास अधीत ग्रन्थ की नियमित मौखिक परीक्षा होती थी और उसमें उत्तीर्ण होने पर दो रुपये पारितोषिक स्वरूप मिलते थे। त्रैमासिक परीक्षा में पुनः तीन मास में अधीत ग्रन्थों की मौखिक परीक्षा होती थी और उसमें उत्तीर्ण होने पर पाँच रुपये पुरस्कार स्वरूप मिलते थे। कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि इस पद्धति का छात्रों पर कितना मानसिक प्रभाव पड़ता था। शास्त्रीजी की इच्छा थी कि सांगवेद विद्यालय की वाग्वर्धिनी सभा में संमिलित होकर मैं प्रवचन की प्रवीणता भी प्राप्त कर सकूँ, किन्तु ऐसा संभव न हो सका।

पोस्टाचार्य की तीन वर्ष की अवधि पूरी हो जाने के बाद शास्त्री जी काशी की प्राचीनतम पाठशालाओं में वेदान्त के अध्ययन के लिये प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या पाठशाला में अध्यापन कराने लगे। प्रातःकाल पाठशाला में अध्यापन कराने के बाद वे काशी की विद्वत्परम्परा के अनुरूप अपराह्ण वेला में घर पर भी वेदान्त का अध्यापन कराते थे। उस समय वेदान्त का अध्ययन करने वालों में पं. श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी भी एक थे, जिन्होंने बाद में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। कुछ समय बाद एक वानप्रस्थी जीवन बिताने और काशीवास की इच्छा से आये गुजराती परिवार के आग्रह पर वे गंगामहल की सामने की गली में विद्यमान जानीजी की धर्मशाला में अपराह्ण काल में विभिन्न शास्त्रों का अध्यापन कराने लगे। वेदान्त के प्रारंभिक ग्रन्थों का अध्ययन मेरा इस अवधि में हुआ।

इस अवधि में शास्त्रीजी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। परिणामस्वरूप बिना किसी साक्षात्कार के इनकी नियुक्ति पेटलाद (गुजरात) के प्रसिद्ध संस्कृत महाविद्यालय के प्रिंसिपल पद पर हो गई। पेटलाद में इनके प्रधान शिष्यों में पं. श्री भाईशंकर पुरोहित जी का विशिष्ट स्थान है। बम्बई के भारतीय विद्याभवन में सम्पन्न होने वाली सर्वविध गतिविधियों के ये प्रधान सूत्रधार रहे हैं। यहाँ से शास्त्रीय परीक्षाओं का संचालन कराने में इनकी प्रधान भूमिका थी। इन्हींके सम्पादकत्व में यहाँ से संस्कृत की त्रैमासिक पत्रिका का भी प्रकाशन होता रहा है।

इस अवधि में भारतवर्ष के धार्मिक आकाश में स्वामी करपात्री जी महाराज के रूप में एक उज्ज्वल नक्षत्र का आलोक फैल रहा था। हमारे शास्त्रीजी इसकी चकाचौंध से अपने को बचा न सके। गृहस्थाश्रम की सारी आपदाओं को बिसार कर वे स्वामी करपात्री जी महाराज के एकान्त भक्त बन गये। अखिल भारतीय धर्मसंघ की विभिन्न शाखाओं के माध्यम से वैदिक सनातन धर्म की उन्नति के लिये विभिन्न स्थानों में यज्ञों का आयोजन, मूर्तिपूजा के समर्थन में आर्यसमाजी विद्वानों के साथ स्थान-स्थान पर शास्त्रार्थों का संचालन, पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन, रामराज्य परिषद् के माध्यम से धर्मानुप्राणित राजनीति का अनुसरण जैसी सभी प्रकार की गतिविधियों में इन्होंने अपनी पूरी प्रतिभा को समर्पित कर दिया। स्वामी जी के आदेश के अनुसार ये पुनः काशी आ गये और यहाँ आकर इन्होंने धर्मशिक्षा मंडल के निरीक्षक का और स्वामी जी के द्वारा स्थापित 'सन्मार्ग' दैनिक पत्र के सम्पादक का पदभार स्वीकार कर लिया। इस कार्य में इनको श्री नन्दलाल शास्त्री जी का भी भरपूर सहयोग मिला, जो रामराज्य परिषद् के सदस्य के रूप में लोकसभा के सदस्य चुने गये थे और बाद में स्वामी करपात्री जी का आदेश पाकर संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो स्वामी नन्दनन्दनानन्द सरस्वती के नाम से प्रख्यात हुए और आजीवन सन्मार्ग के प्रधान सम्पादक बने रहे। उस समय शास्त्रीजी रामराज्य परिषद् के प्रधानमंत्री थे।

आगे चलकर धर्मसंघ शिक्षा मण्डल की तरफ से अनेक स्थानों पर संस्कृत पाठशालाओं के साथ ज्वालापुर (हरिद्वार) में ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की गई। स्वामी करपात्री जी महाराज के आदेश पर इन्होंने दो वर्ष के लिये वहाँ का कुलपति पद स्वीकार कर लिया। ज्वालापुर के इनके शिष्यों में पं. श्री शशिधर शर्मा का विशेष स्थान रहा है। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य संमेलन की शलाकापरीक्षा शर्मा जी ने ससंमान उत्तीर्ण की थी। चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में इनका विशेष स्थान रहा है। इन्होंने अनेक विषयों में आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की थी।

शाङ्करसर्वस्व जैसे ग्रन्थों की भी इन्होंने रचना की और संस्कृत विद्वानों के लिये निर्धारित राष्ट्रपति के पुरस्कार से भी ये संमानित हो चुके हैं।

जामनगर (गुजरात) का आयुर्वेदिक कालेज अपनी दार्शनिक परम्परा के कारण प्रसिद्ध रहा है। भारतीय चिकित्साशास्त्र सांख्य-योग एवं न्याय-वैशेषिक जैसे भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। इस लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए शास्त्री जी ने इस कालेज के शोधसंस्थान के निदेशक का पद स्वीकार किया। यहाँ रह कर उन्होंने आयुर्वेदिक अनुसन्धान की नूतन मान्यताओं की स्थापना की और आगे चलकर इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री चन्द्रकान्त दवे ने उदयपुर के आयुर्वेदिक कालेज में दार्शनिक पद पर कार्य करते हुए इन स्थापनाओं को आगे बढ़ाया। ये आजकल दिल्ली के लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) में सांख्य-योग दर्शन विभाग में अध्यक्ष का पद सुशोभित कर रहे हैं।

गृहस्थाश्रम का इनका अन्तिम पड़ाव जयपुर का महाराजा संस्कृत कालेज रहा है। जयपुर को राजस्थान में संस्कृत विद्या के क्षेत्र में छोटी काशी का संमान प्राप्त है। इस कालेज के प्रिंसिपल पद को सुशोभित करते हुए कालेज की व्यवस्था, परीक्षा-संचालन आदि के साथ स्वयं अध्यापन कार्य में भी दत्तचित्त हो संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में जयपुर की विद्वत्परम्परा की श्रीवृद्धि करने में ये निरन्तर सचेष्ट रहे हैं। अखिल भारतीय सर्ववेदशाखा संमेलन जैसे आयोजनों का श्रीगणेश करने का भी इनको गौरव प्राप्त है। समय-समय पर इनको दर्शनवागीश, महामहोपाध्याय, विद्यालंकार, विद्याभूषण, पण्डितमार्तण्ड आदि संमानित उपाधियाँ और अभिनन्दनपत्र प्राप्त होते रहे हैं। पुरी के शंकराचार्य पद पर मनोनीत किये जाने पर इनके संमान में जयपुर से अभिनन्दन ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया गया था, जिसमें संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में विशिष्ट निबन्धों के अतिरिक्त, विशिष्ट महानुभावों के संदेशों के अतिरिक्त आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर भी प्रकाश डाला गया था। इनमें इन पंक्तियों के लेखक का भी एक निबन्ध "श्रीविद्यायाः समयिसम्प्रदायः" समाविष्ट था। 'तन्त्रयात्रा' में इसका पुनः प्रकाशन हो चुका है । यह माना जाता है कि समयी सम्प्रदाय के अनुसार श्रीविद्या की उपासना आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रवृत्त की गई थी। आज भी शांकर मठों में यह उपासना उसी रूप में प्रवृत्त है। श्रीचक्र की बाह्य वरिवस्या के साथ योगप्रधान आन्तर वरिवस्या को यहाँ विशेष रूप से मान्यता मिली हुई है।

प्रोफेसर राजाराम शास्त्री : एक विश्लेषण

समादरणीय प्रो. राजाराम शास्त्री जी से मेरा पहला परिचय शायद उनके ग्रन्थ "मन के भेद" से हुआ। सुहृद्वर प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय जी पुस्तकों को खरीद कर ही पढ़ना ज्यादा पसन्द करते थे और उनकी लाई पुस्तकों में से अपनी रुचि की पुस्तकें मैं मुफ्त में पढ़ लिया करता था। उन दिनों क्वींस कालेज के छात्रावास में संस्कृत के छात्रों के लिये नियत, पूर्व दिशा की पंक्ति के कक्षों में हम लोग-- पण्डित श्री भागीरथी द्विवेदी, पण्डित श्री कृष्णकान्त पांडेय आदि मित्रों के साथ आचार्य कक्षा में अध्ययन हेतु रहते थे। श्री उपाध्याय जी हम सबके नेता थे और उन दिनों चल रहे आजाद हिन्द फौज के मुकदमे के दौरान काशी विद्यापीठ के छात्रों और अध्यापकों से भी हमारा संपर्क हुआ था, किन्तु आगे चलकर उनमें से प्रो. राजाराम शास्त्री और जनवाणी (मासिक) एवं समाज (त्रैमासिक) के सम्पादक श्री सत्यप्रकाश मित्तल से ही हमारी निरन्तरता बनी रह सकी।

उन दिनों आचार्य नरेन्द्रदेव, आचार्य कृपालानी आदि के कुछ भाषण सुने, इससे अधिक कोई स्मृति शेष नहीं है। यूरोपियन औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांस और रूस की राजनीतिक क्रान्ति पर प्रकाश डालने वाले प्रो. राजाराम शास्त्री जी के भाषणों की हम सब पर अमिट छाप पड़ी थी। उन्हीं दिनों राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के प्रिंसिपल डॉ. मंगलदेव शास्त्री जी ने भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिये एक संस्था स्थापित की थी। प्रो. राजाराम शास्त्री इसके उपाध्यक्ष चुने गये थे। शास्त्री जी के इस शुभ कार्य में काशी विद्यापीठ के संस्कृत भाषा और दर्शन के प्राध्यापक पं. गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी जी का भी पूरा सहयोग था।

इसका एक अधिवेशन उत्तरप्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन की देखरेख में प्रयागराज में अर्धकुंभ के अवसर पर त्रिवेणी-संगम पर हुआ था। इसी अवसर पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अस्थियाँ विसर्जन के लिए त्रिवेणी-संगम पर लाई गई थीं, जिनकी एक अतिवादी युवक ने हत्या कर दी थी। राजर्षि टंडन जी से मेरी एक लघु भेंटवार्ता लखनऊ के विधानसभा भवन के अध्यक्षीय कक्ष में हो चुकी थी, जब वे विधानसभा के अध्यक्ष पद पर आसीन थे। इस अधिवेशन में गांधी जी की हत्या के कारण प्रो. राजाराम शास्त्री जी उपस्थित न हो सके थे। भारतीय संस्कृति परिषद् के नये रूप भारतीय संस्कृति संस्थान के प्रो. राजाराम शास्त्री जी वर्षों तक अध्यक्ष रहे और श्री सत्यप्रकाश मित्तल इसके प्रमुख मन्त्री थे। सखेद यह लिखना पड़ता है कि डॉ. मंगलदेव शास्त्री जी की मृत्यु के बाद यह संस्था ज्यादा दिनों तक चल नहीं पाई। मैं मानता हूँ कि इसमें मेरा भी कुछ दोष रहा है।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री भारतीय संस्कृति के प्रखर प्रवक्ता रहे हैं और उनके इस दृष्टिकोण के दृढ़मूल करने में भारतरत्न डॉ. भगवान् दास जी, आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रो. राजाराम शास्त्री, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे विचारकों का प्रमुख सहयोग रहा है। डॉ. शास्त्री जी ने भारतीय संस्कृति को प्रमुख सात धाराओं में विभक्त किया था और प्रत्येक धारा पर वे अलग-अलग ग्रन्थों का निर्माण करना चाहते थे। वैदिक और औपनिषद धारा पर उनके ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं और अन्तिम समय में वे पौराणिक एवं तान्त्रिक (आगमिक) धारा पर धारावाहिक रूप में अपने लेख हैदराबाद की 'कल्पना' में प्रकाशित कराते जा रहे थे। इस लेखमाला के पूरा हो जाने पर वे इसको भी पुस्तकाकार प्रकाशित कराना चाहते थे, किन्तु कराल काल ने इस कार्य को पूरा न होने दिया। पौराणिक धारा के काल के विषय में उनसे मेरा मतभेद था। वे पौराणिक धारा को प्राचीन मानते थे और मैं आगमिक तान्त्रिक धारा को। इस विषय में मेरा डॉ. मंगलदेव शास्त्री जी और प्रो. राजाराम शास्त्री जी से भी विचार-विमर्श चलता रहता था, किन्तु ऐसा लगता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण पर दृढ है। डॉ. मंगलदेव शास्त्री जी के न रहने पर संस्कृति के क्षेत्र में मेरे एकमात्र सहायक प्रो. राजाराम शास्त्री जी ही रह गये थे।

भारतरत्न श्रद्धास्पद डॉ. भगवान् दास जी भी भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता रहे हैं। मनुस्मृति की इन्होंने अभिनव व्याख्या लिखी थी। इनका 'पुरुषार्थ' नामक ग्रन्थ भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता की समग्र व्याख्या प्रस्तुत करता है, किन्तु दुर्भाग्य से एक-दो बार से अधिक इनका सम्पर्क मुझे मिल न सका। यही स्थिति लगभग डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के साथ भी रही, किन्तु इनके "ब्राह्मण सावधान" को मैंने बड़े चाव और लगन के साथ पढ़ा था। संभव है—"किमेतदुचितम्", "विरमत विरमत आर्याः" जैसे मेरे संस्कृत निबन्धों पर उनके उक्त ग्रन्थ की छाप पड़ी हो।

हमारे पितामह पं. रघुनाथ द्विवेदी अजमेर (राजस्थान) के मेयो कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे। अरबी-फारसी भाषा का भी इनको अच्छा अभ्यास था। इन भाषाओं के विद्वान् इनसे मिलने आया करते थे, इनमें मौलवी लोग भी शामिल थे। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द जी का अजमेर प्रधान कार्यक्षेत्र रहा है। सजातीय होने से हमारे पितामह से इनका अच्छा संपर्क था। उन दिनों प्रसिद्ध इतिहासज्ञ और भारतीय लिपिशास्त्रज्ञ डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा का कार्यक्षेत्र भी अजमेर ही था। इन दोनों महानुभावों के सारे ग्रन्थ हमारे घर पर थे। सत्यार्थप्रकाश को मैं बचपन में ही पढ़ चुका था, किन्तु हमारे पितामह का अन्तिम समय का सबसे प्रिय ग्रन्थ महान् मराठा सन्त ज्ञानेश्वर महाराज द्वारा रचित गीता की ज्ञानेश्वरी टीका का गुजराती अनुवाद था। हमारे परिवार को अनेक व्यक्ति क्या, संबन्धी भी आर्यसमाजी मानते रहे हैं, जैसे कि काशी के कुछ विद्वान् मुझे समाजवादी मानते हैं। काशी में भी

एक बार मैं अपने आर्यसमाजी शुभचिन्तक के साथ आया था। उनके एक मित्र ने भी मैं आर्यसमाजी विचार का हूं या नहीं? यह प्रश्न पूछ कर मुझे पशोपेश में डाल दिया था। हमारे उस शुभचिन्तक ने ही, अभी ये पढ़ रहे हैं, कह कर उनकी जिज्ञासा को शान्त कर दिया था। तब भी इन सबकी यह इच्छा रहती थी कि मैं जल्दी से जल्दी आर्यसमाजी बन जाऊँ। बाद में मैंने पाया कि गांधी जी की तरह मैं भी अपने को सनातनी ही मानता हूँ।

आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने कहीं लिखा है कि भारतीय संस्कृति या धर्म को यदि कोई एक नाम दिया जाय, तो वह सनातन धर्म हो सकता है, किन्तु आर्यसमाजियों और सनातनियों के विवाद ने अब इस शब्द को विवादग्रस्त बना दिया है। हमारी समझ में सनातन धर्म यह नाम भारतीय धर्म और संस्कृति के वर्जनीय तत्त्वों का परिहार और नवीन उपादेय तत्त्वों के ग्रहण का ही पर्याय है। आर्यसमाज को सनातन धर्म में प्रविष्ट कुछ दोषों के परिहार के आन्दोलन के रूप में ग्रहण करना चाहिये। अब गांधीवादी चिन्तनधारा के माध्यम से, जो पूरी तरह से भारतीय सन्त-परम्परा से अनुप्राणित है, सनातन धर्म पुनः अपने स्वस्थ रूप में प्रतिष्ठित हो सकेगा, इसमें हमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाना चाहिये। आर्यसमाज का विरोध रूढ़िवादी विचारधारा के साथ हो सकता है। सनातन धर्म तो आर्यसमाजी विचारधारा से भी सामयिक विचारों को ग्रहण कर आगे बढ़ गया है।

सनातन धर्म ने बौद्ध और जैन धर्म से ही नहीं, भारत में समय-समय पर प्रवृत्त हुए अन्य-अन्य धर्मों और मत-मतान्तरों से भी आवश्यक उदात्त तत्त्वों को लेने में कभी परहेज नहीं किया। साथ ही अपने सार्वभौम मौलिक तत्त्वों को छोड़ देने की गलती भी उसने कभी नहीं की। हालैण्ड के प्रसिद्ध मनीषी डॉ. जे. गोण्डा ने "चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन" नामक ग्रन्थ में भारतीय सनातन धर्म की इस विशेषता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। बौद्ध और जैन धर्मों ने वेदों को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया, तो आर्यसमाजियों ने पूरी भारतीय परम्परा को ही नकार कर वेदों से ही सब कुछ निकाल लेने का हास्यास्पद दावा प्रस्तुत किया। बौद्ध और जैन धर्म भारतभूमि की ही उपज है। विशाल पौराणिक, आगमिक और स्मार्त साहित्य भी यहीं उपजा है। यह सारा वाङ्मय भारत की अमूल्य निधि है। इसके किसी एक अंश को नकार देने का कोई अर्थ नहीं होता।

इस विषय में डॉ. मंगलदेव शास्त्री और प्रो. राजाराम शास्त्री जी के विचार बड़े ही सन्तुलित रहे हैं। डॉ. सम्पूर्णानन्द जी इसी दृष्टि के प्रखर समर्थक थे। इसके विपरीत राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन पर आर्यसमाज का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि उन्होंने खजुराहो के कलापूर्ण मन्दिरों की मूर्तियों को छेनी से छील डालने तक

की सलाह दे डाली थी। *इसको हम भारतीय संस्कृति पर इस्लामिक संकीर्ण विचारधारा का दुष्प्रभाव-मान सकते हैं।*

आचार्य नरेन्द्रदेव जी के ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" का मुद्रण काशी में ही हुआ था और इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में आचार्य जी ने प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय के साथ मुझे भी सहायक मित्र के रूप में स्मरण किया है। यह तो उनकी सरल उदार मनोवृत्ति का सूचक है, किन्तु इसके बाद हमारे एक वयोवृद्ध शुभचिन्तक पं. श्री बलदेव मिश्र जी की प्रेरणा से हम लोग उनके साथ आचार्य जी से मिलने उनके लखनऊ के हैदराबाद कालोनी स्थित आवास में गये थे और बाद में उनके "अभिधर्मकोशभाष्य" के फ्रेंच भाषा से हिन्दी में किये गये अनुवाद के प्रकाशन में भी हम लोगों ने सहयोग किया था। कुछ दिन बाद आचार्य जी हिन्दु विश्वविद्यालय के कुलपति होकर वाराणसी चले आये। आचार्य जी अक्सर लहुराबीर स्थित लक्ष्मीनिवास में भी ठहरा करते थे। इस बीच प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय जी का संपर्क तो अनेक राजनेताओं से हुआ, किन्तु मेरा परिचय प्रो. राजाराम शास्त्री जी के अतिरिक्त प्रो. मुकुटबिहारी लाल और श्री बैजनाथसिंह विनोद तक ही सीमित रह सका। डॉ. राममनोहर लोहिया के व्यवहार से आहत आचार्य जी की उस मनोव्यथा का मैंने अवश्य बहुत नजदीक से अनुभव किया है, जिसने आचार्य जी की जीवनरेखा को पूरी तरह से क्षीण कर दिया था।

आचार्य जी के इस प्रसंग को मैंने जान-बूझकर उठाया है। "बौद्ध धर्म-दर्शन" एवं "अभिधर्मकोशभाष्य" जैसे ग्रन्थों के रचयिता आचार्य जी को केवल बौद्ध धर्म से जोड़ने का प्रयत्न होता रहा है, किन्तु उनके साथ रहते हुए मुझे कभी यह प्रतीति नहीं हुई कि आचार्य जी किसी एक भारतीय धर्म से जुड़े हुए हैं। वस्तुतः वे भारतीय संस्कृति को समर्पित थे, जिसके निर्माण में वे बौद्ध धर्म की विशिष्ट भूमिका मानते थे। यह भी कहा जाता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू के बौद्ध धर्म के प्रति विशेष आग्रह के मूल में आचार्य नरेन्द्रदेव जी थे। किन्तु आचार्य जी की पूरी दृष्टि संस्कृति-प्रधान थी, धर्म-प्रधान नहीं। प्रो. मुकुटबिहारीलाल जी आचार्य जी के बहुत निकट के मित्र रहे हैं। आचार्य जी का दृष्टिकोण क्या रहा है? इस विषय में एक बार उनसे मैंने प्रश्न किया था और वे मेरे दृष्टिकोण से सहमत थे। धर्म और संस्कृति के विषय में आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, प्रो. मुकुटबिहारीलाल और प्रो. राजाराम शास्त्री जी का दृष्टिकोण बहुत कुछ मिलता-जुलता सा रहा है।

"प्रो. राजाराम शास्त्री स्मृति ग्रन्थ" के लिये संस्मरण आदि भेजने के लिये लिखे गये पत्र के साथ भेजे गये निबन्ध में एक स्थल पर लिखा गया है कि ***कई वर्षों से वे निरन्तर धर्म और संस्कृति के भेद पर जोर दे रहे थे।*** अभी-अभी हमने भी इसी संबन्ध में एक निबन्ध लिखा है— "धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये"। यह एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था और "निगमागम संस्कृति" शीर्षक हमारे

निबन्ध-संग्रह में पुनः समाविष्ट कर लिया गया है। *भारत राष्ट्र को सबल बनाने का यही एकमात्र मार्ग है।*

पिछड़ी जातियों के आरक्षण के विषय में भी इनका अपना एक मौलिक सुझाव था, किन्तु राजनीतिज्ञों ने उस पर कभी ध्यान नहीं दिया। इस संबन्ध में उनका सुझाव यह था कि *जो जातियाँ अपने मूल-व्यवसाय से जुड़ी हुई हैं और इसीके कारण जो अपनी दयनीय स्थिति से उबर नहीं पा रही हैं, ऐसे ही व्यक्तियों को आरक्षण की सुविधा दी जाय।* चौकाघाट से पांडेयपुर जाते समय रास्ते में सड़क के बाँये किनारे बांस की खपच्चियों का सामान बनाकर अपना पेट पालने वाले परिवारों की दो-चार झोपड़ियाँ हैं। क्या इनको आरक्षण का लाभ कभी मिल सकेगा? कल्याणमित्र प्रो. राजाराम शास्त्री जी ऐसे ही अभावग्रस्त परिवारों तक आरक्षण का लाभ पहुंचाना चाहते थे।

मैं प्रो. राजाराम शास्त्री जी के यहाँ अक्सर ही उनके काशी विद्यापीठ स्थित आवास में जाया करता था। हाथ या कन्धे पर शायद झोला भी रहता हो। एक दिन एक परिचित प्रोफेसर साहब से आमना-सामना हो गया और उन्होंने पूछ ही लिया कि विप्रदेवता यह झोला लटकाये यहाँ कहाँ घूमते रहते हैं। मैंने सहज रूप में जबाब दिया कि मैं वर्षों से प्रो. राजाराम शास्त्री जी के यहाँ आता-जाता रहता हूँ। शायद मेरा यह उत्तर उनको अच्छा न लगा हो। यह भी हो सकता है कि मेरा शास्त्री जी के यहाँ आना-जाना उनको मालूम हो और इस दुष्कृत्य से वे एक विप्रतनय को रोकना चाहते हों। मेरे अनुभवों ने और आगम-तन्त्रशास्त्र के ही नहीं, पुराणों के और सन्त साहित्य के अनुशीलन ने भी इस विचार को पुष्ट ही किया है कि धर्म और अधर्म के प्रति जाति की कोई भूमिका नहीं है।

एक पंक्तिपावन ब्राह्मण अत्यन्त संकीर्ण विचार का हो सकता है और एक जायसवाल, जिसको रूढ़िवादी संस्कृति ने एक विचित्र सा नाम देकर अपनी मानसिक दुर्बलता की भड़ास निकाली है, अत्यन्त उच्च मानस भूमिका तक पहुँच सकता है। इसमें जाति का क्या स्थान हो सकता है? किन्तु गीता के उपदेश के बावजूद जाति के आधार पर मनुष्य की श्रेष्ठता की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। प्रो. राजाराम शास्त्री के प्रति ही नहीं, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे मनीषियों के प्रति ही नहीं, महात्मा गांधी के प्रति भी ऐसे ही विचार प्रकट किये जाते रहे हैं और यही मनोवृत्ति आज संस्कृत विश्वविद्यालय का संचालन कर रही है, जहाँ जातिगत श्रेष्ठता का आधार केवल भोजन तक सिमट कर रह गया है।

आजकल भारतवर्ष में जाति-तोड़ों का नारा बुलन्द किया जा रहा है, किन्तु यह आन्दोलन कभी सफल हो सकेगा, इसकी संभावना अत्यन्त क्षीण है। निहित स्वार्थ इसको कभी पूरा नहीं होने देगा। अन्य विचारक धर्मान्तरण में इस समस्या का समाधान खोजते हैं, किन्तु हमने देखा है कि कुछ अपवादों को छोड़कर इससे भी मूल

आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। इधर आर्यसमाज ने 'कर्मणा वर्णव्यवस्था' पर जोर दिया, किन्तु यहाँ भी पिता के शास्त्री या द्विवेदी होने पर पुत्र भी अनायास शास्त्री या द्विवेदी बन जाता है। फलतः मूल समस्या का परिहार नहीं होने पाता।

हमारी समझ में इस *जातिगत श्रेष्ठता की बीमारी का एक ही उपचार है कि इसमें घुसी हुई ऊँच-नीच की भावना को मिटाने का प्रयत्न किया जाय। गीता में प्रतिपादित गुण और कर्म के अनुपात में जाति को नहीं, यदि व्यक्ति को संमान मिल सके, सामाजिक श्रेष्ठता का आधार यदि चरित्र को माना जाय और अनावश्यक दंभ को प्रश्रय न दिया जाय, तो जातिगत यह ऊँच-नीच की भावना स्वतः समाप्त हो सकती है।* यह प्रसन्नता की बात है कि भारतीय सन्त परम्परा के प्रतिनिधि महात्मा गांधी की दृढ़ इच्छाशक्ति के कारण जातिगत श्रेष्ठता का आर्यसमाजी आधार शिथिल पड़ गया है और भारतीय जनमानस में यह भावना पुनः दृढ़मूल हुई है कि जो व्यक्ति जहाँ है, वहीं रह कर वह अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकता है। ऊपर चर्चित सभी महानुभावों को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

बाबासाहब अम्बेडकर ने यह कर दिखाया था, किन्तु अन्ततः वे विचलित हो उठे। *सनातन धर्म समस्त नैतिक शाश्वत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें सभी मजहबों की अच्छाइयों को ग्रहण करने की तीव्र इच्छाशक्ति आज भी विद्यमान है। इसको हम भारतीय संस्कृति का पर्याय भी मान सकते हैं, यही एकमात्र यहाँ की नानाविध समस्याओं का समाधान कर सकता है। अन्य मार्ग के अवलम्बन से उसमें से विग्रह के बीच ही पनप सकते हैं, वैमनस्य की आग ही भड़क सकती है, जिसमें राजनीतिज्ञ भले ही अपने हाथ सेक लें, भारतीय संस्कृति और समाज का उसमें कोई भला नहीं होने वाला है।*

आचार्य नरेन्द्रदेव जी के द्वारा व्याख्यात भारतीय संस्कृति को हम परम्परा से कभी अलग न होने वाली इसी दृष्टि के सहारे समझ सकते हैं। डॉ. भगवान् दास, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, प्रो. राजाराम शास्त्री आदि काशी के मनीषियों ने इसीकी अलख जगाई है। इसको हम काशी विद्यापीठ का अवदान मान सकते हैं, किन्तु आज यह संस्था अपने लक्ष्य से च्युत होती जा रही है। सस्ती लोकप्रियता का डॉ. लोहिया का फार्मूला यहाँ काम करने लगा है। इस विकट स्थिति में हम उस परममनीषी, चरित्र के धनी, दया के सागर, प्रसिद्धिनिरपेक्ष, निरभिमानी, एक मानवता में विश्वास करने वाले प्रो. राजाराम शास्त्री को, उनके कार्यकलापों को, उनकी विचारधारा को, उनके प्रेरणास्रोतों को स्मरण कर उस ओर अग्रसर हो सकें, तो यही हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

ग्रन्थ-समीक्षा

राजाराम शास्त्री : दर्शन, धर्म तथा समाज

ग्रन्थनाम—राजाराम शास्त्री : दर्शन, धर्म तथा समाज, *सम्पादक*— प्रो. रमेशचन्द्र तिवारी, *प्रकाशक*—आचार्य नरेन्द्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, *वितरक*—विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी। प्रथम संस्करण, सन् १९९४, मूल्य ३५०.००

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रबुद्ध चिन्तक प्रो. राजाराम शास्त्री, कुलपति, काशी विद्यापीठ, वाराणसी के समय समय पर लिखे गये दर्शन, धर्म तथा समाज संबन्धी निबन्ध संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के आमुख के लेखक प्रो. मधु दंडवते और प्राक्कथन के लेखक प्रो. श्यामाचरण दूबे हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव समाजवादी संस्थान के मंत्री श्री सत्यप्रकाश मित्तल ने शास्त्री जी का संक्षिप्त जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है और प्रो. रमेशचन्द्र तिवारी ने ग्रन्थ की भूमिका (पृ. १०-३३) लिखी है। ग्रन्थ के अन्त में प्रो. राजाराम शास्त्री का परिचयात्मक विवरण दिया गया है और ८३ पृष्ठ की शब्दानुक्रमणिका के माध्यम से ग्रन्थ में संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णित सभी विषयों को अकारादिक्रम से संयोजित कर उनका स्थाननिर्देश कर दिया गया है, जिससे पाठकों को इन विषयों पर लेखक के क्या विचार हैं, इसको जानने में सुविधा हो।

इस ग्रन्थ में नौ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में दर्शन संबन्धी नौ, दूसरे में धर्म संबन्धी छः, तीसरे में मनोविज्ञान संबन्धी दस, चौथे में समाजशास्त्र संबन्धी सात, पाँचवें में भारतीय समाज संबन्धी सात, छठे में राजनीति-संबन्धी छः, सातवें में राष्ट्रीय प्रश्न संबन्धी सात, आठवें में गुणानुस्मरण संबन्धी ग्यारह और नवें खण्ड में विविध प्रकार के सात निबन्ध संगृहीत हैं। अन्त में "टिप्पणियाँ एवं समीक्षा" शीर्षक के अन्तर्गत विविध विषयों पर बारह स्वल्प लेख संगृहीत हैं। इन सभी निबन्धों का संक्षिप्ततम कथ्य प्रो. दंडवते के आमुख से तथा अपेक्षाकृत विस्तृत परिचय सम्पादक की भूमिका से मिल जाता है।

"प्रोफेसर राजाराम शास्त्री : एक विश्लेषण" शीर्षक निबन्ध में हमने आदरणीय शास्त्रीजी के संबन्ध में अपने व्यक्तिगत उद्गार प्रकट किये थे। उस निबन्ध को भी यहाँ अभी प्रकाशित किया गया है। अब हम यहाँ उनके द्वारा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत प्राच्य और पाश्चात्य विचारों की भारतीय संस्कृति और देश की वर्तमान आवश्यकता की पृष्ठभूमि में समीक्षा करना चाहते हैं।

समालोच्य ग्रन्थ में दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भारतीय समाज और राजनीति संबन्धी निबन्धों की प्रधानता है। इन्हींकी हमें समीक्षा भी करनी है। राष्ट्रिय

प्रश्न समय-समय पर उभरते रहते हैं और उनका उस समय की परिस्थितियों के अनुसार समाधान होता है। श्रद्धेय अथवा समादरणीय व्यक्तियों का गुणानुस्मरण भी अपने-अपने ढंग से किया जाता है। अतः सातवें और आठवें खण्ड की समीक्षा का यहाँ कोई विशेष उपक्रम नहीं है।

"डॉ. भगवान् दास का दर्शन" शीर्षक निबन्ध में डायसन, हीगेल, काण्ट, वर्गसाँ जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है और बताया गया है कि मार्क्स के द्वन्द्ववाद पर हीगेल का प्रभाव है। इस निबन्ध के अन्त में कहा गया है कि डॉ. भगवान् दास के ग्रन्थ (मोक्षशास्त्र) में दर्शनशास्त्र अपनी पूर्णता को पहुँच गया है (पृ. २६)। यह कथन अपने गुरु के प्रति श्रद्धातिरेक ही माना जायगा, क्योंकि आधुनिक प्राच्य अथवा पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि में भारतीय दर्शन बौद्ध मत अथवा शांकर अद्वैतवाद तक ही सीमित रह गया है। म. म. पद्मविभूषण पं. गोपीनाथ कविराज जी ने स्पष्ट किया है कि कश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भारतीय मनीषा का चूडान्त उत्कर्ष हुआ है और योगी अरविन्द का दर्शन इसीसे अनुप्राणित है। पाश्चात्य दर्शनों के विषय में कुछ कहने का हमारा अधिकार नहीं है, अतः इस विषय को हम तज्ज्ञ विद्वानों के लिये छोड़ देते हैं। शास्त्री जी ने डॉ. भगवान् दास के दर्शन के विषय में आगे (पृ. ३८०-३८३) भी प्रकाश डाला है।

"सम्पूर्णानन्द का प्रमाण-दर्शन" शीर्षक निबन्ध में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की चर्चा आई है। भारतरत्न डॉ. भगवान् दास का 'पुरुषार्थ' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है। यहाँ शास्त्री जी ने धर्म की विशिष्टता को स्थापित कर अज्ञान-निवृत्ति-पूर्वक ज्ञान की सहायता से जीव और जगत् के स्वरूप को पहचानने की बात की है, किन्तु न जाने क्यों उन्होंने इसके लिये मोक्ष शब्द का प्रयोग नहीं किया। अपने अन्य निबन्धों में भी उन्होंने पुरुषार्थ में समाविष्ट नैतिकता के पर्यायवाची धर्म की व्याख्या न कर कर्मकाण्डपरक धर्म की और नैतिकता के नाम से पाश्चात्य जगत् में स्वीकृत तत्त्व की धर्म से अलग सत्ता स्वीकार की है। ऐसा लगता है कि धर्म-विषयक उनके विचारों पर डॉ. भगवान् दास और डॉ. सम्पूर्णानन्द की अपेक्षा पाश्चात्य दृष्टिकोण का अधिक गहरा प्रभाव है। यह प्रवृत्ति पूरे ग्रन्थ में देखी जा सकती है।

कर्ममीमांसा में ज्ञान और कर्म की विवेचना करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं कि इतिहास ही बतायेगा कि कौन सा कर्म किस समय अनुपयोगी हो गया और जब ऐसा हो जाय, तब उन्नतिशील समाज में उसका तिरस्कार होना ही चाहिये (पृ. ५०) यहाँ स्वयं शास्त्री जी ने वैदिक विधानों की चर्चा की है। हम तान्त्रिक विधानों को भी इसी कोटि में रख सकते हैं, शास्त्री जी ने आगे इनकी चर्चा की भी है (पृ. ४६८), किन्तु

इसका मतलब यह नहीं है कि सभी वैदिक अथवा तान्त्रिक विधान तिरस्करणीय हो जायेंगे। तिरस्कार शब्द स्वयं अपने में अदार्शनिक है और उन्नतिशील समाज की अवधारणा भी सही नहीं है। उन्नतिशील (प्रगतिशील) और प्रतिगामी समाज की व्याख्या के लिये हमें इतिहास की ही शरण में जाना पड़ेगा। इस ग्रन्थ में अभी-अभी हम इन शब्दों की चर्चा कर चुके हैं।

"मानव जीवन की अवस्थाएँ" (पृ. ५२-५७) शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी ने परिणामवाद से पृथक् सद्वाद को मान्यता दी है। सांख्यदर्शन में ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। लगता है कि यहाँ शास्त्री जी ने इन शब्दों के रूप में कुछ पाश्चात्य दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद दिया है, जो भारतीय दर्शनों की प्रकृति के विपरीत है। इसी निबन्ध के अन्त में जो यह कहा गया है कि जीवन की सफलता के लिये विचारों की एकता, संबद्धता एवं समन्वय का ध्यान रखना आवश्यक है (पृ. ५७), यह अत्यन्त ही उपादेय है। अन्ततः भारतीय दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है।

निष्क्रिय नैतिकता की शास्त्री जी ने जो व्याख्या की है, वह भी समालोच्य है। नैतिकता में निष्क्रियता करुणा के अभाव में आ सकती है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारतीय संस्कृति में कर्तव्य, धर्म और नैतिकता लगभग पयार्यवाची शब्द हैं। इनकी अपरिपक्वता की स्थिति में ही निष्क्रियता प्रवेश कर सकती है। न मालूम क्यों, शास्त्री जी ने अपने सभी निबन्धों में धर्म की कर्मकाण्डपरक ही व्याख्या की है। धर्मविषयक द्वितीय खण्ड में इसको विशेष रूप से देखा जा सकता है।

तन्त्र (जादू) और धर्म का अन्तर, तन्त्र और विज्ञान, विधि-निषेध, भविष्य-कथन, मन्त्र के देवताओं की स्वतन्त्र स्थिति, संक्रमण तन्त्र और अनुकरण तन्त्र जैसे विषयों की चर्चा शास्त्री जी ने इसी धर्म के प्रसंग में की है(पृ. ९३-९५)। इन सबका इतना ही उपयोग हो सकता है कि हम इनके विषय में पाश्चात्य विचारों से परिचित हो सकते हैं, किन्तु इससे भारतीय विचारों के प्रति भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। भारतीय तन्त्रशास्त्र, जिसमें आगमशास्त्र भी समाविष्ट है, केवल जादू-टोना, भविष्य-कथन आदि तक ही सीमित न होकर भारतीय दर्शन, धर्म, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, देवतावाद आदि की भी नूतन व्याख्या प्रस्तुत करता है। विधि-निषेध की परिभाषा भी यहाँ बदल गई है। तन्त्रशास्त्र में ही नहीं, मीमांसा दर्शन में भी मन्त्रों को देवता का स्वरूप माना गया है।

धर्म और संस्कृति, धर्म का क्षेत्र, धर्म और अहिंसा जैसे निबन्धों में भी शास्त्री जी ने आधुनिक विचारों को ही प्रधानता दी है। मनुस्मृति, विदुरनीति जैसे धर्म-ग्रन्थों में परिभाषित धर्म को वे इस शब्द से संबोधित न कर नैतिकता नाम देते हैं। डॉ. भगवान् दास की देखरेख में इन्होंने मनुपादानुक्रमणी (मनुस्मृति के

प्रत्येक श्लोक के चारों पादों की अक्षर-क्रम से अनुक्रमणी) बनाई थी। उसका कोई प्रभाव इन निबन्धों पर नहीं दिखाई पड़ता। "देशकालनिमित्तानां भेदे धर्मो विभिद्यते" इस वचन में आया धर्म शब्द मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार का सूचक है। संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, यह हमें विस्मृत नहीं होना चाहिये। वस्तुतः देखा जाय तो नैतिक शब्द का प्रयोग सार्वभौम धर्म के अर्थ में ही होता है। संस्कृति शब्द की व्याख्या भी शास्त्री जी ने पाश्चात्य अथवा इस्लामिक दृष्टिकोण से ही की है। इस संबन्ध में शास्त्री जी के मित्र डॉ. मंगलदेव शास्त्री जी के विचार अधिक उपादेय हैं।

धर्म के अंग के रूप में यहाँ (पृ. १०४) ज्ञान, भक्ति और कर्म की चर्चा की गई है। भारतीय दर्शन में ये धर्म के ही नहीं, मोक्ष के भी अंग हैं। भगवद्गीता में निष्काम कर्म को भी मोक्ष का अंग माना गया है। यह भी कोई आवश्यक नहीं है कि इनका पारलौकिक क्षेत्र से ही संबन्ध हो। भारतीय दर्शनों में जीवन्मुक्ति की भी अवधारणा है, जिसके अनुसार मानव इसी जन्म में मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है और इस स्थिति में योग को भी मान्यता दी गई है। इतना सब होते हुए भी शास्त्री जी का यह निष्कर्ष एकदम सही है कि कि परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों के ही कारण धर्मों की विभेदकता उग्र रूप धारण कर लेती है। शास्त्री जी का यह कहना भी सही है कि ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि सभी धर्मों को अपने इस तरह के कर्मकाण्डों पर प्रतिबन्ध लगाने पड़ेंगे। इसकी शिक्षा हम भारतीय धर्मों से ले सकते हैं।

यहाँ के धर्म और अहिंसा (पृ. १०७-११०) जैसे निबन्धों को देखने से ऐसा आभास होने लगता है कि ***पाश्चात्य सोच को प्रकट करना, उसको वरीयता देना प्रगतिशीलता और भारतीय सोच का पक्ष लेना प्रतिगामिता का, पिछड़ेपन*** का प्रतीक मान लिया गया है। इस सोच से शास्त्री जी भी पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सके हैं, जबकि उनको अहिंसा जैसे विषयों पर तो भारतीय पक्ष पर कुछ अवश्य लिखना चाहिये था। धर्म की व्याख्या के प्रसंग में भी पूरे ग्रन्थ पर पाश्चात्य प्रभाव हावी है।

शास्त्री जी के इस पूरे निबन्ध-संग्रह में "धर्मों की आन्तरिक समानता और महामति प्राणनाथ" शीर्षक निबन्ध को हम सर्वोत्कृष्ट मान सकते हैं। निश्चय ही यहाँ प्रकट किये गये विचारों की पद्धति से दुनियाँ के सभी धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय की दृष्टि को जगाया जा सकता है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि सारा जगत् मिथ्या है, यह सिद्धान्त बौद्ध अथवा शांकर वेदान्त को ही मान्य है। आगमिक दर्शन इसको स्वीकार नहीं करता। माओवाद के ऊपर भी भगवान् बुद्ध की करुणा का प्रभाव है। वाम मार्ग और दक्षिण मार्ग की तुलना शिया-सुन्नी से करना भी गलत है। इसी तरह से नित्य और नैमित्तिक कर्मों को न करने से प्रत्यवाय (गुनाह) अवश्य माना

गया है। केवल काम्य कर्मों के लिये ही यह बात लागू हो सकती है कि न करने से गुनाह नहीं होगा।

अपने मनोविज्ञान संबन्धी निबन्धों में शास्त्री जी ने आधुनिक मनोविज्ञान के साथ भारतीय शास्त्रों की भी कुछ प्रवृत्तियों का अच्छा विश्लेषण किया है, किन्तु इसमें काम को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। उपनिषदों में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाओं की चर्चा है और बताया गया है कि इन एषणाओं से मुक्त व्यक्ति ही लोककल्याण का अधिकारी हो सकता है। गौतम के न्यायसूत्र में (४.१.३) मानसिक विकारों को राग, द्वेष और मोह नामक तीन राशियों में विभक्त किया है और वहाँ भाष्यकार ने काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ का राग पक्ष में; क्रोध, ईर्ष्या, द्रोह, असूया और अमर्ष का द्वेष पक्ष में तथा मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (संशय), मान और प्रमाद का मोह पक्ष में समावेश किया है। आगे (४.१.६) सूत्रकार ने ही बताया है कि इनमें मोह सबसे खतरनाक है, क्योंकि मोहग्रस्त व्यक्ति में ही इन सब दोषों की उत्पत्ति होती है। भारतीय शास्त्रों में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य की अरिषड्वर्ग के रूप में और बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु की षडूर्मि के रूप में व्याख्या की गई है। यहाँ बताया गया है कि बुभुक्षा और पिपासा प्राण के, शोक और मोह मन के तथा जरा और मृत्यु शरीर के धर्म हैं। भगवद्गीता का कहना है कि जो व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन में काम और क्रोध के वेग को रोकने में समर्थ हो जाता है, वही सुखपूर्वक अपना जीवनयापन कर सकता है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। (५.२३)

आधुनिक मनोविज्ञान की सारी प्रवृत्ति काम पर केन्द्रित-सी हो गई लगती है।

शास्त्री जी ने डॉ. भगवान् दास जी का उल्लेख करते हुए द्वेष के तीन भेद बतायें हैं— विशिष्ट बल वाले की ओर भय, तुल्य की ओर क्रोध और हीन की ओर घृणा (पृ. ११९)। महाकवि मातृचेट भगवान् बुद्ध की एवं पारमेश्वरागम योगी की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करते हुए बताते हैं कि विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या, हीन गुण वाले के प्रति अपमान और अपने बराबर के व्यक्ति पर स्पर्धा का भाव न रखने के कारण इनको श्रेष्ठता प्राप्त होती है—

अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च।
अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः।।

इन दोनों दृष्टियों का अन्तर स्पष्ट है। हमें यह भी स्मरण रखना है कि भारतीय दर्शन एवं अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में मनोभावों का विस्तृत विवेचन ही नहीं

हुआ है, उनके परिशोधन के उपाय भी प्रदर्शित हैं। वर्तमान समय में हिन्दी के प्रख्यात समालोचक पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ "चिन्तामणि" के प्रथम भाग में इन भावों का सुन्दर विश्लेषण किया है। अपने लेखन में शास्त्री जी ने भारतीय दृष्टि की उपेक्षा-सी कर दी है। "चित्तविश्लेषण पर भारतीय दृष्टिकोण" (पृ. १५२-१६३) शीर्षक निबन्ध में उन्होंने इस ओर अवश्य प्रयत्न किया है, किन्तु सांख्य-योग दर्शन में ही नहीं, बौद्ध योगशास्त्र एवं दर्शन के ग्रन्थों के अतिरिक्त आगम-तन्त्रशास्त्र में भी आन्तर पूजा के रूप में इनका विवरण मिलता है। मानव व्यक्तित्व के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है।

डॉ. रमाशंकर शुक्ल की पुस्तक की भूमिका के रूप में प्रस्तुत "व्यक्ति के विकास के सोपान" शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी मनुष्य के जीवन में विकास की दृष्टि से आठ अवस्थाओं की चर्चा करते हैं। यहाँ प्रयुक्त मुखकामावस्था, गुद-कामावस्था जैसे शब्द, लगता है मूललेखक के द्वारा गलत अनुवाद के रूप में प्रयुक्त हुए हैं अथवा ये उनके भारतीय शास्त्रों एवं भारतीय संस्कृति के भी अज्ञान के सूचक हैं। शास्त्री जी जहाँ तक ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का विवरण देते हैं, यह तो सही है, किन्तु इस अनुवाद अथवा कथ्य की अभारतीयता पर उन्हें अवश्य कुछ लिखना चाहिये था। आगे चलकर आपने भारतीय शास्त्रों की दृष्टि से काम की व्याख्या अवश्य की है। यह हमें अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि धर्म-नियन्त्रित काम को ही यहाँ मान्यता मिली है और कामावस्था का उदय किशोरावस्था के बाद ही माना गया है।

मनुष्य के चार ऋणों की चर्चा शास्त्री जी करते हैं (पृ. १३६)। आगे भारतीय शास्त्रों में वर्णित तीन ऋणों में उन्होंने चतुर्थ 'मनुष्य ऋण' का समावेश कर दिया है। यह तो ठीक है, किन्तु इन तीन ऋणों की तीन एषणाओं से तुलना करना उचित नहीं है। इसमें कारण यह है कि भारतीय शास्त्रों में तीन ऋणों के पालन का और तीन एषणाओं के त्याग का विधान है। पाश्चात्य विद्वान् ऐडलर के अनुसार उन्होंने तीन ऋणों की तीन सामाजिक कर्तव्यों के रूप में जो व्याख्या की है (पृ. १४६), वह अवश्य उपयोगी है, किन्तु एषणा संबन्धी ऐडलर का निष्कर्ष सही नहीं माना जा सकता है। "पूर्वी और पश्चिमी मनोविज्ञान का संश्लेषण" (पृ. १६४-१६६) एक अच्छा शीर्षक है, किन्तु यहाँ भी शास्त्री जी पूरी तरह से इस लिये सफल नहीं हो पाये हैं कि ऐसा करते समय भी वे पाश्चात्य प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सके।

स्वप्नसंबन्धी तीन निबन्धों (पृ. १६७-२१०) में यहाँ भारतीय शास्त्रों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। यहाँ इन्होंने पाश्चात्यों से लेने की अपेक्षा उनको दिया अधिक है। यह आश्चर्य की ही बात है कि आजकल के ***प्रगतिशील कहे जाने वाले विचारकों का भारतीय धर्मों की अपेक्षा इस्लाम और खीष्ट विचारकों के प्रति अधिक***

आकर्षण है, किन्तु इनमें से कोई भी इस्लाम के उत्कृष्ट अवदानों को दुनिया के सामने नहीं रख सका, जबकि ये पाश्चात्यों के सभी भले-बुरे विचारों को स्वादिष्ट भोजन के रूप में परोसने में अपनी सुध-बुध भूलकर लगे रहते हैं। स्वयं इस्लाम के अनुयायी भी इस ओर से विमुख हैं और विद्वेषी कालातीत कर्मकाण्डों से चिपके हुए हैं एवं आध्यात्मिक सूफीवाद से उनकी दूरी बढ़ती जा रही है। "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (४.३८) यह भगवद्गीता की उक्ति है। *डॉ. सम्पूर्णानन्द जी का कहना है कि यह पवित्र ज्ञान कहीं का भी हो, उसे हमें ग्रहण करना चाहिये। इतना अवश्य करना होगा कि अपने संचित ज्ञान के साथ समरस करके उसे प्रस्तुत कर सकें।*

व्यक्त और अव्यक्त मन की चर्चा पाश्चात्य मनोविज्ञान की अद्भुत देन मानी जाती है, किन्तु हमें स्मरण रखना है कि मानवशास्त्र के आद्य प्रवर्तक मनु की कृति (मनुस्मृति) में भी इस स्थिति का वर्णन मिलता है। मनु का कहना है कि धर्मराज यम तुम्हारे हृदय में विराजमान है। इनसे यदि तुम्हारा कोई विवाद नहीं है, तो फिर गंगास्नान की अथवा कुरुक्षेत्र की यात्रा की कोई आवश्यकता नहीं है—

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः।।

स्पष्ट है कि यहाँ मनुष्य के मन के अन्तर्द्वन्द्व की तथा उसमें सद्वृत्तियों की विजय की चर्चा की गई है। नाग और सुपर्ण को क्रमशः शिव और विष्णु का प्रतीक तो अवश्य माना जा सकता है, किन्तु यक्षों के देवता कुबेर हैं, वरुण नहीं। पिता का पुत्री के साथ तथा माता का पुत्र के साथ अधिक आकर्षण हो, इसकी व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। फिर उसको काम के साथ जोड़ना ऊपर चर्चित काम की आठ अवस्थाओं के समान ही पाश्चात्य दृष्टि का अन्धानुकरण मात्र है। उनके यहाँ काम और अर्थ में ही सारी मानवता पूरी हो जाती है। रति और प्रीति का श्रेय और प्रेय से संबन्ध जोड़ना भी नितान्त अनुचित है। इन दोनों का प्रेय में ही समावेश हो सकेगा। श्रेय के अन्तर्गत तो लोककल्याण और आत्मकल्याण की भावना ही आ सकेगी, जिनका सम्बन्ध धर्म और मोक्ष से है।

स्वप्नाध्याय, योगसूत्र, वाग्भटसंहिता (आयुर्वेद) आदि अनेक ग्रन्थों के प्रमाण से शास्त्री जी ने भारतीय स्वप्नविद्या का अच्छा विश्लेषण किया है। यह विषय पुराणों एवं आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी विविध प्रसंगों में आया है। शास्त्री जी ने दिशा-निर्देश मात्र किया है। इस विषय को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यह भी हमें स्मरण रखना है कि अधिवास दीक्षा के बाद रात्रिशयन में परिदृष्ट स्वप्नों के आधार पर ही शिष्य को किस प्रकार की दीक्षा दी जाय, इसका निर्णय किया जाता है। दिवास्वप्न की शास्त्री जी के द्वारा दी गई व्याख्या अधूरी है। दिन में भी आदमी

सोता है और स्वप्न भी देखता है। इन्हींको दिवास्वप्न कहते हैं। शास्त्रों के अनुसार दिन में देखे गये स्वप्नों का कोई फल नहीं मिलता। यहीं आकर शास्त्रीजी की व्याख्या लागू होती है।

पाश्चात्य विचारक जान-बूझ कर करते हैं या अनजान में, यह कह पाना तो कठिन है, किन्तु वे भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रति आधुनिक प्रज्ञा में विराग पैदा करने और कालातीत तत्त्वों को उजागर करने में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। आधुनिक भारतीय राजनीतिज्ञों और तथाकथित बुद्धिजीवियों की भी प्रायः यही स्थिति है। "समाजशास्त्र" शीर्षक चौथे खण्ड में संगृहीत निबन्धों की इसी पृष्ठभूमि में समीक्षा करनी होगी। युगों की व्यवस्था इसी तरह की एक भारतीय अवधारणा है। कलियुग के वर्णन ने सारी भारतीय प्रजा को जकड़ रखा है। वह सतयुग के आने की अथवा भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठा है। इसके विपरीत नेत्रतन्त्र (१९.२१९) में बताया गया है कि भगवान् के राज्य में कलियुग आदि की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीकी पृष्ठभूमि में हमें काल की नूतन परिभाषा देनी चाहिये। पाश्चात्य विचारक काल पर, सीमित रूप में ही सही, विजय प्राप्त करने में क्यों समर्थ हुए हैं, थोड़ा ठहर कर हमें इस पर विचार करना चाहिये। इसके साथ ही हमें व्यक्ति, समाज और प्रकृति की परिभाषा को भी प्राच्य और पाश्चात्य विचारों की पृष्ठभूमि में नूतन स्वरूप देना होगा। शास्त्री जी ने संस्कृति के भौतिक और आध्यात्मिक विभाग कर बताया है कि भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो ***सभ्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति संस्कृति के और भौतिक उन्नति सभ्यता के नाम से जानी जाती है।*** आर्य-अनार्य, व्रात्य-द्रविड़, वर्ग-वर्ण जैसे शब्दों की अब चर्चा न की जाय, यही उचित होगा। इनकी बढ़-चढ़ कर चर्चा कर हम भारतीय समाज में विग्रह को बढ़ावा दें, इसके सिवाय कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। "समाजसेवा का स्वरूप" (पृ. २२९-२४१) और "भारत में समाजविज्ञान का विकास" (पृ. २४५-२५३) अवश्य पठनीय हैं। "प्राचीन भारत में समाज वैज्ञानिक चिन्तन" (पृ. २४८-२५०) शीर्षक द्वितीय निबन्ध का भाग शास्त्री जी के अध्ययन की विशेष उपलब्धि है, किन्तु यह अध्ययन महाभारत एवं धर्मशास्त्र तक ही सीमित है। आगम-तन्त्रशास्त्र के अवदान का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सुधारवादी आन्दोलनों ने इस शास्त्र की पूरी उपेक्षा कर दी और बौद्ध दर्शन एवं शांकर वेदान्त को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व मिल गया। यहाँ पृ. २५४ पर मुद्रण की असावधानी से २४२ पृष्ठ की सामग्री ही आनुपूर्वी से पुनः छप गई है।

पाँचवें खण्ड में किया गया भारतीय समाज का अध्ययन भी प्रधानतः पाश्चात्य दृष्टिकोण से ही किया गया है। इसमें बुद्ध और महावीर के उपदेशों के साथ ही

आगम, पुराण एवं तन्त्रशास्त्र की पूरी उपेक्षा कर दी गई है। वर्णव्यवस्था संबन्धी विचारों के प्रसंग में आर्यसमाजी दृष्टि को ही वरीयता दी गई है, जो प्रायः २५०० वर्षों के भारतीय अवदानों को नकार देती है। पृ. २७९ पर दक्षिण और वाम जातियों की चर्चा है। ऐसा लगता है कि दक्षिण और उत्तर भारत की जातियों के लिये ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु भारत में वाम और दक्षिण पदों का प्रयोग एक भिन्न ही अर्थ में होता है और आजकल इनके अर्थों में पुनः परिवर्तन हो गया है। हिन्दु शब्द का प्रयोग भी "गतानुगतिको लोकः" वाली कहावत को चरितार्थ करता है।

राजनीति शीर्षक छठे खण्ड में शास्त्री जी ने महाभारत आदि ग्रन्थों के आधार पर भारतीय एवं अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों की दृष्टि से पाश्चात्य राजनीति का अच्छा विश्लेषण किया है। इस संबन्ध में परवर्ती काल के अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार भी प्रस्तुत किये गये हैं। राजनीति के साथ उन्होंने आर्थिक प्रश्नों की भी समीक्षा की है। राजनीतिक समता के सिद्धान्त के साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चर्चा भी यहाँ हुई हैं। इस खण्ड में समाविष्ट "रचना और संघर्ष, भारतीय समाजवादी राजनीति" (पृ. ३२८-३३७) शीर्षक निबन्ध उनकी उत्कृष्ट रचना है। आज की परिस्थिति में इसका विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार उनका "मानव समता" (पृ. ३३८-३४४) शीर्षक निबन्ध भी समता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। व्यक्ति में बौद्धिकता, सौन्दर्यबोध और नैतिकता का विकास होने पर ही समता की प्रतिष्ठा हो सकती है।

इसके साथ ही हम इस पूरे परिच्छेद पर अपनी टिप्पणी भी प्रस्तुत करना चाहते हैं। शास्त्री जी पर तो यह बात कम लागू होती है, किन्तु आज के बुद्धिजीवी प्रतिगामी कहलाने के भय से सही बात भी नहीं कह पाते। बौद्ध धर्म में भी अन्य धर्मों के सारे गुण-दोष विद्यमान हैं, किन्तु ऐसे विचारक उनकी तरफ से आँखे मूँद कर बौद्ध धर्म और कम्युनिज्म को ही सारे दुःख-दर्दों की दवा बताने में संकोच नहीं करते। 'सेक्युलर स्टेट' के अनुवाद 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' के विषय में हम बहुत-कुछ लिख चुके हैं। यहाँ उसको दुहराने की आवश्यकता नहीं है। इस्लाम के आगमन से पूर्व यहाँ के सभी सम्प्रदायों ने मिल-बैठकर इनका समाधान खोज लिया था। उसी पद्धति से नवागत सम्प्रदायों के साथ भी कोई व्यवस्था बनाई जा सकती है। नियोजित धर्मपरिवर्तन इसकी सबसे बड़ी बाधा है। इसके रुकने पर सभी मतों में अनायास सौहार्द स्थापित हो सकता है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि भारत में भी इंग्लैंड और अमेरिका की तरह दो या तीन राजनीतिक पार्टियां रह जाँय और अगड़ा-पिछड़ा आदि के झगड़ों को बन्द किया जाय। भारतीय संस्कृति ने ब्राह्मणवाद और मनुवाद को कभी का छोड़ दिया है और आगम-तन्त्रशास्त्र एवं सन्त परम्परा ने

इसको अस्वीकार कर चरित्र को वरीयता दी है। आज उसीकी आवश्यकता है। इसके लिये राजनीति में धन और समाज में भी भुजबल और विद्याबल की अपेक्षा चरित्र को मान्यता मिलनी चाहिये। सम्पत्ति की लिप्सा और प्रसिद्धि की आकांक्षा (लोकैषणा) जैसे विषयों पर भी भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाय, यह अपेक्षित है। आज तो गांधी और विनोबा भी उपेक्षित हो चुके हैं। पुण्य और पाप शब्दों के स्थान पर भी यदि हम अच्छा और बुरा शब्दों का प्रयोग करें, तो यह आज के समाज के लिये अधिक उपयोगी होंगे। इसी प्रकार समता की स्थापना में सांख्यदर्शन अथवा अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा तन्त्रागमीय दर्शन और सन्तों एवं गुरुओं की वाणियाँ अधिक उपयोगी हो सकती हैं। ऐसा होने पर ही सामाजिक व्यवस्था के लिये राजनीति का प्रायः लोप (पृ. ३३२) संभव हो सकेगा, जो महात्मा गांधी का भी राजनीतिक लक्ष्य रहा है।

इस ग्रन्थ के सातवें खण्ड में राष्ट्रिय प्रश्नों पर विचार किया गया है। राष्ट्रीयता और संस्कृति, सहयोग और समानता, राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता जैसे विषयों पर यहाँ अच्छा प्रकाश डाला गया है। धर्म और संस्कृति के भेद को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी *'हिन्दु' शब्द के स्थान पर 'भारतीय' शब्द के प्रयोग की वकालत करते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि हिन्दु-धर्म जैसी कोई चीज नहीं है और संस्कृति ही राष्ट्रीयता का आधार हो सकती है। (पृ. ३४७)।* शास्त्री जी की यह अवधारणा एकदम सही है, किन्तु इसमें उनको यह आशंका होने लगती है कि इसका अभिप्रायः यह न निकाला जाय कि भारत का अपना कोई धर्म नहीं है। शास्त्री जी ने यहाँ धर्म शब्द की सन्तुलित व्याख्या की है। संस्कृति शब्द की व्याख्या के प्रसंग में यहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारों को भी प्रस्तुत किया गया है। हमें इस प्रसंग में यह स्मरण रखना है कि भारत वैदिक से लेकर सिक्ख धर्म पर्यन्त नाना धर्मों और पन्थों की उर्वरा भूमि रही है और *हिन्दु-धर्म एक आरोपित शब्द है, जो यहाँ के सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व नहीं करता।*

वर्तमान समय में भारतीय संस्कृति का स्वरूप कैसा होना चाहिये, इसके निर्धारण में आचार्य जी के विचार सर्वाधिक सहायक हो सकते हैं। इसके लिये हमें उनके ग्रन्थ "साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति" का सचेत अध्ययन करना होगा। आचार्य जी ने इस प्रसंग में सन्तों की भी चर्चा की है और हमें यह याद रखना होगा कि सन्त साहित्य की पृष्ठभूमि में आगम-तन्त्रशास्त्र का विशाल साहित्य-सागर हिलोरे ले रहा था। महात्मा गांधी इसी परम्परा की कड़ी थे। *इस प्रसंग में गांधीजी की समालोचना करने का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि पहले अंग्रेजों की कुटिलता और बाद में गांधी जी के ही अनुयायियों के दिग्भ्रम के कारण उनके सभी विचारों को मूर्त रूप लेने से वंचित कर दिया गया।*

जाति-व्यवस्था और आरक्षण के प्रश्न पर शास्त्री जी ने उपादेय टिप्पणी की है कि जन्मगत आधार पर सुविधाएँ देने से जातिगत वैमनस्य घटने के बजाय और बढ़ेगा। इसलिये जाति का जो वास्तविक आधार है, उसीको आरक्षण का आधार मानना चाहिये। जो लोग परम्परा से चले आ रहे पेशों को छोड़ चुके हैं, उनके लिये विशेष सुविधाओं का कोई अर्थ नहीं होता। .... इस प्रकार शुद्ध सामाजिक न्याय स्थापित होगा और विभिन्न वर्गों और जातियों का द्वेष समाप्त होगा (पृ. ३५६)। ***आरक्षण की त्रुटियों की चर्चा शास्त्री जी ने आगे (पृ. ३६८-३७१) में भी की है। राजनीतिज्ञों और प्रबुद्ध जनों को इस विषय पर थोड़ा ठहर कर विचार करना चाहिये।*** नई आरक्षण व्यवस्था ने आत्मदाह की एक घृणित परम्परा को जन्म दिया है और इस घिनौनी प्रवृत्ति का सर्वत्र प्रसार हो रहा है। ***आत्मदाह के विरोध में कहीं से भी आवाज नहीं उठ रही है।***

शिक्षा के पाठ्यक्रम के संबन्ध में उन्होंने धर्मनिरपेक्षता की समालोचना की है। यह उचित ही है। वस्तुतः देखा जाय तो इस शब्द ने सारे भारतीय चिन्तन पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है। हम लिख चुके है कि भारत में पुरुषार्थ-चतुष्टय में समाविष्ट धर्म नैतिकता का पर्यायवाची शब्द है। ऐसी स्थिति में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ होगा नैतिकताविहीन। आज इसी शब्द के कारण पूरा देश नैतिकताविहीन होता जा रहा है। शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह गया है। धर्मनिरपेक्षता और नैतिकता एक साथ रह नहीं सकते। ***शास्त्री जी ने धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सभी धर्मों के प्रति संमान की भावना किया है (पृ. ३७२)। भारत में यह दृष्टि बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी।*** यह हमारा दुर्भाग्य है कि बाह्य दुष्प्रचार से अभिभूत होकर हम खोखले होते चले जा रहे हैं। पंचतन्त्र की कथा के अनुसार हम बछड़े को मेमना समझने की भूल कर रहे हैं।

वर्णव्यवस्था के संबन्ध में शास्त्री जी का कहना है कि पुराने शब्दों का व्यवहार करने में उनमें निहित वैषम्य लोकचित्त में बना ही रहता है और उसके अनुसार लोक-व्यवहार में ऊँच-नीच की भावना आ जाती है। इसलिये इन पुराने शब्दों को छोड़ देना ही उपयुक्त होगा (पृ. ३६५)। शास्त्री जी का यह कथन ठीक तो है, किन्तु क्या ऐसा हो पावेगा? जब तक यह नहीं होता, तब तक हमें इस व्यवस्था में निहित विषम-दृष्टि को कम करने का प्रयत्न करना चाहिये। आगम-तन्त्रशास्त्र ने यह किया भी है। उसी पद्धति से इसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। पाश्चात्य विचारों के आधार पर आगे बढ़ने से तो कलह को ही बढ़ावा मिलेगा, जैसा कि आजकल हो रहा है। यह तो संस्कृतियों में ही संभव है। अतः धर्मों को स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये और सनातन धर्म के रूप में भारत में जैसे समस्त धर्मों का समन्वय हुआ, उसी

पद्धति का अनुसरण कर एक अखण्ड भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्धारित किया जाना चाहिये। आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि भारतीय संस्कृति को यदि कोई एक नाम देना है, तो वह सनातन धर्म होगा। अतः शास्त्री जी का यह कहना तो सही है कि अब उचित समय आ गया है, जब हमारे बुद्धिजीवी संमिलित होकर धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या करें, जिससे संस्कृति को धर्म से अलग किया जा सके (पृ. ३७३), किन्तु ***संस्कृति को धर्म से सर्वथा अलग कर देना ही संभव नहीं है।*** धार्मिक और राजनैतिक नेताओं के अधिकारों का परिसीमन हो (पृ. ३७३), वह तो जरूरी है, किन्तु हम सेक्युलर स्टेट के प्रति ही संविधान के द्वारा वचनबद्ध हैं, धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र के प्रति नहीं। ऊपर के शब्द का यह अनुवाद हमारी मूढ़ता को ही उजागर करता है।

इस ग्रन्थ के गुणानुस्मरण नामक आठवें खण्ड में महात्मा गांधी, भारतरत्न डॉ. भगवान् दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसी विभूतियों के गुणों का अनुस्मरण किया गया है। इनमें से आचार्य नरेन्द्रदेव जी के प्रति हमारा कुछ विशेष लगाव रहा है। आचार्य जी बौद्ध धर्म अथवा किसी अन्य धर्म के अनुयायी नहीं थे (पृ. ३८६), शास्त्री जी के इस कथन से हम पूरी तरह से सहमत हैं। इस विषय में हमारी प्रो. मुकुटबिहारीलाल जी से बातचीत हुई थी। उन्होंने भी यही कहा था कि वे बौद्ध धर्म और दर्शन से प्रभावित थे, किन्तु उसके प्रति उनकी अन्धश्रद्धा नहीं थी। वस्तुतः वे किसी धर्म को नहीं, भारतीय संस्कृति को समर्पित थे। बौद्ध एवं शांकर मत की जकड़न (मिथ्यावाद) से भारतीय विचारक अब भी मुक्त नहीं हो पाये हैं, जब कि योगी अरविन्द और महामनीषी पं. गोपीनाथ कविराज जी के प्रत्यभिज्ञादर्शन संबन्धी विचार बहुत पहले प्रस्तुत हो चुके हैं। शास्त्री जी ने आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रसंग में पं. गोपीनाथ कविराज जी की चर्चा छोड़ ही दी, जब कि इनके ग्रन्थ 'बौद्ध धर्म-दर्शन' पर उन्होंने विस्तृत भूमिका लिखी थी। आचार्य जी ने मार्क्स के सिद्धान्तों की भी भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में व्याख्या की थी। *यह दुःख का विषय है **कि समाजवादी आन्दोलन उनके विचारों का उसी तरह से अनुसरण नहीं कर सका, जैसे कि कांग्रेसियों ने गांधी जी के विचारों की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी।***

ग्रन्थ के अन्तिम भाग में शास्त्री जी की विविध विषयों पर की गई टिप्पणियाँ एवं समीक्षाएँ संकलित की गई हैं। इनका अपना महत्त्व है। हिन्दी भाषा, देवनागरी लिपि, देशी और विदेशी एवं प्राचीन तमिल भाषा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद, भारतीय चिकित्साशास्त्र, वाम पन्थ, वामाचार, दक्षिण और वाम आदि विषयों पर यहाँ शास्त्री जी ने अपने विचार खुलकर प्रस्तुत किये हैं। इनसे हम पूरी तरह से सहमंत न हों, वह दूसरी बात है। ***हमें यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि भारतीय संस्कृति कभी***

मूढ़ाग्रह से कुंठित नहीं हुई है। उसने उचित परिवर्तनों का सदा स्वागत किया है। इसके लिये आचार्य नरेन्द्रदेव का सुझाया 'सनातन धर्म' शब्द उचित पर्याय है, क्योंकि यह सदा से मानव मन की उन्नति के प्रदर्शक विचारों को शिरोधार्य मानता आ रहा है।

भारतीय संस्कृति संबन्धी विविध पक्षों को प्रस्तुत कर (पृ. ४६०-४६२) शास्त्री जी ने श्री क. मा. मुंशी, लोकनायक जयप्रकाश नारायण आदि के विचारों को भी संकलित किया है। धर्मनिरपेक्षता एवं नैतिकता पर भी पुनः इन्होंने अपना मन्तव्य जताया है। यहाँ स्पष्ट रूप से हमें समझ लेना चाहिये कि केवल *कला ही संस्कृति नहीं है। हमें पं. जवाहरलाल नेहरू के संस्कृति संबन्धी विचारों में बहुत-कुछ संशोधन कर आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारों को ग्रहण करना होगा। इसके अभाव में हम पत्रकारों, वर्तमान प्रशासकों और प्रचार-माध्यमों पर पड़े अपसंस्कृति के प्रभाव को दूर नहीं कर सकते।*

निरन्तरता और परिवर्तन— इन्हीं दो शब्दों में हम धर्म और संस्कृति की व्याख्या कर सकते हैं। इनमें निरन्तरता *धर्म का और परिवर्तन संस्कृति का अंग है। धर्म अपने तक सीमित रहता है और संस्कृति परस्परविरोधी विचारों में भी समन्वय का रास्ता खोजती है।* चार पुरुषार्थों में परिगणित धर्म नैतिकता का पर्याय है। इसके बिना मानव सुख-शान्ति से जी नहीं सकता। इस स्थिति में हमें 'सेक्युलर' शब्द का नया अनुवाद खोजना होगा। *सभी मजहबों में भी इतनी सहिष्णुता आनी ही चाहिये, जितनी सनातन धर्म में है।* इसने "त्रयो वेदस्य कर्तारः" जैसे चार्वाक-वाक्यों को दर्शन-ग्रन्थों में सुरक्षित रखा है और "द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः" जैसे वर्णज्येष्ठताविरोधी आगम-वचनों को मान्यता दी है। इस स्थिति में हम नैतिकता को धर्म से अलग नहीं कर सकते। *सम्प्रदाय और परम्परा जैसे शब्द यहाँ आकर अपनी संकीर्णता छोड़ देते हैं और व्यक्ति अपने 'अहं' के घेरे से भी ऊपर उठ जाता है। वह लोकैषणा (प्रसिद्धि की कामना) से भी मुक्त हो निःस्वार्थ भाव से समाज के कल्याण में प्रवृत्त हो उठता है। क्या आज का धर्मनिरपेक्ष राजनीतिज्ञ इस ओर अपने डग भर सकता है?*

रामानन्द प्रकाश (त्रैमासिक पत्रिका)

श्रीमठ, ज. गु. रामानन्दाचार्य पीठ, पंचगंगा (काशी), वाराणसी से प्रकाशित हो रही "रामानन्द प्रकाश" नाम की त्रैमासिक पत्रिका के प्रथम वर्ष का तृतीय अंक हमारे सामने है। यह अंक भक्त और भक्ति को समर्पित है। तदनुरूप प्रस्तुत अंक में भक्ति और भक्त, श्री रामभक्त हनुमान्, सन्त नामदेव, स्वामी रामानन्द, सन्त कबीर, सन्त दरियासाहब और परमोदार सन्त परम्परा पर अपने अपने क्षेत्र के नामांकित विद्वानों के विचार-गंभीर और प्रामाणिक लेख प्रस्तुत हुए हैं। पीठ की परम्परा के अनुरूप स्वामी रामानन्द और उनकी विचार-परम्परा के ऊपर यहाँ चार निबन्ध समाविष्ट हैं। भारतीय संस्कृति से संबद्ध निबन्ध भी यहाँ है और अन्त में श्रीमठ और उसके संस्थापक आचार्यश्री की निश्चित काल-खण्ड में संपन्न हुई आध्यात्मिक एवं सामाजिक गति-विधियों का संक्षिप्त लेखा-जोखा दिया गया है।

यहाँ के सभी निबन्ध अपने में परिपूर्ण हैं। इनमें से किन्हीं एक-दो का मूल्यांकन कर हम अन्य निबन्धों का महत्त्व कम करना नहीं चाहते। इनके अतिरिक्त यहाँ स्थान-स्थान पर संस्कृत सुभाषितों का तथा सन्तों एवं भक्तों की सूक्तियाँ का भी अच्छा संकलन किया गया है।

हमें ज्ञात है कि आचार्य रामानुज के शिष्य कूरेश की उदारवादी परम्परा में स्वामी रामानन्द अवतरित हुए थे। रामानुज सम्प्रदाय आगे चल कर बड़कलै और टैंगलै संप्रदायों में बट गया तथा वेदान्तदेशिक एवं लोकाचार्य इनके प्रतिनिधि आचार्य माने गये। स्वामी रामानन्द का आविर्भाव लोकाचार्य की परम्परा में हुआ और आगे चल कर उक्त उभयविध आचार्यों में अठारह विषयों में मतभेद उभड़ कर सामने आये। अपने महनीय, अथ च सारगर्भ ग्रन्थ वैष्णवमताब्जभास्कर में स्वामी रामानन्द ने इन पर प्रकाश डाला है। बाद में इन विषयों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ रचित हुए और उनमें से कुछ अब प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन उदारवादी वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के साथ पांचरात्र संहिताओं और तमिलभाषा में रचित आलवार साहित्य को भी समान रूप से प्रमाण माना है। इस पूरे वाङ्मय की उपेक्षा कर हम रामानन्द संप्रदाय के साहित्य का सही आकलन नहीं कर सकते। कर्मकाण्ड का, तन्त्रागमीय उपादानों के अनावश्यक विस्तार का आक्षेप इसी उपेक्षा की परिणति है।

प्रस्तुत अंक में स्थान-स्थान पर भारतीय संस्कृति की चर्चा की गई है। इस पर एक स्वतन्त्र निबन्ध भी है। इस बहुधर्मी और बहुआयामी देश के लिये आज 'संस्कृति' एक अति उपादेय शब्द है। यह अथर्ववेद और शुक्ल यजुर्वेद में भी प्रयुक्त हुआ है। अतः इस पर पाश्चात्य प्रभाव को देखना निरर्थक है। इतना हमें अवश्य मानना पड़ेगा

कि वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप की अवधारणा अभी हमें करनी है। वैयाकरणों ने "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" की एक सही कल्पना हमारे सामने रखी है। इस सिद्धान्त को मान्यता देने पर भी पाणिनि का महत्त्व रंचमात्र भी घटा नहीं है। आज हमें समस्त भारतीय वाङ्मय के उदात्त तत्त्वों की पृष्ठभूमि में इस ओर बढ़ने की आवश्यकता है। इस प्रसंग में स्वामी रामानन्द के विचार हमारे पथप्रदर्शक हो सकते हैं।

गाँधी जी का ग्राम-स्वराज[1]

विज्ञानभैरव के प्रथम संस्करण के उपोद्घात में हमने लिखा था— "गांधीवादी दर्शन अथवा समाजवादी दर्शन में किसी योगविधि को नहीं अपनाया गया है। इसीलिये आज वे दिग्भ्रान्त हैं। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) योगविधि के आवश्यक अंग हैं। नये-नये भूदान जैसे कर्मकाण्डों की सृष्टि करने से यह कार्य पूरा नहीं होगा। आज मानवजाति, विशेष कर भारतीय जनता तन और मन से बीमार है। योगशास्त्र से ही ये बीमारियाँ दूर हो सकती हैं। यह तब होगा, जब योगशास्त्र के सही स्वरूप का चुनाव किया जाय। तभी व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक दृष्टि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो सकती है। हमारे मत से योगवाशिष्ठ और विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थ इस कमी को पूरी ईमानदारी से पूरा कर सकते हैं" (पृ. ४४)।

एक गांधीवादी विचारक ने इस वक्तव्य की समालोचना करते हुए लिखा था कि गांधीवादी दर्शन दिग्भ्रान्त नहीं है, देशवासी दिग्भ्रान्त हैं और इसके अनेक कारण हैं। वे अनेक कारण कौन-कौन से हैं? इसका तो उन्होंने स्पष्टीकरण नहीं किया, किन्तु हमने इसी ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के वक्तव्य में इतना अवश्य लिखा था— "कौन दिग्भ्रान्त है, इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ा जा रहा है" (पृ. ४६)। इस ग्रन्थ का पहला संस्करण सन् १९७७ में तथा दूसरा सन् १९८३ में निकला था।

---

१. केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी में सन् १९९८ में महात्मा गांधी के ग्राम-स्वराज पर सम्पन्न हुए अखिल भारतीय परिसंवाद में पठित निबन्धों के "गांधी के ग्राम-स्वराज सिद्धान्त की प्रत्यवेक्षा" शीर्षक से प्रकाशित संग्रह-ग्रन्थ की स्थूल समीक्षा।

इसी पृष्ठभूमि में हम महात्मा गांधी के ग्राम्य-स्वराज की प्रत्यवेक्षा करना चाहते हैं। वर्तमान परिस्थिति में इसका कोई भविष्य नहीं है। पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से अभिभूत इस देश के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने उसे बहुत गहरा दफना दिया है। *जब तक यह देश पं. नेहरु* और उसके बाद स्व. फिरोज गांधी के नाम से चले ***गांधी परिवार के चंगुल से अपने को मुक्त नहीं करेगा, ग्राम-स्वराज की कल्पना मृग-मरीचिका मात्र रहेगी।*** स्व. फिरोज गांधी भद्र पुरुष थे, किन्तु आजकल की ***नेहरू-गांधी परम्परा छलावा मात्र है।*** यह भ्रम फैल रहा है कि इस परिवार का संबन्ध महात्मा गांधी से है और इस तरह से यह नेहरू-गांधी परिवार ही एकमात्र इस देश का उद्धार कर सकता है।

हम आज इतने निस्तेज हो चुके हैं कि महात्मा गांधी के नमक-सत्याग्रह को भूल बैठे हैं और उनके प्रिय भजन "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे" के अपमान को चुपचाप सहन कर चुके हैं। गुजराती भाषा में लिखे गये इस भजन का अर्थ जब काशी के एक प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् को सुनाया गया, तो उनकी प्रतिक्रिया थी कि उपनिषद् वाङ्मय का और भारतीय संस्कृति का सार इसमें भर दिया गया है। आज इसके प्रारंभ में 'वैष्णव जन' का नाम देख-सुन कर प्रगतिशील सेक्युलर पूर्व-रेलमन्त्री ने इसका गान बन्द करवा दिया। हमारी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। इसीलिये हमने कहीं लिखा है कि महात्मा गांधी के भौतिक देह की हत्या तो एक अतिवादी ने की, किन्तु उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत उन्हींके अनुयायियों के कारण सूख गया।

नेहरू-इन्दिरा-राजीव की असांस्कृतिक परम्परा से जब तक हम छुटकारा नहीं पावेंगे और महात्मा गांधी की सन्त विनोबा भावे, सरदार पटेल और जयप्रकाश नारायण की परम्परा से नहीं जुड़ेंगे, तब तक इस देश में ग्राम-स्वराज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। हाँ, कुछ गिने-चुने भद्रपुरुषों के कारण इसको प्राणवायु देने का प्रयत्न अवश्य किया जा रहा है, किन्तु इनमें से भी कुछ हमें यह समझाने की कोशिश में लगे हैं कि अंग्रेजी 'सेक्युलर' शब्द के स्थान पर ही आज 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इस भोड़े अनुवाद के विषय में हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि हम भारतीयों ने चार पुरुषार्थों की कल्पना की है और बताया गया है कि धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज हम देखते हैं कि इस धर्मनिरपेक्ष भारत को अर्थ और काम ने पूरी तरह से जकड़ लिया है। अंग्रेजी भाषा के सैकड़ों शब्दों का प्रयोग प्रचलन में आ चुका है। हम धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक अनुवाद के स्थान पर मूल 'सेक्युलर' शब्द का ही प्रयोग क्यों न करें।

ग्राम-स्वराज का मूल आधार बड़े उद्योगों को बन्द कर उनके स्थान पर कुटीर उद्योगों की स्थापना हो सकता है। सभी बड़े उद्योगों को बन्द नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना तो हम कर ही सकते हैं कि कुछ क्षेत्रों को कुटीर उद्योगों के लिये छोड़ दें। आज तो महात्मा गांधी की शिक्षा एवं कुटीर उद्योग की समर्थक पार्टियाँ भी खान-पान के क्षेत्र में भी बाहरी पूँजी को बुलाने के लिये आतुर हैं। कुटीर उद्योग तेजी से विनाश की ओर बढ़ रहे हैं। लगता है, ***इससे छुटकारा तब मिलेगा, जब तेल और कोयला जैसे ऊर्जा के स्रोत सूख जायेंगे।*** तब तक कुटीर उद्योग सुरक्षित रह सकेंगे, इसकी क्या गारंटी है? अनेक कुटीर उद्योग काल के गाल में समा चुके हैं। विगत सौ वर्षों में लुप्त तथा नष्ट होते जा रहे इन उद्योगों को सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से तेजी से जुड़ रही सरकारें क्या इस कार्य को कर सकेंगी? आज तो अधिकांश गांधीवादी संस्थाएं भी सरकार की सहायता से चल रही हैं। क्या वे इस कार्य को कर सकती हैं?

इसके लिये तो हमें महात्मा गांधी के आत्मविश्वास को अपने में जगाना होगा। किसी समय भारतवर्ष में अपने ढंग का गणतन्त्र प्रचलित था। वहाँ सर्वसंमति से निर्णय होते थे, बहुमत के आधार पर नहीं। गणतन्त्र किस तरह से समाप्त हो जाते हैं, इस विषय का एक श्लोक प्रचलित है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्व्यक्तमवसीदति।।

इसका भाव यह है कि जहाँ ढेर सारे नेता हो जाते हैं, ये सब एक दूसरे से बढ़कर अपने को बुद्धिमान् मानने लगते हैं और ये सभी महत्त्व के पद चाहने लगते हैं, तो ऐसा गणतन्त्र अवश्य ही नष्ट हो जाता है। ***आज भारतीय जनतन्त्र की भी तो यही स्थिति है।*** बहुमत के आधार पर निर्णय होता है और इस बहुमत को पाने के लिये नाना प्रकार के छल-प्रपंच करने पड़ते हैं। चुनाव के बाद बाहरी देशों में दिखाई पड़ने वाले आपस के सद्भाव के स्थान पर यहाँ शत्रुभाव बढ़ जाता है और इससे ग्राम-सभाएँ भी अछूती नहीं हैं। क्या इस वातावरण में ग्राम-स्वराज की कल्पना की जा सकती है?

विशिष्ट विषयानुक्रमणी

राष्ट्रियपण्डित (राष्ट्रपति-पुरस्कृत) श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी के द्वारा

संपादित (स), अनूदित (अ) एवं रचित (र) ग्रन्थ

देश एवं विदेश के विद्वानों की संमतियाँ
एवं
प्राप्त पुरस्कार

(स) प्राचीनं निर्णयपत्रम्— (धर्मशास्त्र) लखनऊ के रेजीडेंट के द्वारा प्रेषित वादपत्र का ई.इ. कम्पनी द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशाला के विद्वानों का समाधान, सारस्वती सुषमा, व. ६, अ. ३-४; तन्त्रयात्रा में पुनः मुद्रित ।

(स) पथिकजनपातकचिन्तनस्मृति—(यात्रावर्णन) महेश भट्ट विरचित। नादिरशाह के कत्लेआम का आँखों देखा विवरण भी। सा. सु., व. ७, अ.२; तन्त्रयात्रा में पुनः मुद्रित ।

(स) प्रत्यङ्गिरासूक्त— पिप्पलाद शाखीय, वासुदेवद्विवेदविरचित व्याख्यान सहित। सा. सु., व ७, अ. ३-४.

(स) काण्वसंहिताभाष्यसंग्रह—आनन्दबोध भट्टोपाध्याय विरचित। ३१-४० अध्याय । सा. सु., व. ७, अ.२ से व. ९, अ. २ पर्यन्त ।

(स) भारोत्थापनयन्त्रनिर्माणविधि—(शिल्पशास्त्र) देवीसिंह महापति विरचित। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित प्राक्कथन । सा. सु., व. १२ अ. २; तन्त्रयात्रा में पुनः मुद्रित ।

(स) गैरिकसूत्र— (कला) गंगाराम जड़ी विरचित। पं. रघुनाथ शर्मा द्वारा विरचित विवरण सहित। सा. सु., व. १२, अ. ३-४; तन्त्रयात्रा में पुनः मुद्रित ।

(स) नित्याषोडशिकार्णव—(त्रिपुरा तन्त्र) शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनी और विद्यानन्द की अर्थरत्नावली नामक टीकाओं के साथ । यहाँ परिशिष्ट भाग में दीपकनाथ सिद्ध कृत त्रिपुरसुन्दरीदण्डक का, शिवानन्द कृत सुभगोदय, सुभगोदयवासना और सौभाग्यहृदयस्तोत्र का तथा अमृतानन्द कृत सौभाग्यसुधोदय एवं चिद्विलासस्तव का भी प्रकाशन हुआ है। १२० पृष्ठ के संस्कृत उपोद्घात एवं टिप्पणी आदि के साथ इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की योगतन्त्र-ग्रन्थमाला में हुआ है । इसको उत्तरप्रदेश प्रशासन का कालिदास पुरस्कार प्राप्त हुआ है। १९६७ ई. में प्रथम तथा सन् १९८४ द्वितीय संस्करण ।

(स) महार्थमंजरी—(शाक्त क्रमतन्त्र) महेश्वरानन्द कृत स्वोपज्ञ व्याख्या के साथ, संस्कृत उपोद्घात एवं परिशिष्टों से संयुक्त। सं. सं. वि. वि., वाराणसी, १९७२ में प्रथम तथा १९९२ ई. द्वितीय संस्करण ।

(स) शक्तिसंगमतन्त्र, चतुर्थ खण्ड— (शाक्त तन्त्र)। विस्तृत संस्कृत उपोद्घात तथा परिशिष्ट आदि से संयुक्त, गायकवाड़ शोध संस्थान, बड़ोदरा (गुजरात) से सन् १९७८ में प्रकाशित ।

(अ) विज्ञानभैरव— (काश्मीर का योगशास्त्र) । अन्वयार्था नामक संस्कृत टीका तथा रहस्यार्था नामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या से संयुक्त। विस्तृत हिन्दी उपोद्घात तथा परिशिष्ट के साथ। मोतीलाल बनारसी दास, प्रथम संस्करण, सन् १९७८, द्वितीय १९८४ ई.। उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ द्वारा पुरस्कृत ।

(अ) वेदार्थपारिजात—(शुक्ल यजुर्वेद) अनन्तश्री स्वामी करपात्री जी महाराज विरचित भाष्यभूमिका का हिन्दी अनुवाद ।१९७९-१९८० ई. ।

(स) तन्त्रसंग्रह, चतुर्थ भाग—सर्वविजयी-गुप्तसाधन-माया-षडाम्नाय-गायत्री-चीनाचार-भूतिशुद्धि नामक छः तन्त्र-ग्रन्थों का संग्राहक। सं. सं. वि. वि. की योगतन्त्र-ग्रन्थमाला में सन् १९८१ में प्रकाशित।

(स) सात्वतसंहिता— (पांचरात्र वैष्णवागम) अलशिंग भट्ट विरचित भाष्य तथा विस्तृत संस्कृत उपोद्घात के साथ सं. सं. वि. वि. ग्रन्थमाला में प्रकाशित ।प्रथम संस्करण १९८२ ई., द्वितीय २००१.

(स) तन्त्रयात्रा—तन्त्रागम दर्शन, संस्कृति-साहित्य, विचारविप्रुषः(बिन्दु) और यात्रावर्णन से संबद्ध ७६ संस्कृत निबन्धों का संग्रह। उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से प्रकाशित, सन् १९८२ ई. ।

(अ) आगममीमांसा—वैष्णब, शैव और शाक्त आगमों का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण। दिल्ली स्थित लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) से सन् १९८२ में प्रकाशित ।

(र) लुप्तागमसंग्रह—(द्वितीय भाग) विविध ग्रन्थों में उद्धृत अनुपलब्ध आगम-तन्त्रशास्त्र के वचनों का संग्रह । लगभग ४०० ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि के परिचायक २२० पृ. के संस्कृत उपोद्घात के साथ। सं. सं. वि. वि. की योगतन्त्र ग्रन्थमाला में सन् १९८३ में प्रकाशित । उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृत ।

(र) आगम और तन्त्रशास्त्र—तन्त्रागम दर्शन और संस्कृति संबन्धी २६ हिन्दी निबन्धों का संग्रह। परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८४.

(स) नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक)— क्षेमराज कृत उद्योत व्याख्या के साथ। विस्तृत हिन्दी उपोद्घात। परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, सन् १९८५.

(स) वेदान्तसूत्र श्रीकण्ठभाष्य (चतुःसूत्री भाग)— अप्पय दीक्षित विरचित शिवार्कमणिदीपिका नामक व्याख्या के साथ। शिवधर्म ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से सन् १९८६ में प्रकाशित।

(स) गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह— (बौद्ध तन्त्र)। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी से सन् १९८७ में विस्तृत हिन्दी उपोद्घात के साथ प्रकाशित। यहाँ पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि, अनन्तवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि, इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि, लक्ष्मींकरा की अद्वयसिद्धि, योगिनी चिन्ता की व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि, डोम्बी हेरुक की सहजसिद्धि, कुद्दालपाद का अचिन्त्याद्वयक्रमोपदेश और पद्मवज्र (द्वितीय) की अद्वयविवरणप्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि नामक आठ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है।

(स) लिङ्गधारणचन्द्रिका—(वीरशैव) नन्दिकेश्वर शिवाचार्य विरचित। शरद् नामक संस्कृत व्याख्या तथा भाषानुवाद के साथ शिवधर्म ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से सन् १९८८ में प्रकाशित।

(अ) योगिनीहृदय—अमृतानन्द योगी विरचित संस्कृत व्याख्या तथा भाषानुवाद से संवलित। परिशिष्ट भाग में आदिनाथ विरचित परापंचाशिका समाविष्ट। मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९८८.

(स) ज्ञानोदयतन्त्र—(बौद्ध तन्त्र), दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ सन् १९८८.

(स) अष्टप्रकरण—(सिद्धान्त शैव)। सं. सं. वि. वि. वाराणसी, सन् १९८८. यहाँ सद्योज्योति शिवाचार्य विरचित तत्त्वत्रयनिर्णय, तत्त्वसंग्रह, भोगकारिका, मोक्षकारिका और परमोक्षनिरासकारिका नामक पाँच ग्रन्थों का, भट्ट रामकण्ठ और अघोरशिव की व्याख्या के साथ; श्रीकण्ठ सूरि कृत रत्नत्रय और भट्ट रामकण्ठ कृत नादकारिका का अघोरशिव

कृत व्याख्या के साथ तथा भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश का दो टीकाओं के साथ प्रकाशन हुआ है।

(र) बौद्ध तन्त्र कोश–(प्रथम भाग) दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ सन् १९९०.

(र) लुप्त बौद्ध वचन संग्रह–(प्रथम भाग) दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ, सन् १९९०.

(स) वसन्ततिलक–(बौद्ध तन्त्र) कृष्णपादविरचित। रहस्यदीपिका नामक व्याख्या के साथ दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, सारनाथ से सन् १९९० में प्रकाशित।

(स) डाकिनीजालसंवररहस्य–(बौद्ध तन्त्र) अनंगयोगी विरचित। दु. बौ. ग्र. शोध योजना, सारनाथ सन् १९९०.

(स) सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान–(कार्यशाला विवरण)। दु. बौ. ग्र. शोधयोजना, सारनाथ, सन् १९९०.

(स) कृष्णयमारितन्त्र–(बौद्ध तन्त्र)। कुमारचन्द्र प्रणीत रत्नावली पंजिका नामक व्याख्या के साथ दु. बौ. ग्र. शोधयोजना, सारनाथ से सन् १९९२ में प्रकाशित।

(स) महामायातन्त्र–(बौद्ध तन्त्र),। रत्नाकरशान्ति प्रणीत गुणवती नामक टीका के साथ दु. बौ. ग्र. शोधयोजना, सारनाथ से सन् १९९२ में प्रकाशित।

(स) अभिसमयमंजरी–(बौद्ध तन्त्र) शुभाकर गुप्त विरचित। दु. बौ. ग्र. शोधयोजना, सारनाथ, सन् १९९३.

(स) कालचक्रतन्त्र–(बौद्ध तन्त्र), पुण्डरीक विरचित विमलप्रभा नामक टीका सहित। दु.बौ.ग्र. शोधयोजना, सारनाथ द्वितीय भाग, सन् १९९४; तृतीय भाग, सन् १९९५.

(स) शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता–अनन्तश्री स्वामी करपात्री महाराज द्वारा विरचित वेदार्थपारिजात नामक भाष्य से संवलित। श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन द्वारा प्रकाशित। द्वितीय-तृतीय अध्याय संवत् २०४६; चतुर्थ-पंचम-षष्ठ अध्याय संवत् २०४९; सप्तम से दशम अध्याय पर्यन्त, सं. २०४९; एकादश से पंचदश अध्याय पर्यन्त, सं. २०४८, षोडश से विंशति अध्याय पर्यन्त, सं. २०४८ एवं २१ से ३९ वें अध्याय

पर्यन्त, संवत् २०४८; ये सभी भाग हिन्दी भाषा में लिखित भाष्यनिष्कर्ष से संवलित हैं ।

(र) निगमागम संस्कृति—निगमागम दर्शन, साहित्येतिहास और यात्राविषयक ३७ हिन्दी निबन्धों का संग्रह। शिवधर्म ग्रन्थमाला, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी सन् १९९२.

(अ) चन्द्रज्ञानागम—(वीरशैव) क्रिया एवं चर्यापाद, भाषानुवाद, टिप्पणी, प्रस्तावना। शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४.

(अ) सूक्ष्मागम—(वीरशैव) क्रियापाद, भाषानुवाद, टिप्पणी, प्रस्तावना। शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४.

(अ) मकुटागम—(वीरशैव) क्रिया एवं चर्यापाद, भाषानुवाद आदि। शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९४.

(अ) पारमेश्वरागम—(वीरशैव) भाषानुवाद, टिप्पणी, प्रस्तावना । शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९५.

(अ) उत्तरषट्क—(त्रिपुरा तन्त्र), कुलदीपिका नामक व्याख्या के साथ। सं.सं.वि.वि., वाराणसी, सन् १९९५.

(अ) निगमागमीय संस्कृति-दर्शन—निगमागम दर्शन, संस्कृति-साहित्य और विचारविप्रुषः (बिन्दु) से संबद्ध ७७ संस्कृत निबन्धों तथा टिप्पणियों का संग्रह। शो. प्र. ग्रन्थमाला, जंगमवाड़ी, वाराणसी, सन् १९९५.

(स) भारतीय तन्त्रशास्त्र—(कार्यशाला का विवरण)। दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधयोजना, केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९९५.

(स) ज्ञानदीपविमर्शिनी—(त्रिपुरापद्धति), विद्यानन्द विरचित, परिशिष्ट आदि से संयुक्त। शो. प्र. ग्रन्थ माला, जंगम., वाराणसी सन् १९९६ .

(स) सिद्धान्तप्रकाशिका—(सिद्धान्त शैव) सर्वात्मशंभु विरचित, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९६.

(स) संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास—तन्त्रागम विषयक एकादश खण्ड, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, सन् १९९७.

(र) भारतीय संस्कृति के नये आयाम—लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली, सन् १९९७.

(र) वैष्णवागमविमर्श—वैखानस, पांचरात्र और भागवत आगमों का परिचय, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, सन् १९९७.

(स) सिद्धान्तसारावलि—(सिद्धान्त शैव) त्रिलोचन शिवाचार्य विरचित, व्याख्या-भाष्य-विस्तृत प्रस्तावना-परिशिष्ट सहित, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९८.

(र) भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, शाक्त दर्शन—(तृतीय खण्ड)। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय (शिक्षा विभाग), भारत सरकार, नई दिल्ली, सन् १९९९.

(स) गुरुगीता, गुरुपादुकापंचक सहित—श्लोकानुवाद, भाषाभाष्य, परिशिष्ट से संवलित, शै.भा. शो. प्र. जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् १९९९.

(स) देवीकालोत्तरागम—(वीरशैव), निरंजनसिद्ध विरचित वृत्ति-भाषानुवाद परिशिष्ट सहित, शै. भा. शो. प्र., जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् २०००.

(स) सिद्धान्तशिखामणिमीमांसा—(शास्त्रसंगोष्ठी विवरण), शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् २०००.

(र) तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन—(दो खण्ड)। वैष्णव-शैव-शाक्त-बौद्ध-जैन-स्मार्त नामक तन्त्रागम शास्त्र की छः शाखाओं का ऐतिहासिक-दार्शनिक-सांस्कृतिक विश्लेषण। शै. भा. शो. प्र., जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी सन् २०००-२००१.

(र) भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप—नैगमिक-आगमिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक विश्लेषण परक ३८ निबन्धों का संग्रह, शै.भा. शो. प्र. जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी, सन् २००१.

(स) वातुलशुद्धाख्य तन्त्र—(वीरशैव), भाषाभाष्य-प्रस्तावना-परिशिष्ट संवलित, शै. भा. शो. प्र. जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी सन् २००२.

देश एवं विदेश के विद्वानों की संमतियाँ

(सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के) योगतन्त्र विभाग में कार्य कर रहे या इसको छोड़कर गये हुए सभी व्यक्तियों में ये (पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी) ही एकमात्र व्यक्ति हैं, जिनमें कि मेरे अनुसंधान सम्बन्धी दृष्टिकोण को सही रूप में समझने और उसको उचित पद्धति से कार्यान्वित करने की पूर्ण क्षमता है। इतना ही नहीं, मेरी दृष्टि में योगतन्त्र और आगम विषय पर कार्य कर रहे नई पीढ़ी के विद्वानों में ये योग्यतम व्यक्ति हैं।

महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज
वाराणसी, २७-९-१९७०

मैंने ग्रन्थ (नित्याषोडशिकार्णव) आद्योपान्त पढ़ लिया है और आपके परिश्रम से बड़ा प्रभावित हुआ। ऐसे सामग्री और ऐसी भूमिका किसी पुस्तक में कभी नहीं देखी थी।

लेफ्टिनेन्ट गवर्नर डॉ० आदित्यनाथ झा
दिल्ली, १ अप्रैल १९७०

ग्रन्थ (विज्ञानभैरव) के उपोद्घात में व्रजवल्लभ द्विवेदी ने आधुनिकता से ओत-प्रोत एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि किसी समय तान्त्रिक धर्म ने भारतीय संस्कृति को बुलन्दी पर पहुँचाया था। ···लेखक का आग्रह है कि गांधीवादी अथवा समाजवादी दर्शन में किसी योगविधि को नहीं अपनाया गया है, इसीलिये आज वे दिग्भ्रान्त हैं, रुग्ण हैं। भारतीय जनता तन और मन से बीमार है। आवश्यकता है योगशास्त्र के उपचार की। योगवासिष्ठ और विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थ इस अभाव को पूरी ईमानदारी से पूरा कर सकते हैं।

आकाशवाणी, रायपुर

.... The introduction (to *Nityāṣoḍaśikārṇava*) is highly interesting piece of original research work (by Professor Vrajavallabha Dwivedi) in a field hardly accessible to modern academic scholarship....

Mahāmahopādhyāya Pt. Gopinātha Kavirāja
Varanasi, 7 September, 1968

....Recent instances of a correct procedure in dealing with the written sources of Hindu Tantrism of the Śākta denomination are Carlstedt's studies on the KT-regrettably written in Swedish-and in another way, Dwivedi's edition of, and Sanskrit introduction into, the NST *(Nityāṣoḍaśikārṇava Tantra)* very useful.

Hindu Tantrism, p.4
Leiden : E. J. Brill, 1979

....Prof. Dwivedi, a well-known scholar and adept in the field of Tantraśāstra, has very successfully done well justice to this Tantra (*Śaktisaṅgama Tantra*) in his learned introduction....

A. N. Jāni
Director, Oriental Institute, Baroda
21 February, 1978

....In editing such rare text *(Vijñānabhairava)* painstakingly Pt. Dwivedi deserves special mention. His wide range of knowledge in the fields of Yoga and Tantra has made such a comparative estimate of the Śaiva-āgama text possible. The editor has shown his openmindedness. Undoubtedly, the present edition of the *Vijñānabhairava* has been a search light for an inquisitive mind.

N.K. Bose Memorial Foundation Newsletter
2 June, 1979

....Many of the important works on Yoga-Tantra produced by Sri Dwivedi are testimony to his sound grasp of the system. The present work (*Vijñānabhairava*) only adds on more feather to his cap.

Rtam
Lucknow

....This excellent edition (of Nityāṣoḍaśikārṇava, ed. by Vrajavallabha Dwivedi) is preceded by masterful introduction in Sanskrit which offers a succinct survey of the whole Tantric tradition.

Hindu Tantric Literature in Sanskrit (P. 60),
by T. Goudriaan (Holland).

....It (Sātvata-samhitā) is a contribution to scholarship of which you (Vrajavallabha Dwivedi) may be justly proud, and for which you will be remembered.

H. Daniel Smith
Professor of Religion
Syracuse University, New York

What is at present required from scholars of Tantrism is, in my opinion, the close study of single schools, on the basis of the published texts (where they exist) and, above all, the difficult work of editing what is preserved in manuscript form. Exemplary in this respect is the valuable work of Prof. Vrajavallabha Dwivedi, ex-Head of the Department of Yogatantra at the Sanskrit University of Varanasi, author of many editions of Tantric texts often accompanied by important introduction, capable as few others of moving with equal authority among the most diverse schools.

East and West, Roma
Vol. 33. 1983

....One should add that his numerous papers, and still more the excellent critical editions, he has made of such important texts as the Nityāśoḍaśikārṇava, the Śaktisaṅgamatantra, part 4, the Śātvatasaṁhitā, and, most recently, the second volume of Luptāgamasaṅgraha (to mention only these four), together with the very learned and informative introductions in Sanskrit he wrote for these editions, are outstanding contributions to the domain of tantric studies.

Shree Vraj Vallabha Dwivedi is thus very well known, and very highly appreciated as a scholar in French indological circles (as well as, I happen to know, in corresponding circles in Great Britain, Germany and Holland.)

(Dr.) Andre Padoux

Director of Research in the

French Sentonal Centre for Scientific Research–10.2.84

....Both Prof. Gnoli (formerly my teacher and now my colleague in the University of Rome) and I hold you in high esteem, as the best authority in the field of Tantric studies.

Dr. Raffable Torella

Universita, Degli Studi Di Roma La Sapienza,

Dipartimento Di Studi Orientali,

Facolta' Di Littere E Filosofia, 12-3-84

प्राप्त पुरस्कार

पुरस्कार योजना समिति, उत्तरप्रदेश, लखनऊ

प्रमाणित किया जाता है कि श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी को वर्ष १९६९-७० में उनकी रचना 'नित्याषोडशिकार्णवः' पर १५०० रुपये का कालिदास पुरस्कार प्रदान किया जाता है।

लखनऊ **राजाराम शास्त्री**

दिनांक जुलाई २८-१९७० अध्यक्ष

उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

संस्कृत-साहित्य-पुरस्कारः

१९८७ ईसवीये वर्षे प्रकाशिता 'विज्ञानभैरवम्' कृतिः अधिकारिविद्वद्भिः पुरस्कारयोग्या घोषिता इति तल्लेखकं 'श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी' इति विद्वांसं त्रिसहस्ररूप्यकाणां पुरस्कारेण सहर्षं सभाजयति ।

विनोदचन्द्र पाण्डेयः **करुणापति त्रिपाठी**

निदेशकः अध्यक्षः

१९८२ ईसवीयवर्षे प्रकाशिता 'तन्त्रयात्रा' कृतिर् अधिकारिविद्वद्भिः पुरस्कारयोग्या घोषिता इति तल्लेखकं श्रीव्रजवल्लभद्विवेदिनं विद्वांसम् एकसहस्ररूप्यकाणां पुरस्कारेण अकादमी सहर्षं सभाजयति ।

धर्मनारायणः (त्रिपाठी) **करुणापति त्रिपाठी**

निदेशकः अध्यक्षः

१९८३ ईसवीये वर्षे प्रकाशिता 'लुप्तागमसंग्रहः' (द्वितीयो भागः) इति कृतिर् अधिकारिविद्वद्भिः पुरस्कारयोग्या घोषिता इति तल्लेखकं श्रीव्रजवल्लभद्विवेदि-महोदयं विद्वांसं द्विसहस्ररूप्यकाणां पुरस्कारेण अकादमी सहर्षं सभाजयति ।

धर्मनारायणः (त्रिपाठी) **करुणापति त्रिपाठी**

निदेशकः अध्यक्षः

विशिष्टः संस्कृत-साहित्य-पुरस्कारः

वै. २०४३ (१९८६ ई.) वर्षीयः

आचार्यश्रीव्रजवल्लभद्विवेदिनाम्ने विदुषे संस्कृतभाषासाहित्ययोस्तदीयाऽऽजीवनमहनीयसेवायाः सम्माने पञ्चविंशतिसहस्ररूप्यकाणां विशिष्टं पुरस्कारं सादरमुपहरति।

मधुकरद्विवेदी — **करुणापति त्रिपाठी**

निदेशकः — वैक्रमाब्दे २०४५ (१९८८ ई.) — अध्यक्षः

राजस्थानशासनम्, शिक्षाविभागः

इदं राज्यस्तरीयपुरस्कारप्रशस्तिपत्रं श्रीमते व्रजवल्लभद्विवेदिमहोदयाय संस्कृतशिक्षाक्षेत्रे प्रशंसनीयलोकसेवायै सम्मानार्थं शासनेन प्रदीयते।

संस्कृतदिवसः, १९८७ — **शासनसचिवः**

जयपुरम् — राजस्थानशासकीयः

राष्ट्रपति-पुरस्कारः

सत्यमेव जयते

अहं भारतस्य राष्ट्रपतिः डॉ. शंकरदयालशर्मा श्रीव्रजवल्लभद्विवेदिमहोदयाय संस्कृतवाङ्मये पाण्डित्याय शास्त्रे च वैशारद्याय प्रमाणपत्रमेतत् प्रददामि ।

शंकरदयाल शर्मा

नई दिल्ली, ११ मई, १९९३ — राष्ट्रपतिः

महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन, उदयपुर

प्रशस्तिका

श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी भारतीय परिवेश में योग एवं तन्त्र के क्षेत्र में जनचेतनार्थ उनकी स्थायी मूल्य की सेवाओं के उपलक्ष्य में महाराणा मेवाड़ फाउण्डेशन हारीतराशि संमान से सम्मानित ।

अरविन्दसिंह मेवाड़

उदयपुर

चेयरमैन

दि.१६ अप्रैल, १९९५

श्रीवैदिकसंस्कृतिप्रचारसंघः, जयपुरम्

श्रीमन्तः पं. श्रीव्रजवल्लभद्विवेदिमहोदया मीमांसाशास्त्रविषयकवैदुष्योपलक्ष्ये "मीमांसाकेशरी" इत्युपाधिना सहर्षं सत्क्रियन्ते ।

ऋषिपञ्चमी सं. २०५३ **डॉ. मण्डनमिश्रः, अध्यक्षः**
दि. १७-९-९६ ई. जयपुरम् (राजस्थानम्)

सम्मानपत्रम्

भारतकेन्द्रियशासनेन समुद्घोषिते संस्कृतवर्षे (१९९९-२००० ई., ५१०१ युगाब्दे) संस्कृतशेमुषीवृद्धये विशिष्टावदानाय विश्वविद्यालयोऽयं तत्रभवतः प्रो. व्रजवल्लभद्विवेदिमहोदयान् सादरं सम्मानयतीति ।

वाराणस्याम् **प्रो. राममूर्तिशर्मा**
कार्तिकशुक्लैकादश्याम्, २०५६ तमे वैक्रमाब्दे कुलपतिः
(१९ नवम्बर, १९९९ दिनाङ्के)

श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनम्, जङ्गमवाड़ीमठः, वाराणसी

श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्य-विश्वभारतीपुरस्कारः

वै. २०५४ (१९९८ ई.) वर्षीयः

आचार्यश्रीव्रजवल्लभद्विवेदिनाम्ने बिदुषे संस्कृतभाषाया विविधशैवागमानां च तदीयाऽऽजीवनमहनीयसेवायाः संमाने एकोत्तरपञ्चविंशतिसहस्ररूप्यकाणां श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यविश्वभारतीपुरस्कारं सादरमपहरन्ति ।

महाशिवरात्रिः, २०५४ वि. **अध्यक्षाः**
जङ्गमवाड़ीमठः, वाराणसी श्री १००८ जगद्गुरुचन्द्रशेखरशिवाचार्य-
महास्वामिनः श्रीजगद्गुरुविश्वाराध्यज्ञानसिंहासनाधीश्वराः

हमारे अन्य प्रकाशन

१. **लिङ्गधारणचन्द्रिका**— (हिन्दी-भाषानुवादसहिता) रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

२. **सिद्धान्तशिखामणिः**— तत्त्वप्रदीपिकाख्यसंस्कृतव्याख्यासहितः (मराठी-भाषानुवाद-सहितश्च) रु० २००.००
संपा० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

३. **ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम्**— (चतुःसूत्री) अप्पय्यदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिका (संस्कृत-टीकासहितम्) रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

४. **वीरशैव अष्टावरण विज्ञान**— (हिन्दी और मराठी) रु० ५०.००
डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

५. **सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा**— *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी* रु० २००.००

६. **निगमागम संस्कृति**— (हिन्दी) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० २००.००

७. **सूक्ष्मागमः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

८. **चन्द्रज्ञानागमः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० २००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

९. **मकुटागमः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० १२५.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१०. **कारणागमः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० १७५.००
संपा० प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय

११. **निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्**— (संस्कृत) रु० ३००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१२. **पारमेश्वरागमः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० ३५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१३. **ईशावास्योपनिषद्**— (वीरशैवभाष्यसहिता) रु० १५०.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१४. **केनोपनिषद्**— (वीरशैवभाष्यसहिता) रु० २००.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१५. **सिद्धान्तप्रकाशिका**— (हिन्दी-भाषानुवादसहिता) रु० १००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१६. **शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः**— (संस्कृत) रु० ३००.००
ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

१७. **अनुभवसूत्रम्**— *संपा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर* रु० २००.००

१८. **सिद्धान्तशिखोपनिषद्**— (वीरशैवभाष्यसहिता) रु० ३५०.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१९. **ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः**— *संपा० डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी* रु० २५०.००

२०. **सिद्धान्तसारावलिः**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० ५५०.००

२१. **श्रीगुरुगीता**— (भाषा-भाष्यसहिता) रु० २००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

२२. **शिवाद्वैतदर्पणः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० १५०.००
प्रो० देवस्वरूप मिश्र

२३. **सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० ३५०.००

२४. **देवीकालोत्तरागमः**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० १५०.००

२५. **ऋग्वेदीयप्रथममण्डलस्य सायण-वेङ्कटमाधवभाष्ययोस्तुलनात्मक-मध्ययनम्** — (संस्कृत) *डॉ० प्रमोदिनी पंडा* रु० ४००.००

२६. **तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन** (दो खण्ड) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० १२००.००

२७. **साम्ययोगमीमांसा**— *प्रो० मुकुटबिहारी लाल* रु० ३५०.००

२८. **संस्कृत में वीरशैव साहित्य**— *श्री षण्मुखैया अक्कूरमठ* रु० १५०.००

२९. **Candrajnanagama** (English Translation) रु० ३००.००
Dr. Rama Ghose

३०. **Makutagama** (English Translation) रु० १७५.००
Dr. Rama Ghose

३१. **Paramesvaragama** (English Translation) रु० ४००.००
Dr. Rama Ghose

शैवभारती शोध-प्रतिष्ठानम्

डी० ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ, वाराणसी

फोन नं. (0542) 450546